इकहत्तर कहानियाँ



हिमांशु जोशी

इकहत्तर कहानियाँ

हिमांशु जोशी



साहित्य भारती

कथा तीरे

एक

आज जब पीछे मुड़कर कभी देखता हूं तो सच नहीं लगता। लगता है जेसे पचास साल लम्बी यात्रा कल ही तो शुरू हुई थी और आज पांच दशक भी पूरे हो गए!

ऐसा भी कहीं होता है?

ऐसा भी कहीं हुआ करता हे कि केवल एक ही दिन में पचास साल लम्बा वक्त गुजर जाए?

हां, कभी-कभी हर असम्भव सम्भव हो जाता है, और हर सम्भव असम्भव।

सम्भव और असम्भव के बीच झूलती यह उसी की कहानी है।

मैं आज की नहीं, अतीत की बातें कर रहा हूं। तब भी तो वह ऐसा ही था। कुछ-कुछ इसी तरह का। सीधा-सादा...। अन्तर्मुखी...अपने में लीन... वेहद संकोची...किसी हद तक शर्मीला...नासमझ। संयुक्त परिवार में पितृहीन शिशु की जो त्रासदी होती हे, कुछ-कुछ वैसी ही उसकी भी थी। सब-कुछ होते हुए भी कुछ न होने का और कुछ न होते हुए भी सब-कुछ होने का अहसास।

कहते हैं, अभी वह सात साल का भी न था कि सिर से पिता का साया उठ गया। वे स्वाधीनता-संग्राम में थे। गांधीजी का अलख जगाते-जगाते वे स्वयं ही चिरनिद्रा में लीन हो गए थे कहीं!

और तब एक सम्पन्न परिवार देखते-देखते विपन्न! हो गया! सारा सुख-वैभव अतीत का स्वप्न बनकर रह गया!

कभी-कभी अभिशाप भी किस तरह से वरदान के कारण बन जाते हैं, और वरदान भी अभिशाप के, मैं वही कुछ कहने जा रहा हूं! लेकिन उससे पहले—

जीवन में कुछ करना, उसकी नियति है शायद—उसे कभी-कभी अहसास

होता तो उसके हाथ अपने आप छटपटाने लगते। चित्रकला का बेहद शौक था। पुस्तकें पढ़ना, या घण्टों अकेले में बेठे रहना भी अच्छा लगता था। कभी-कभी एकान्त के क्षणों में कागज काले कर लिया करता। क्या लिखता है? क्यों? उसे पता न था। फिर भी वह लिखता था। क्योंकि लिखना उसे अच्छा लगता था।

अभी वह निचली सीढ़ी पर ही था, यानी पुस्तक के पन्ने पलटना सीख ही रहा था, कि कभी-कभी उल्टी-सीधी तुकबंदियां भी कर लेता था।

उम्र के साथ-साथ धीरे-धीरे यह मर्ज़ भी बढ़ने लगा था। अभी उसका कद कुछ ही बढ़ा था कि तुकबंदियों की पंक्तियां भी उसके साथ-साथ लम्बी खिंचने लगीं। परीक्षा के क्षणों में भी उसे कविता सूझने लगी। एक प्रकार का यह पागलपन बहुत अर्से तक घेरे रहा उसे।

नेनीताल में, अध्ययन के दिनों में अध्यापक जब नोट्स लिखवा रहे होते, वह सबसे पिछली सीट पर, गर्दन झुकाए बैठा, कविता लिख रहा होता। कई बार दण्ड भी मिला, पर आदत थी कि छूटने का नाम न ले रही थी।

समय हर रोग की दवा है न! अतः इस रोग का निदान भी समय स्वतः निकालने लगा। दूसरे नशों की तरह धीरे-धीरे यह नशा भी उतरने लगा। किन्तु इस उन्माद से अभी भली-भाति मुक्ति मिल भी न पाई थी कि एक और फितूर उस पर सवार होने लगा। हर क्षण उसके मस्तिष्क में कहानी का कोई-न-कोई ऊल-जलूल प्लाट घूमने लगा।

लिखने का जो सिलसिला तव शुरू हुआ, वह किसी न किसी रूप में आज तक चल रहा है। डॉक्टर कहते हैं कि इस मर्ज का दुनिया में कोई इलाज नही।

दो

सचमुच में उसके घोर संकट के दिन थे वे! अग्नि-दीक्षा के।

जीवन-मृत्यु के झूले में झूल रहा था वह।

दिल्ली की धूल-भरी तपती सड़कों पर वावला-सा भटक रहा था। बर्फीली, शीतल पहाड़ी धरनी से उठकर आया था वह, गर्मी में सिंकते इस जलते भाड़ में। चारों ओर जेसे आग बरस रही हो!

एक अनजान, अपरिचित महानगर! नहीं, नहीं, नीम पागलों की एक अन्तहीन बस्ती। आदमी ही आदमी। मकान ही मकान। इन आदमियां और मकानों के मिले-जुले जंगल में वह कहीं खो गया था। दिन-रात इन भीड़-भरी सड़कों पर भटककर कहीं वह अपने को ही खोज रहा था।

न ढंग से सिर छिपाने के लिए ठौर! न दो रोटियों का जुगाड़।

स्वयं पर-आश्रित होने पर भी अपने पर आश्रितों का अदृश्य वोझ! कर्त्तव्य-हीनता या पलायन का अपराधबोध! वह कहीं भीतर-ही-भीतर छटपटा रहा था।

पर इस सबके बावजूद एक प्रकार का गहरा जुनून छाया हुआ था। उसमें। जीवन में कुछ कर गुजरने की तमन्ना!

इस घटाटोप अंधियारे में कहीं कुछ अदृश्य उजास की किरणें थीं। सवेरे का एक भ्रम कहीं खींचे ले जा रहा था उसे।

सवेरा न हो, केवल रात ही रात हो, यह कैसे हो सकता है!

दिन-भर का हारा-थका, रात को अपने किसी रिश्तेदार के एक कमरे के 'घर' में लौटता तो गहरा अंधियारा उसकी राह देख रहा होता। रिश्तेदार मिल मे मजदूर था। अकेला था, अक्सर रात की पाली में वाहर रहता था। इसलिए इस चारपाई-भर लम्बे कमरे में सांस ले पाना सम्भव हो पाता था।

दिल्ली के एक छोर मे बसी अनधिकृत गंदी बस्ती—वाग कड़े खां। बित्तेभर की ठौर! केवल अधउखड़ा-सा टूटे फट्टे का एक झूलता हुआ दरवाजा, जिसमें धूप, हवा, धूल, धुआं ही नहीं, वर्षा की बोछारों का पानी भी आराम से आर-पार हो जाता। जिस दिन रिश्तेदार की रात की ड्यूटी न होती, रिश्तेदार चारपाई पर सोता और वह चारपाई के पाए के पास थोड़ी-सी जगह में पांव सिकोड़ अपने बिस्तर पर पड़ा रात गुजार देता। ऐसे में कभी बारिश हो जाती तो सुबह उठने पर लगता जैसे अभी-अभी किसी तालाब से उठकर आ रहा हो।

इतना सब होने पर भी उसे यह एकान्त, यह उमस-भरा अंधियारा कमरा बहुत अच्छा लगता। क्योंकि रात को पढ़ने-लिखने का कुछ अवसर मिल जाता था यहां।

रूखा-सूखा कुछ चबाकर, हेंडपम्प का ढेर सारा ठंडा पानी पीता। चारपाई के नीचे रखे छोटे-से, रीते गोल ड्रम को खड़ा करता, उसके ऊपर अपना टिन का चौकोर पुराना बक्सा जमाकर, मेज का आकार दे देता। बैठने के लिए कुर्सी तो थी नहीं। इसलिए चारपाई की बांस की पाटी पर बैठ जाता और तमाम कागज-पत्तर फैलाकर लिखने लगता।

एक-एक कहानी कई-कई बार लिखता। जब तक सन्तोष न हो, लिखता रहता। एक-एक शब्द साफ, मोती-सा होना चाहिए, उसकी तब की धारणा आज तक ज्यों-की-त्यों बनी है।

कितनी रातें इसी तरह जाग-जागकर वह बिता देता था!

पर उसका इस तरह जागना, जाग-जागकर लिखना, उसके मकान मालिक को रास न आ पा रहा था। उसका धंधा दूध बेचने का था। बाहर-भीतर भैंसें,

ही भैंसें। उसका कहना था कि इस तरह रात-भर बिजली जलते रहने के कारण, उसकी भैंसें आराम की नींद सो नहीं पाती हैं, इसलिए दूध कम दे रही हैं।

भैंसों का इस तरह सो न पाना, जागते रहना और दूध कम देना, उसके मन में एक प्रकार की ग्लानि का भाव पैदा कर रहा था। उस पर मकान मालिक का यह कहना कि कमरा उसने एक छड़े के रहने के लिए दिया है, फिर दो के रहने का क्या औचित्य?

ये सारे तर्क उसे अपनी जगह ठीक लग रहे थे।

पर दिन-भर वह मारा-मारा यों न भटके, रात-भर जाग-जागकर यों न लिखे तो क्या करे! किनारा कहीं भी नज़र न आ रहा था।

तीन

एक ट्यूशन! मात्र एक महीने के लिए! कितने मिलेंगे, इसका भी भरोसा नहीं।

खाना, पीना, रहना--सब मित्र के मत्थे!

दिन किसी तरह बीत रहे थे। कहानियां लिखते-लिखते कहीं स्वयं भी वह कहानी का पात्र बन रहा था---दुःख इस बात का था।

भीषण गर्मी के दिन!

कहां किशनगंज का बाग कड़े खां, कहां तेरह-चौदह मील दूर दरियागँज! एक ट्यूशन के लिए दिल्ली के एक छोर से दूसरे छोर तक की पदयात्रा! सारा समय यों ही निकल जाता।

यों किशनगंज से पुरानी दिल्ली रेलवे-स्टेशन तक का रेल का टिकट एक आने का होता था, पर यह भी कोई थोड़ी-सी रकम थी क्या ?

'आकाशवाणी' में ऑडीशन था उस दिन। सोचा दरियागंज से ही होकर चला जाए! एक दिन फैज़ बाजार की सड़क पर भटकते-भटकते जैनेन्द्रजी की नेम-प्लेट दिखलाई दी थी। उसने सोचा, उनसे भी मिल लिया जाए। किसी से कम तो उसने अपने को कभी समझा नहीं, भले ही अभी तक कुछ छपा न था।

जैनेन्द्रजी दिन में अपने कार्यालय 'ऋषि-भवन' में बैठते थे।

वह मिला। कुछ औपचारिक-सी बातें हुई, तालस्ताय और रोम्या रोलां के जीवन-दर्शन की। जब वह जाने के लिए उठा तो उसके हाथ में बेलन की तरह लिपटे कागजों को देखकर जैनेन्द्रजी ने यों ही पूछा, 'यह क्या लिखा है?'

'जी, कुछ...नहीं, ऐसे ही...कल रात खाली बैठे-बैठे लिख रहा था...।'

'कहानी है?'

वह यों ही हंस पड़ा, 'कहानी-वहानी नहीं, ऐसे ही...!'

जैनेन्द्रजी ने उसे पढ़ा।

'भई, कहानी तो वाकई अच्छी है। 'नवभारत टाइम्स' का ऑफिस देखा है? यहीं पास ही है। अक्षय को दे आओ। कहना कि वह मुझे फोन कर ले।'

अक्षयजी के कमरे में कहानी तो चपरासी के मार्फत उसने भिजवा दी, पर यह कहना गवारा न लगा कि इसे जैनेन्द्रजी ने भिजवाया है।

उसकी मान्यताएं आरम्भ से ही कुछ विचित्र-सी रही हैं। इसे उसका स्वाभिमान भी कह सकते हैं, जन्मजात अहं भी। लेखन में यह सब उसे कभी जंचा नहीं। जिस आदमी में आत्माभिमान ही न हो, वह लिखेगा क्या...?

शायद इसीलिए उसने कभी किसी बड़े लेखक से अपनी किसी पुस्तक की भूमिका नहीं लिखवाई। न किसी की राय को फ्लैप पर छापने की आवश्यकता ही अनुभव की और न किसी तरह के प्रमाण-पत्रों या सम्मान-पत्रों को महत्त्व दिया! न उन्हें संवारकर ही रखा।

आज भी किसी मित्र के घर की दीवारों पर 'पद्मश्री,' 'पद्मभूषण' या किन्हीं प्रशस्ति-पत्रों को फ्रेम में मढ़ा देखकर उसे आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता! लेखक को भी क्या इस तरह की सनदों की आवश्यकता होती है?

चार

एक दिन! रविवार की सुबह-सुबह !

डेरे के पास ही खोखे पर चाय पीने पहुंचा तो देखा—चील के पंखों की तरह, काठ की मेली-सी मेज पर, भिनभिनाती मक्खियों के बीच आज का ताजा दैनिक-पत्र बिखरा पड़ा है। उसमें, उसकी वही कहानी छपी है।

यह पहली प्रकाशित कहानी थी उसकी!

वर्ष था—1956।

उस दिन उसके पास केवल इतने ही पैसे थे कि या तो वह एक प्रति समाचार-पत्र की खरीद ले अथवा एक प्याला चाय पी ले!

पास की दुकान से वह समाचार-पत्र खरीदता है, और बिना चाय पिए ही डेरे पर लौट आता है।

आज कभी-कभी अतीत की ओर झांकता है तो लगता है, इतना लम्बा समय इस छोटी-सी जिन्दगी में कुछ कम तो नहीं होता! न जाने एक साथ कितने-कितने जीवन जिए उसने! सुख और दुःख—दोनों को ही परखा। दोनों की ही पराकाष्ठा को देखा। सुख को भी कभी-कभी दुःख का कारण बनते पाया

और दुःख के मूल में भी कहीं कोई सुख! कालान्तर में, कौन किसका निमित्त बनता है, इसका गणित कोई आसान तो नहीं !

यदि उसके जीवन में इतने उतार-चढ़ाव न आए होते तो कहानियों में इतने विविध रंग कहां से उभरते? अनुभूति और संवेदना की ये प्रतिच्छायाएं कहां से झलकतीं? अभिशाप भी कभी-कभी यों वरदान बन जाते हैं—अनायास।

हर विपत्ति कुछ-न-कुछ दे जाती है। उसका हमेशा का अपना अनुभव है।

उपेक्षा क्या होती है? शोषण किसे कहते हैं? आदमी कितने स्तरों पर, कितने रूपों, कितने रंगों में जीने के लिए विवश होता है? अपनापन किसे कहते हैं? पराएपन का दंश कितना गहरा होता है? ये सब उसे अपने ही अनुभवों के अंश लगते हैं। शायद इस सबके मूल में, यह कारण रहा हो कि हर दुःखी का दुःख इसीलिए आज उसे कहीं अपना ही दुःख लगता है। हर किसी की पीड़ा उसे आहत करती है। उसे लगता है, उसके पात्र उसके सामने खड़े हैं और अपनी व्यथा स्वयं व्यक्त कर रहे हैं।

जब-जब वह उनके दुःखों का वर्णन करता है, उसे लगता है, जैसे वह अपनी ही व्यथा को वाणी दे रहा है! इसलिए ये कहानियां उसे कहानियां नहीं लगतीं, देखे हुए यथार्थ के अंश जैसे लगते हैं।

पांच

पहली कहानी के बाद जो सिलसिला शुरू हुआ, वह चलता रहा। उस वर्ष दिल्ली में आयोजित 'कथा-प्रतियोगिता' में उसकी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला। दूसरे वर्ष भी उसकी कहानी को वही सम्मान प्राप्त हुआ। तीसरे वर्ष भी उससे कहानी भेजने के लिए कहा गया, पर उसने भेजी नहीं। जान-बूझकर कतराया! एक ही आदमी हर साल पुरस्कार लेता चला जाए—यह भी कोई बात है!

लिखने और छपने के मामले में वह सदा सौभाग्यशाली रहा। मान-सम्मान भी अनायास ही मिलते रहे। 1965 में पहला कहानी-संग्रह 'अन्ततः' आया। अब तक जिसके दस-बारह संस्करण हो गए होंगे।

उसी वर्ष पहला उपन्यास 'अरण्य' भी प्रकाशित हुआ, जिसे 'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' का 'प्रेमचन्द पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

'रथचक्र', 'मनुष्य-चिह्न', 'जलते हुए डैने', 'तपस्या तथा अन्य कहानियां', 'गंधर्व-गाथा' आदि कई कहानी-संग्रह आए। ऐसी शायद ही कोई पुस्तक हो, जिसके अनेक संस्करण न हुए हों। शायद ही कोई भारतीय भाषा हो, जिसमें

रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित न हुए हों। अंग्रेजी, नेपाली, बर्मी, चीनी, जापानी, कोरियाई, चेक, स्लाव, नार्वेजियन, इतालियन आदि में भी कुछ कहानियां रूपान्तरित होकर आईं। कुछ कहानियां पर फिल्में बनीं। कुछ के रेडियो-रूपान्तर प्रसारित हुए। कुछ मंचों पर खेली गईं। कुछ पाठ्यक्रमों में लगीं, पुरस्कृत भी हुईं, परन्तु हर क्षण उसे यही अहसास होता रहा कि अभी ऐसा कुछ लिखा ही कहां गया है ! यह तो लोगों का स्नेह भर है। उनकी उदारता। इसमें उसका क्या।

लिखना उसके लिए और कुछ नहीं, मात्र अपनी यंत्रणाओं से अपनी मुक्ति का माध्यम है। वह न लिखे तो जी नहीं सकता। इसलिए फिर क्या करे?

हां, अपने पात्रों को उसने कभी भी अपने से भिन्न नहीं माना। उनकी हंसी में वह स्वयं हंसा, उनके दुःख में उनके साथ-साथ वह स्वयं भी दुःखी हुआ। किसी पात्र की मृत्यु उसमें कहीं अपनी मौत का अहसास जगाती रही। अपनी पहली कहानी का वाकया उसे हमेशा याद रहा। कभी भी उसे भूल न पाया।

पहली कहानी जब छपी, तो उसके एक अभिन्न मित्र ने हताश स्वर में कहा, 'जब से मेरी रुग्ण पत्नी ने आपकी यह कहानी पढ़ी, जीने की आस ही छोड़ दी है। उसके मन के किसी कोने में, टूटे कांटे की अनी की तरह, यह भावना घर कर गई है कि उसके साथ भी सब-कुछ वैसा ही घटित होगा, जैसा कहानी के पात्र के साथ हुआ था...।'

च...च्च...! यह क्या?

वह जैसे आसमान से औंधे मुंह सीधे धरती पर गिर पड़ा।

ऐसा दुष्प्रभाव भी कहानी का हो सकता है, उसने कल्पना नहीं की थी।

उसने बहुतेरा समझाया कि कहानी को इसीलिए कहानी कहते हैं क्योंकि वह मात्र कहानी होती है, इसलिए उसमें घटी घटनाओं को अपने जीवन में घटित होने की कल्पना क्या कहीं विवेकपूर्ण मानी जा सकती है? लेखक अपनी कल्पना से जो भी लिखे वह किसी के जीवन में, उसी तरह, वैसा का वैसा कैसे घटित हो सकता है...?

वह ये सारे सही-सही तर्क तो अपनी ओर से रखता रहा, परन्तु पता नहीं क्यों भीतर-ही-भीतर कहीं उसे लगता रहा, जो वह कह रहा है, सब सच होते हुए भी, कहीं किंचित सच नहीं।...वास्तव में कहानी, इसीलिए कहानी कहलाती है कि वह कहानी होते हुए भी कहीं कहानी नहीं, सच भी होती है! इसलिए जो कहानी में घटित हुआ, वह कहीं और भी घटित क्यों नहीं हो सकता...! कहानी भी तो किसी सच पर ही आधारित होती है।

उस दिन से, उसने तय कर लिया कि कभी भी वह ऐसा कुछ नहीं लिखेगा,

जिससे व्यक्ति में हताशा या निराशा जागे। साहित्य का धर्म जीवन है, साहित्य का मर्म जिलाना है, मृत्यु नहीं।

पता नहीं, इस सत्य का कितना निर्वाह कर पाया!

छः

अपनी इस थोड़ी-बहुत यात्रा के पश्चात्, आज भी जब कभी वह लिखने बैठता है, उसे लगता है, जैसे पहली कहानी लिख रहा हो! वैसा ही भय, वैसा ही संशय! पता नही कैसी रहेगी! ठीक-ठीक लिखी भी जाएगी या नहीं!

अनेक कथा-आन्दोलनों को निकट से देखा। शहरों की पृष्ठभूमि पर लिखा तो थोड़ा-बहुत गांव और कस्बों के जन-जीवन पर भी। मानवीय सम्बन्धों को महत्त्व दिया, तो उल्टे-सीधे कथा-प्रयोग भी कुछ कम नहीं किए। निगूढ़ यानी ऐब्स्ट्रेक्ट कहानियों से जुड़ा रहा तो फन्तासी पर आधारित कथाएं भी लिखने से बाज न आया।

सचमुच अपने को सौभाग्यशाली मानता है वह। अनेक संघर्षों के बावजूद जीवन में वह सब मिला उसे, जिसकी उसे आकांक्षा रही। पाठकों का असीमित स्नेह, उसके जीवन की अर्जित सबसे बड़ी पूंजी है। यों कहने-भर को कुछ कृतिया उसके खाते में अवश्य हैं, पुरन्तु सच-सच कहें तो सचमुच में वह जो लिखना चाहता था, उसे अभी लिखा ही कहां गया है! लगता है, जेसे अपना लेखकीय जीवन अभी-अभी तो उसने आरम्भ किया है। भूमिका तो अभी लिखी ही नहीं। पर उम्र के तीसरे पहर की यह ढलान! निरन्तर लम्बे होते सांझ के ये साए...!

वह अचकचाकर ठिठक पड़ता है।

आने वाले कल की उसे अधिक चिन्ता नहीं सताती, न बीते हुए कल का कोई क्लेश दुःख देता है! बुद्ध के क्षणवादी दर्शन में कुछ-कुछ आस्था रही है। इसीलिए अगले जन्म पर कुछ छोड़ने की आकांक्षा नहीं। अनेक कमियों-कमजोरियों के बावजूद, यह संसार उसे नितांत सुंदर लगता है! निरन्तर जीने योग्य। अक्सर सोचता है वह, काश, अपने कृत्यों से, अपनी कृतियों से, हम इसे कुछ और सुन्दर बना पाते !

7/सी-2, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स,
मयूर विहार, फेज़-एक, दिल्ली-110091

—हिमांशु जोशी

अनुक्रम

कथा तीरे (भूमिका)/7
अगला यथार्थ/19
सज़ा/28
किनारे के लोग/33
पाषाण-गाथा/45
काला दरिया/52
स्मृतियां/61
न जानना/69
एक समुद्र भी/78
छोटी 'इ'/86
लकीर-सी परछाई/93
बरस बीत गया/100
काला धुआं/109
झुका हुआ आकाश/117
आंखें/123
तलाश/136
जो घटित हुआ/143
स्मृति-चित्र/150
एक वट वृक्ष था/160
तरपन/169
समुद्र और सूर्य के बीच/182
अन्तराल/189
जलते हुए डैने/196

एक सुकरात और/203
मनुष्य-चिह्न/207
अहसास/219
यह सब 'अ'सम्भव है/226
फासला/231
आदमियों के जंगल में/235
भेड़िए/243
सीमा से कुछ ओर आगे/250
हंसा/256
हरे सूरज का देश/264
अनचाहे/270
नंगे पांवों के निशान/282
अथाह/297
किसी एक शहर में/303
सिमटा हुआ दुःख/311
दंशित/318
नई बात/326
आदमी : जमाने का/334
अन्ततः/344
स्वभाव/352
परिणति/366
सफेद सपने/379
एक पारमिता/391
रथ-चक्र/395
कोई एक मसीहा/400
देखे हुए दिन/408
रास्ता रुक गया है!/415
एक दिन/420
सुनन्दा/429
जीना-मरना/440
इति/445
बूंद पानी/461

अभाव/471
गन्धर्व-गाथा/483
वह/493
साए/498
अक्षांश/503
जड़ें/510
लिखे हुए शब्द/519
इस बार फिर बर्फ गिरी तो!/527
इस बार/532
सफेद सच/537
शेष प्रश्न/541
कुत्ता/546
जीने के लिए/550
कहानी की कहानी/556
तपस्या/561
अधेरा और/566
आश्रय/580

अगला यथार्थ

कितना कुछ नहीं था मन में, यहां आते समय? कितने भाव? कितने विचार! जो संतोष के साथ-साथ कहीं गहरे संताप के भी कारण थे—जिंदगी-भर नासूर की तरह रिसते हुए...

पर यहां आकर वह एक तरह से गूंगा-सा क्यों हो गया है?

अचरज-भरी निगाहों से वह चारों ओर देखता है—हर रोज उमड़ते-घुमड़ते काले घने बादलों को ! चारों दिशाओं में बिखरे जल, जल ही जल को। अब तक शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो, जब बादल न घिरे हों, न गरजे हों, न बरसे हों। थोड़ी-सी झड़ी के बाद फिर एकाएक साफ आसमान। धुली धरती। ठीक सिर पर टकराती चुभती हुई उजली धूप।

अथाह पानी में तैरती-सी हरियाली की हरी-हरी क्यारियां। दूर-दूर तक छिटके छोटे-छोटे द्वीप। सामने वाला रॉस तो ऐसा लगता, जैसे हाथ बढ़ाकर छू लेगा...

वह घंटों विस्फारित नेत्रों से इन्हें निहारता, न जाने क्या-क्या सोचता रहता है! परछाइयों की तरह कई आकृतियां उभरती-मिटती हैं। स्याह-सफेद, कई-कई चित्र!

निर्जन-से इन द्वीपों से उसे अजनबीपन के साथ-साथ, कहीं अपनेपन का कोई अदृश्य रिश्ता-सा भी लगता है। धरती के कण-कण से एक अव्यक्त गहरा आत्मभाव।

एक लंबी निःश्वास के साथ, वह आंखें मूंद लेता है।

सच, तब कितना भयानक होगा यहां का वातावरण। कल रात देर तक वह उस जेट्टी के पास खड़ा रहा, जहां कलकत्ता से आने वाले जलपोत रुका

करते थे। कभी ऐसे ही एक जहाज से...एक दिन...ऐसे ही...

जब तक दादी जिंदा थीं, बहकी-बहकी-सी कितनी बातें बतलाया करती थीं, जैसे आंखों देखा हाल सुना रही हों—कालापानी में आकाश को छूते भयानक जंगल होते हैं रे! जंगल ही जंगल। सांपों, बिच्छुओं, जहरीले कीड़े-मकोड़ों से भरे, जिनके काटे का आदमी पानी तक नहीं मांगता...वनों में खूंखार वन-मानुष। तीर-भाले चलाते हैं। आदमियों को भूनकर खा जाते हैं। बिछौने पर, छतों की शहतीरों पर रस्सी की तरह सांप सरकते रहते हैं। धूल के कणों की तरह बारीक सफेद चींटियां देखते-देखते हाथी भी हजम कर जाती हैं...

अनपढ़ दादी को, जो जिंदगी-भर अपने गांव से बाहर नहीं गईं, ये रोमांचक रहस्यपूर्ण बातें कहां से मालूम पड़ीं, पता नहीं। कहते हैं, पास के गांव का एक लड़का कभी भागकर कलकत्ता गया था। वहां पुलिस में भर्ती हो गया था। कैदियों को लाने-ले जाने के काम से दो-तीन बार कालापानी तक हो आया था। हो सकता है, लौटकर उसी ने सुनाई हों ये बातें।

दादी कभी-कभी स्वयं से बड़बड़ातीं, "नाश हो इनका! कहते हैं ये राकस गोरे, कैदियों की नंगी पीठों पर चाबुक मारते हैं। खाल उधेड़ देते हैं। शरीर लहूलुहान हो जाता है।...दिन-रात बरखा-घाम में भी काम, काम ही काम, पर खाने को दो रूखी रोटियां तक नहीं...तेरे दादाजी से तो भूख कतई बर्दाश्त नहीं होती थी, फिर वहां कैसे रह पाते होंगे, रे !" दादी उड़ी-उड़ी-सी आसमान की ओर ताकने लगतीं, "कहते हैं राकस टाट के चीथड़े पहनने को देते हैं। बीमार होने पर दवा नहीं, मरने पर दो लकड़ियां...हाथ-भर कफन नहीं...तेरे दादाजी उस सर्दी में कैसे रहते होंगे...?" दादी फटकर रो पड़तीं तो उन्हें समझाते, "वहां सर्दी नहीं पड़ती दादी, बारहों महीने खूब गरमी रहती है।"

पर उस सारे दिन वह अपनी फटी धोती की चाल से आंखें पोंछती रहतीं।

अपने पूजा के देवताओं के पास रखे दादाजी के एक धुंधले-से चित्र पर रोज फूल चढ़ातीं। अक्षत बिखेरतीं। जब तक जिंदा रहीं, उनका यही नेम-नियम रहा।

"हरकिसन, कोई चिट्ठी-पतरी नहीं आई...?" वह सहसा कुछ याद आने पर कहतीं, "कहते हैं, बरस-भर में एक ही चिट्ठी भेजने देते हैं। एक ही पाने। कौन जाने डाकखाने की गड़बड़ में कहीं इधर-उधर न रह गई हो!"

पिताजी चुप लगा जाते। क्या उत्तर दें, उन्हें कुछ भी पता न था।

दादी के प्राण दादाजी में बसते थे।

कहते हैं—दादाजी जब [illegible] और घोड़ों का व्यापार करने [illegible]जीबी की तरफ

भोट-तिब्बत की सरहद तक जाते, तब दादी का सारा ध्यान ऊनी कंबलों, थुलमों, भोटिया घोड़ों की खरीद-फरोख्त तक सीमित रहता। दिन-रात वह ऊन और घोड़ों की बातें करतीं, पर बाद में दादाजी के क्रांतिकारी बनने पर उनकी चिंताओं के विषय भी बदल गए थे।

—कहते हैं, फिरंगी गाय का मांस खाते हैं।

—फिरंगी हमारा धरम भ्रष्ट करने सात समुंदर पार से यहां आए हैं।

—अब लड़ाई होगी। अपना धरम छोड़ने से तो मर जाना अच्छा है रे!

वह तब छोटा था। दादी की बातें समझ में न आने पर भी वे अबोध परियों और राक्षसों की कहानी जैसी रोचक लगतीं।

जाड़ों की पीली-पीली गुनगुनी धूप में कभी बाहर आंगन में बैठते, या बाहर बर्फ गिरने पर घर के भीतर लोहे के 'सगड़' की आग के चारों ओर घेरा बनाकर आग सेंकते तो दादी खोई-खोई-सी कहतीं—

"तुम्हारे दादाजी को जब जनम-कैद की सजा हुई तो मेरी उमर बीस साल की थी। तुम्हारा बाप हरकिसन गोदी का बच्चा था...तुम्हारे दादाजी को कालापानी ले जाते समय जब बेड़ियां भी लगवाईं तब 'भारत माता की जै-जैकार' से आकाश गूंज उठा था। आदमियों का कैसा गिरदंभ-सा मच गया था। इत्ती भीड़ लोगों ने शायद ही कभी देखी हो।

पर रात को मातम-सा छा गया था उस दिन। आसपास के सारे गांव-घरों में कहीं चूल्हा नहीं जला था। मंदिर की धूनी रात-भर धधकती रही थी। सैकड़ों लोग आग के चारों ओर बैठे रहे।

सुबह पता चला कि घाट की डाक-चौकी जलकर राख हो गई है। इस पर फिरंगियों की पलटन आई। क्या-क्या जुल्म नहीं हुए, निरपराध लोगों पर। लोग घर-द्वार छोड़कर पहाड़ के खोहों-उड्यारों में छिप गए थे। तब खौंखियाए सिपाहियों ने बस्ती की बस्ती फूंक डाली थी...।

उस दिन के बाद मैं रोज सामने वाले ऊंचे डांडे तक जाती। वहां से दूर तक सड़क दीखती है न! उनकी राह देखती...!"

"दादी, क्या दादाजी फिर कभी लौटकर घर नहीं आए...?"

इस प्रश्न पर दादी का झुर्रियों से ढंका बूढ़ा चेहरा न जाने कैसा-कैसा हो जाता! उनकी रोती आंखों में अजब-सा वीतराग तिरने लगता। चाहकर भी वे रो न पातीं। कहतीं, "आंसू ही सूख गए हैं रे अब!"

पहाड़-सी कठिन जिंदगी उन्होंने यों ही गुजार दी थी, दादाजी के इंतजार में।

जब वह बहुत बूढ़ी हो गईं तो बहकी-बहकी-सी कभी सुनाया करतीं, "लोग गलत कहते हैं रे रामा, तेरे दादाजी अभी हैं। कभी-कभी फिरंगियों की नजरें बचाकर यहां आते हैं। मुझे अभी भी याद है। हमारे हरकिसन की शादी के दिन मैं कितना रोई, कितना, उन्हें याद कर। बारात को विदा कर जब अपनी अंधियारी कोठरी में लौटी तो देखा, वे जमीन पर बिछे ऊनी चुटके में, पहले की ही तरह झक सफेद कपड़े पहने, पालथी मारे बैठे हैं। पता नहीं कब से इंतजार में...

'अरे, हरकिसन की इजा, तू इतनी परेशान क्यों है? सब अच्छी तरह से निभ गया न! कल बहू भी आ जाएगी। घर में फिर चहल-पहल होगी...!'

दादी कहते-कहते फफक पड़तीं, 'अपनी हथेली का मांस खाकर मैंने अपने हरकिसन को कैसे पाला, मैं ही जानती हूं। तुम तो मुंह उठाकर चले गए थे,' मैं उनसे गुस्से से कहना चाहती थी, पर मेरे कहने से पहले ही देखती हूं कि वे जा चुके थे। शायद फिरंगियों से पकड़े जाने की आशंका के कारण...! जब भी आते छिन-दो छिन इसी तरह छिप-छिपकर। कभी भरी आधी रात को चांद के उजास में हमारे बंजर खेतों की मेड़ पर खड़े दीखते। कभी चौराहे के पार, मंदिर की बड़ी सीढ़ियों पर उदास-से गुमसुम बैठे। जब कोई विपदा होती, वे सामने खड़े दीखते। अपने बच्चों का मोह भला किसे नहीं होता रे...।"

दादी की पागलपन की इन बेतुकी बातों पर वे हंस दिया करते थे, "दादी, तुम्हारा भी जवाब नहीं। बाबूजी कहते हैं, कालापानी की जेल में भी दादाजी के पांवों पर लोहे की बेड़ियां होती थीं। फिर बता, उस बंद कोठरी से यहां वे कैसे आ सकते हैं? पानी के जहाज में ही हफ्ता-दस दिन लग जाते हैं...।"

"...।"

"यह सब तुम्हारा वहम है दादी...।"

"अरे, जैसे अभी तुझसे बातें कर रही हूं, वैसे ही उनसे भी होती हैं। यों ही मुझे पगला रहा है, शैतान कहीं का...।"

दादी गुस्से से रूठकर चुप हो जातीं।

कभी-कभी उसके पास बैठकर बावली-सी कहतीं, "रामा, तू बड़ा हो जाएगा तो तुझे लेकर कालापानी जाऊंगी। फिर वहीं रहूंगी। कहते हैं, साथ में कोई हो तो दुःख का भार कुछ कम हो जाता है...।"

वह हंस पड़ता...।

अब दादी नहीं, पर कालापानी आकर लगता है, जैसे वे भी कहीं साथ-साथ यहां तक चलकर आई हों। दादाजी के कपड़े पोटली में बांधकर कितने जतन से रखे थे—सबसे छिपाकर।

यहां आकर वह कई वृद्धों से मिला, जिनके पूर्वजों का संबंध कालेपानी के सजायाफ्ता देशभक्तों से रहा। पर दामोदर नाम के कैदी के विषय में कहीं कुछ पता नहीं चला कि उनके अंतिम दिन किस तरह, कहां बीते।

कहा जाता है कि दूसरे विश्वयुद्ध मे जापानियों के आधिपत्य के समय सेल्यूलर जेल के कई महत्त्वपूर्ण कागजात जला दिए गए थे। हां, एक अलमारी में कुछ पुराने धुमरैले कागजों के चिथड़े उसे अवश्य दीखे। किसी तरह अनुमति लेकर, वह उन्हें ही उलटने-पलटने, टटोलने लगा।

कैदियों की सूची में नाम था, पर अधिक विस्तृत विवरण नहीं। अंत में जीर्ण-शीर्ण पीले रजिस्टर के एक फटे पन्ने पर दीखा--'दामोदर पुत्र टीकाराम, ग्राम कुरोला, पट्टी छतारा, जिला...इसके आगे सब-कुछ फटा हुआ। हां, नीचे जेल की कोठरी की संख्या अवश्य कुछ-कुछ पढ़ने में नजर आ रही थी--

कैदी संख्या अर्स्सी।

कोठरी संख्या दो सौ पांच।

वह दोड़ता हुआ जेल की दो सो पांच नंबर की कोठरी में पहुंचा, हांफता हुआ। लोहे का दरवाजा यों ही खुला था। झटके के साथ वह भीतर घुसा।

उस रीती काल-कोठरी में सीलन, धूल और मिट्टी के अलावा अब कुछ भी शेष न था।

खोजती हुई निगाहों से वह देर तक कुछ टटोलता रहा। बाहर कपाटों के पास पत्थर की दीवार पर एक गोल कुंडा-सा गड़ा है। कहते हैं--डंडा-बेड़ी के समय केदियों को इसके सहारे बांधकर लटका दिया जाता था।

वह देर तक उस कुंडे को अपनी अगुलियों से सहलाता मूर्तिवत खड़ा रहा।

इस रीते कमरे में अब कोई नहीं रहता, परंतु उसे लगता है--कोई रहता हे।

कमरे में जाकर वह दीवारों को अपनी हथेलियों से छू-छूकर देखता है। उस टूटे फर्श को भी छूता है, बार-बार छूता है। उसे दीवारों और लोहे के दरवाजे पर एक प्रकार का स्पंदन-सा लगता है। लगता है, पीछे से अभी आकर दादाजी कहेंगे, 'अरे, रामा, तू यहां क्या कर रहा है?'

दरवाजे से लगा, लोहे का मोटा-सा रॉड, दीवार के एक हिस्से को छेदकर, दूसरे किनारे तक चला गया है। वहां पर ताला लगाने की व्यवस्था है, ताकि केदी किसी भी स्थिति में निकल भागने में सफल न हो।

वह बाहर आता है--दूर तक चला गया लंबा बरामदा। एक छोर से दूसरे छोर तक।

सांझ घिरने लगती है तो वह भारी-भारी कदमों से सीढ़ियों से नीचे उतरने लगता है।

बाहर खुले आंगन में लोहे और पत्थर का भारी-भरकम कोल्हू वैसा का वैसा रखा है। दोनों हाथों से ऊपर उठाने का प्रयास करता है। वह जवान होकर नहीं उठा पा रहा है, फिर बूढ़े-बीमार दादाजी किस तरह इसे उठाकर, आठ-आठ घंटे बैल की तरह तेल पेरते होंगे?

पास ही कैदियों के नहाने का वह बित्ते-भर का चबूतरा। नारियल के खोल के टुकड़े में अंजुरी-भर खारे पानी से कैसे नहाते होंगे, उमस-भरी दोपहरी में?

पूर्वी छोर पर काठ की एक काली-सी कोठरी अभी भी है। जहां छत पर, लकड़ी के गोल शहतीर पर नारियल की मोटी रस्सी का गोल फंदा नीचे लटक रहा है। नीचे पांवों के पास दो तख्ते हैं, उनके नीचे अंधियार कुआं।

"लाश के लटके रहने के लिए तख्ते तुरंत हटा दिए जाते थे। और बाद में लाश नीचे अंधेरे तहखाने में उतार दी जाती थी...।" पास खड़ा कोई कह रहा है।

वह बहरा-सा, गूंगा-सा उस तहखाने को विस्फारित नेत्रों से ताकता रहता है। जहां अभी भी बिखरे हैं खून के छींटे। एक मूक क्रंदन अभी भी कहीं व्याप रहा है।

बोझिल कदमों से वह आगे निकल जाता है।

सामने की इमारत में, एक बड़े-से कमरे में बिजूका की तरह टंगे हैं, टाट के फटे कपड़े। लोहे के जंग लगे, टूटे बर्तन, हथकड़ियां, बेड़ियां सब प्रदर्शनी की तरह सजाकर रखे हैं।

रात को वह खाना नहीं खा पाता।

वहां का भुतहा वातावरण उसका पीछा करता है। एक गहरा अवसाद उसे घेर लेता है। लौटकर कमरे में आता है तो वह कमरा भी उसे वैसा ही, काल-कोठरी जैसा लगता है—डरावना।

इतने दिन हो गए भटकते-भटकते, परंतु कहीं कोई अता-पता दीखता नहीं।

कुछ लोगों की धारणा है कि जब जापानियों ने जेल के किवाड़ खोल दिए तो कुछ कैदी बाहर निकल आए थे।

हो सकता है, उनमें वे भी रहे हों!

पर बाहर निकलकर फिर कहां गए? कहीं तो कोई सुराग मिलता!

बाद में जापानियों ने जो नृशंस हत्याएं कीं, हो सकता है, उसमें वे भी

मौत के घाट उतार दिए गए हों!

जीवित होते तो बाहर आकर, कभी तो घर कोई पत्र भेजते!

यहां दामोदर नाम के क्रांतिकारी का कहीं कोई अवशेष नहीं दीखता। सड़कों पर, बस्तियों में घूमता हुआ, वह हर वृद्ध की आकृति के भीतर झांकने का प्रयास करता है, कहीं यही तो नहीं ! कहीं ऐसे ही तो नहीं! दादी के देवताओं के पास जो चित्र था, यहां की अधिकांश वृद्ध आकृतियां उसे वैसी ही लगती हैं।

उसे कहीं भ्रम-सा लगता। एक प्रकार का दृष्टिदोष...।

कल किसी ने लंबा लाइन क्षेत्र में वाजिदा बेगम नाम की एक अधेड़ महिला से मिलवाया था। उनके दादा अनवर आगा जौनपुरी उत्तर भारत के रहने वाले थे। सेल्यूलर जेल के कुछ कैदी जब हमेशा के लिए मुक्त हुए तो वे यहीं रह गए थे।

"दामोदर पंडित नाम के एक इन्कलाबी कैदी का जिक्र तो कभी किया करते थे वे। जिन्होंने कैदियों के लिए जंगली घास की बनी हरी सब्जी में से एक बार एक सांप का कटा टुकड़ा लेकर जेलर बारी को दिखलाया था और विरोध में भूख-हड़ताल की थी...। दादाजान कहते थे, जब उनकी पीठ पर चाबुक की मार पड़ी तो चाबुक के साथ-साथ पीठ का मांस भी चिपककर, निकल आया था...। सारा कच्चा फर्श लहूलुहान हो गया था...।"

कुछ लोग सुना रहे थे कि जेल से भागे कुछ कैदी आदिवासियों की नाव में, एक झुंड की शक्ल में सागर में निकल पड़े थे। वहां से कहां विलीन हो गए, कुछ अता-पता नहीं...

कमरे में रोशनी जलाकर देखता है—उसके बिस्तर पर भूरे-सफेद रंग की चादर-सी बिछ गई है। तमाम बारीक चींटियां भर गई हैं। जो चबैना वह अपने बैग में, जाते समय यों ही पलंग पर धरकर रख गया था, सब गायब है।

बाथरूम में मोरी में से सांप जैसे लंबे-लंबे पतले केंचुए गुच्छे की शक्ल में भीतर आकर फर्श पर सुतली के तागे की तरह इधर-उधर सरक रहे हैं।

वह धड़ाम-से बाथरूम का किवाड़ मूंदकर बाहर आता है।

चादर उठाकर बाहर बरामदे में फेंकता है और दिन-भर का हारा-थका-सा रीते पलंग पर यों ही चित लेट जाता है।

धूल जैसी बारीक चींटियां अभी भी विस्तर पर कहीं-कहीं रेंग रही हैं। उनके काटने से सारे शरीर में तीखी जलन-सी मचने लगती है।

शायद बाहर अब बारिश हो रही है। तेज हवा चल रही है।

तभी दरवाजे पर लगातार खटखटाने की जैसी आवाज सुनाई देती है उसे। कुंडा खोलकर देखता है। खादी के फटे सफेद कपड़े पहने, लंबी दाढ़ी वाले एक वृद्ध पानी में भीगे, सामने खड़े हैं।

"आप क्रांतिकारी दामोदर पंडित के बारे में पूछ रहे थे न! हमारे पड़ोसी कुटप्पा बतला रहे थे...।"

"जी हां। वे मेरे दादाजी थे। कालापानी की सजा पर आए थे। लगता है, उन्हें गुजरे भी अब अरसा हो चुका होगा..."

'गुजरे' शब्द उसे भारी-सा लगता है। लगता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए था। जब मरे-बचे का पता ही नहीं तो...!

वृद्ध बड़ी करुण दृष्टि से उसे देखते रहते हैं।

"हम दोनों अरसे तक साथ-साथ रहे थे बेटे!" कुछ रुककर वह कहते हैं, "चलो मेरे साथ! मैं बतलाता हूं।"

बाहर अब वर्षा उतनी तेज नहीं। कुछ-कुछ थमने की जैसी प्रक्रिया में है। वह वैसा ही अकबका-सा किवाड़ मूंदकर उनके साथ-साथ बाहर निकल पड़ता है।

देर तक वे चुपचाप चलते रहते हैं।

पगडंडी जैसा कच्चा रास्ता।

"वह सामने जो जज़ीरा दीख रहा है न, कैदी पहले वहां खुले बाड़े में जानवरों की तरह छोड़ दिए जाते थे। यह दीवारों वाली जेल तो बहुत बाद में बनी थी।" वे इस तरह धीरे से कहते हैं, जैसे स्वयं से बातें कर रहे हों।

हलके से ढलान के बाद अब थोड़ी-सी चढ़ाई है। वृद्ध अपनी चादर संभालते हुए मुड़कर देखते हैं, "उनकी कोई सूचना सरकार ने कभी आप लोगों को नहीं भेजी?"

"ना।"

"बहुत भले आदमी थे वे। पर थे बहुत जिद्दी। बारी के जुल्मों के खिलाफ 17 अप्रैल को उन्होंने भूख-हड़ताल की थी। उसी में प्राण त्याग दिए थे बेचारों ने...!"

सेल्यूलर जेल की दीवारों से पीछे वे एक संकरे-से ऊबड़-खाबड़ मार्ग से आगे बढ़ रहे हैं। इस उम्र में भी वृद्ध में बड़ी कड़क है। उससे भी तेज गति से चल रहे हैं।

बाहर पूर्णमासी का पूरा चांद खिला है। घने बादल छितरा गए हैं। सारा वातावरण निःस्तब्ध है। हां, सागर में प्रलय का जैसा ज्वार है। किनारे की चट्टानों

में लहरें टूट-टूटकर बिखर रही हैं। सतह पर सफेद झाग-सा उभर रहा है।

"उनकी मृत्यु के दिन भी ऐसा ही पूरा चांद था। रात के सन्नाटे में दो खूंखार पठान कैदियों ने चुपचाप उनकी नंगी लाश कंधों पर उठाई और ज्वार आए सागर में यहां से छपाक-से फेंक दी थी...।"

वृद्ध का भारी स्वर भर्रा आया है। वे मूर्तिवत् स्तब्ध खड़े सागर की उफनती लहरों में कुछ खोजने-से लगते हैं।

कुछ क्षण का मौन तोडते हुए कहते हैं, "वह देखो, वह देखो...दूर...समुद्र की लहरों में कुछ तिरता-सा तुम्हें दीख रहा है न? काला-काला-सा...?"

वह ध्यान से देखता है, एकाग्र भाव से। सन्नद्ध।

"हां, लहरों के ऊपर एक काला-काला चिथड़ा जैसा कुछ...।"

"पूर्णमासी की रात को कभी-कभी यह तिरता चिथड़ा-सा लोगों को आज भी दिखलाई देता है...। कुछ लोग वहम भी कहते हैं इसे...पर जो सामने दीख रहा है, क्या वह मात्र वहम है...?"

कहते-कहते यकायक वे मौन हो जाते हैं।

पता नहीं कितनी देर तक वह वैसा ही जड़वत् खड़ा रहता है!

अब उनके पांव यंत्र की तरह डेरे की ओर मुड़ते हैं।

दोनों चुप हैं।

लौटने पर वह फिर कमरे में आता है, पर अब नींद नहीं आती। असंख्य चींटियां बिस्तर पर फिर बिखर गई है। केंचुए सारे बाथरूम में बिछ गए हैं। एक धूमिल-सी आकृति बार-बार उसकी आंखों के आगे उभरती है और ओझल हो जाती है...।

दादी आज जिंदा होती तो यही कहतीं, 'मैं कहती थी न, तेरे दादाजी अभी है रे! एक बार कभी उन्हें देख आती तो मरते समय कितनी शांति मिलती...!'



सजा

वह फिर आई थी आज।

कल ही तो तार मिला था। क्षण-भर वह हतप्रभ-सी खड़ी रह गई थी। अपनी आंखों पर विश्वास ही न हुआ—जो कुछ लिखा गया है, क्या वह सच है?

गुलाबी रंग का कागज मरते हुए पक्षी के डैने की तरह उसकी कांपती अंगुलियों में थरथरा रहा था। होंठ खुले थे। आंखें पत्थर की तरह ठोस-निश्चल।

"क्या हुआ दीदी?" श्रुति भागती हुई आई, पर भावना जैसे शून्य में कहीं खो गई थी।

धम्म से पलंग की पाटी पर बैठ गई—निचला होंठ दांतों के बीच दबकर नीला हो आया था।

स्थिति की भयावहता देखकर श्रुति को साहस न हुआ कि आगे बढ़कर कुछ और पूछे। वह जड़वत खड़ी रही—क्षण-भर।

भावना न जाने कब तक यों ही पाषाण-शिला-सी पलंग पर बैठी रही।

"क्या हुआ दीदी?"

"कुछ नहीं...।"

"किसका तार है?"

कोई उत्तर नहीं दिया भावना ने।

"मामाजी का?"

"नहीं।"

"फिर...?"

भावना ने इस 'फिर' का उत्तर देने की भी आवश्यकता न समझी। वह

वैसी ही लेटी रही।

देर तक कमरे में असह्य सन्नाटा रहा। अन्त में चारों ओर जमी बर्फ की विशाल चट्टान को तोड़ती, किसी तरह भावना बोली, "सुरि, मेरी अटैची में कपड़े रख दे। आज ही शाम की गाड़ी से चली जाऊंगी।"

"कहां दीदी?"

"अरे, अभी बतलाया नहीं—दिल्ली जा रही हूं। हमारी हैडमिस्ट्रेस को इन्फॉर्म कर देना।"

भावना की दृष्टि अब बार-बार घड़ी के डायल की ओर जा रही थी। सवा नौ बजे गाड़ी जाएगी, इस समय आठ पच्चीस हैं।

"रात को अकेली न रहना सुरु! जमाना बुरा है। सुक्को मौसी को जरूर बुला लेना। तुम खाना खा लेना। मुझे भूख नहीं...।

तू अपने एक्जाम की तैयारी क्यो नहीं करती। फाइनल ईयर है। अरी, खड़ी-खड़ी मुंह क्या देख रही है?"

तनिक तुनककर भावना ने कहा तो श्रुति सहम-सी गई। डरती-डरती बोली, "बिना खाना खाए ही चली जाओगी दीदी।"

"हां—कह दिया!"

"कुछ बांध दूं...?"

"नही।"

यों ही हड़बड़ी में भावना चली गई तो श्रुति को सब अजीब अजीब-सा लगा—एक विचित्र-सी पहेली।

दीदी ने यह भी नहीं बतलाया कि तार किसका था? क्या लिखा था...?

सुक्को मोसी बड़े कमरे में खर्राटे भरती हुई सो गई, पर श्रुति भावना के कमरे में बैठी देर तक पढ़ती रही।

तभी पन्ने पलटते-पलटते पता नहीं किस तरह पेन जमीन पर गिर पड़ा। उसे उठाने के लिए वह झुकी ही थी कि नीचे, वही गुलाबी रंग का कागज, मुड़ा-तुड़ा पडा था।

बड़ी सावधानी से फटे कागज की सलवटें ठीक करके पढ़ने का प्रयास किया। लिखा था—'रतन एक्सपायर्ड।' नीचे दस्तखतों की जगह किन्हीं 'विनोद' नामक सज्जन का नाम अंकित था।

—तो जीजीजी चल बसे ! श्रुति बुदबुदाई।

फिर लाख कोशिश करने के बाद भी पढ़ने में मन न लगा। दीदी की

आन्तरिक व्यथा साकार होकर आंखों के आगे घूमती रही।

सारी रात पड़ी-पड़ी सोचती रही—जीवन-भर दीदी को क्या मिला? जीजाजी द्वारा अपमानित होकर, घर से निकाली जाने के पश्चात्, उन्होंने कितना कुछ नहीं सहा!

उसे याद आया—वह बालकनी में बैठी, जाड़ों की पीली, पथराई धूप में गीले बाल सुखा रही थी, तभी किसी ने बतलाया, "सुनो बिटिया, रतन ने दूसरी शादी कर ली है।"

दीदी ने सुने को अनसुना कर दिया, जैसे पहले से सब जानती हों। उन्हें तनिक भी अचरज न हुआ।

दीदी चाहतीं तो क्या-क्या नहीं कर सकती थीं। कानून साथ था। बड़े मौसाजी जाने-माने वकील। किन्तु न जाने क्या सोचकर वह होंठ सिए चुप बैठी रहीं।

—मेरे प्रारब्ध में इत्ता ही सुख था तो अधिक कहां से आता। दीदी उड़ी-उड़ी-सी कभी दुहरा दिया करती थीं।

बड़े चाचाजी, मामाजी, बुआजी—सबने कहा दूसरी शादी करने के लिए, पर यहां भी भावना दीदी पहेली बनी चुप बैठी रहीं।

कितना सहा दीदी ने! कितना! कितना !! श्रुति बिछौने में मुंह छिपाकर सिसकने लगी।

•

"कौन, भावना...बहू ! कब आई?" ससुराल के रिश्ते की किन्हीं वृद्धा ने आंगन में पांव धरते ही पूछा।

"अभी मांजी...!"

"तार दिया था—बिन्नू ने ?"

"जी हां।"

अटैची थामे भावना क्षण-भर वेसी ही खड़ी रही दरवाजे के पल्लू के सहारे ...फिर चुपचाप भीतर चली गई।

घर में कुहराम मचा था, परन्तु भावना गूंगी, बहरी-सी चुप बैठी रही। न रोई, न चिल्लाई। मूक दर्शक की तरह यंत्रवत सब देखती रही।

वह औरत रो रही थी—जिसे अब रतन की पत्नी कहते हैं, रतन जिसे ब्याहकर लाया था, जिसकी सूनी मांग में अब सूखे घाव की दरार-सी पड़ गई है।

भावना देखती रही—दुबला-पतला सूखा शरीर! पीली देह!

इसी के प्यार में पागल होकर रतन ने उसे कितनी यंत्रणाएं दी थीं! क्या-क्या नहीं कहा था, क्या-क्या नहीं किया था! जब सब असह्य हो गया तो एक दिन घर से भी निकाल बाहर किया था।

पापा नहीं रहे, तो फिर किसी का भी भय न रहा।

दो बच्चे बाहर खड़े थे। एक नन्हा-सा, किसी की गोदी में खरगोश की तरह दुबका बैठा था। अपनी मां को रोती देखता तो स्वयं भी मुंह फाड़कर रोने लगता।

यह वही घर था, जहां भावना एक दिन दुल्हन बनकर आई थी! पापा कहते थे—अपनी भावना को हमने चन्दा और करुणा से भी अच्छा घर दिया है। खूब सुख से रहेगी...राज रचेगी...।

कैसा राज रचाया! कितने सुख से बिताए चार साल! भावना का हृदय यह सोचने मात्र से सिहर उठा।

ढेर सारे गन्दे कपड़े, जिन्हें यहां बिस्तर की संज्ञा दी जा रही है, एक ओर पड़े हैं। पलंग टूटा हुआ है। मेज के एक पांव के नीचे ईंट का आधा टुकड़ा पड़ा है।

"रतन की बीमारी ने हमें कहीं का न रख छोड़ा। बर्तन-भांडे तक बिक गए।" वृद्धा मां कपाल पर हाथ रखे, अपने टूटे करम को रो रही थीं। किसी से कह रही थीं, "अन्त में भाई तक मुंह बिरा गए मौसी! मरते समय मेरे रत्तू के घर कफन तक के लिए पैसे नहीं थे...।"

भावना सुनती रही।

एक-दो दिन तक चुप देखती रही।

तीसरे दिन अपने घर लौटते समय जब रहा न गया तो बूढ़ी सास को एकान्त में ले जाकर बोली, "ये कुछ रुपये है मांजी ! क्रिया-कर्म में लगा देना। बच्चों को दुख न देना। विनोद कह रहे थे—बच्चों का स्कूल जाना छुड़वा दिया है। उन्हें फिर स्कूल भिजवा देना।...जो कुछ बन सकेगा, मैं करूंगी...।"

"बहू, यह तू क्या कह रही है? तेरे साथ उसने जो कुछ किया, उसके बाद तो...!"

"जो कुछ उन्होंने किया, उनके साथ ही चला गया मांजी! पर इन अबोध बच्चों का क्या दोष?"

साथ लाई दो-तीन साड़ियां भावना छोड़ गई। बच्चों के लिए कुछ रुपये भी।

रिक्शे पर बैठती-बैठती बोली, "मांजी, कभी उधर चली आना। मन बहल

जाएगा। हमें भी खुशी होगी। मां तो बचपन में ही हमें छोड़कर चल बसी थीं। जब से होश संभाला आपको ही मां की ठौर पर पाया।"

"बहू, अब तू इत्ता दुःख न दे! हमारे किए की इत्ती बड़ी सजा नहीं।" बूढ़ी सास का अब तक थमा बांध टूट बहा, "उसके ऐसे धन्न भाग कहां थे! अपने किए पापों की सारी सज़ा भुगत गया बहू...।"

रिक्शे पर टूटी टहनी की तरह निढाल पड़ी भावना बैठी रही। मांग का सिन्दूर न जाने कब, कैसे पुंछ गया था। उसका अब कोई निशान न था। पर हां, नौ साल लम्बी थकान उसके मुरझाए मुखड़े पर आज अवश्य उभर आई थी।



किनारे के लोग

इस लम्बी बीमारी और वीरानी ने ही उसे शायद इस कदर जर्जर बना दिया है, नहीं तो अभी उमर ही क्या है उसकी! अट्ठाईस भी तो पूरे नहीं हुए। इस उमर के लोगों में जो जोश, जो जिन्दादिली, जो उमंग होनी चाहिए, वह उसमें कभी भी नहीं रही। कभी भी उसने अपने को युवा अनुभव नहीं किया। हमेशा माथे पर बिछी, सीधी-तिरछी समानान्तर रेखाएं। आंखों में रेत की-सी उदासी। काठ-से सूखे, बेरौनक चेहरे में कोई भाव नहीं। कभी-कभी वह अपनी कलाइयों की नीली, उभरी नसों को देखता है, तो देखता रह जाता है। अपना सारा हाथ, नहीं-नहीं, सारा शरीर उसे एकदम ठण्डा लगता है—बर्फ की तरह...शान्त!

"सा'ब, आज खाना क्या लेंगे?" बैरा कभी आकर पूछता है तो उसे बोलना पड़ता है—यही एकाध नपे-तुले शब्द कि उसे खाना है या नहीं। अन्यथा वह इतना भी नहीं कहता, केवल सिर हिलाकर रह जाता है।

बैरा फिर चला जाता है। तपन को लगता है, असह्य सन्नाटा सारे कमरे में फिर व्याप गया है। वह हैण्डलूम के रंग-बिरंगे भारी पर्दों से ढंकी खिड़कियों की ओर देखता है। रिंग पर पर्दे की सिलवटें एक साथ इतनी अधिक गुंथी रहती हैं कि बाहर झांकने के लिए कहीं कोई दरार नहीं रह जाती। जब बाहर कुछ भी झांकने को नहीं रह जाता, तो वह अपने अन्दर की ओर झांकने लगता है। स्मृतियों के अछोर सागर के बीच उसने अपनी सुविधा के लिए, अपनी रुचि के अनुसार, छोटे-छोटे अनेक द्वीप बना लिए हैं। पता नहीं, पिछले कितने वर्षों से वह पानी से घिरे इन्हीं वीरान द्वीपों में रह रहा है।

"बैरा, आज यह कमरा किसने ठीक किया?"

शाम को तपन घूमकर लौटा, तो देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। किताबें आज सब करीने से रैक पर लगी हैं। पलंग के पैताने के नीचे जूते, बाथरूम- स्लीपर, गम-बूट पलटन के सिपाहियों की तरह कतार में दम-साधे खड़े हैं।

वह स्विच ऑन करके, कुर्सी के पास खड़ा हो जाता है। चादर के चारों किनारे आज बराबर-बराबर दूरी पर झुके हैं। जैसे दो-फुटा लेकर नाप बैठाई गई हो। उसके ऊपर दूध के झाग-से गुदगुदे तकिये एक-दूसरे पर गिरे हैं।

वह और पास आता है, तो देखता है—सफेद चादर पर नन्हे-नन्हे जूतों के भूरे निशान पड़े हैं। वह बैरा की ओर देखता है।

बैरा अभी तक सामने खड़ा है—"हुजूर, वह जो चौबीस लम्बर में रहती हैं, जो है सो, आज वे दिन के टैम यहां आई थीं।"

"क्यों?"

"यह तो पता नहीं, हुजूर!" बैरा साहब के मुंह की ओर ताकता है, "जो है सो, जब मैं सफाई कर रहा था, तो वह सामने बरांडे में से जा रही थीं। एकाएक फाटक पर रुक गईं। भीतर आकर जो है सो पूछने लगीं, 'बाबू हैं?' मैंने जवाब दिया कि वे आज घूमने लड़िया-कांटा गए हैं, तो बहुत देर तक फाटक के अगाड़ी खड़ी रहीं। कहने लगीं—'किताब ऐसे नहीं धरते, चादर ऐसे नहीं लगाते।' जो है सो, वे मेरे हाथ से झाडू लेकर खुद सफाई करने बैठ गई।"

तपन जैसे बैरा की नहीं किसी और की, कहीं दूर की बेसिर-पैर की बातें सुन रहा हो। बोला—"और ये पलंग पर जूतों के निशान कहां से आए।"

"हुजूर, जो है सो, उनके साथ एक बच्चा भी था। वह पहले तिपाई पर चढ़ा। फिर वहां से पलंग पर उछला और चूहे की तरह इधर-उधर बिदकता रहा, जब तक कि औरत उसे गोदी में उठाकर बाहर नहीं चली गई।"

"इस तरह से सबको कमरे में आने क्यों देते हो?"

बैरा पहले तो चुप रहा। फिर बोला—"हुजूर जो है सो, वह आपके साथ एक दिन आपके कमरे में बैठी थीं। सो मैंने समझा कि हुजूर के घर की कोई होंगी...। कोई चीज-बस्त उठा ले जातीं तो मैं गरीब मुफ्त में मारा जाता।"

उस पहाड़ी 'जो है सो' नौकर की सीधेपन की सीधी बातें सुनकर, तपन यों ही हंसा और चुप हो गया।

वह जूते उतारे बिना ही बिस्तरे पर गिर पड़ा। इधर उसका स्वास्थ्य बहुत खराब रहता है। थोड़ा-सा चलने मात्र से दम फूलने लगता है। वह लड़िया-कांटा जाने की बात कह तो गया था, लेकिन अपने में पहाड़ पर चढ़ने की सामर्थ्य न पाकर, तिरछा ही पाइन्स की ओर निकल गया और वहां भी आधे रास्ते

'टॉल-टैक्स' के पास से ही लौट आया।

सामने मेज पर किश्तीनुमा टेबिल-लैम्प रखा रहता है। वह उसकी सुनहरी तिकोनी पालों की ओर अपलक देखता है। वह रोज सोचा करता है कि आज शाम को अवश्य ताल पर बोटिंग के लिए जाएगा। पानी में तैरने की उसकी बचपन से ही हॉबी रही है। बचपन में वह अपने गांव की नदिया में बहते चीड़ के शहतीरों पर बैठकर आर-पार जाया करता था। फिर यहां तो इतनी अधिक सुविधा है कि...। लेकिन सांझ घिरते ही सारा उत्साह मंद पड़ जाता है। अकेले कहीं भी जाने को मन नहीं करता। बहुत-से लोग तो अकेले ही रहना पसंद करते हैं। भला कैसे करते होंगे ! वह चौबीस नम्बर वाली महिला भी तो बेबी के साथ अकेली ही घूमती दिखलाई देती है। प्रातः तो अक्सर दीख जाती है। बिना-बार्डर की साड़ी, माथे पर अठन्नी के बराबर गोल लाल-टीका, मांग में हल्की-सी सिन्दूरी-लकीर और पांवों में जीभ से भी पतली चप्पलें पहने फट्-फट् चलती है...।

उस दिन वह बारिश की तेज बौछारों में भीगता-भागता मल्ली-ताल से लौट रहा था, तो बच्चे का हाथ थामे वह देवदार के एक दरख्त के सहारे खड़ी थी। केवल बित्ते-भर की, नाम-मात्र की चौड़ी छतरी सिर पर ताने थी। छतरी के झुके तारों पर से पानी टपक-टपककर उसके कंधों पर गिर रहा था। और तब आस-पास सिर छिपाने को कोई ठौर न देखकर, वह भी वहीं एक किनारे ठिठक गया था। उसका सारा शरीर बुखार से तप रहा था। ऊनी कपड़े भीगकर भारी हो गए थे। तन का ही भार उससे संभाला न जा रहा था।

एकाध बार शायद महिला ने यों ही उसकी ओर देखा था।

वर्षा थम गई। किन्तु कुछ छींटे अभी तक हवा में तिरछे तैर रहे थे। और वह लड़खड़ाता हुआ चढ़ाई की बजरीदार सीढ़ियां चढ़ने लगा, तो उसके पांव कांपने लगे। उसके पीछे-पीछे चलती महिला शायद स्थिति ताड़ गई। बोली—"यह छतरी ले लीजिए। आप तो विल्कुल भीग गए हैं!"

तपन मुड़ा। पपड़ी जमे होंठों में मुस्कान लाने का प्रयास करता हुआ बोला—"थैंक यू!...अब तो पहुंच ही गया। थोड़ी-सी दूर तो है!"

"नहीं, नहीं," कहती महिला उसके काफी समीप पहुंच चुकी थी, "लगता है, आपको फीवर है!"

"हां," उसने बड़ी लापरवाही से कहा—"इधर ठण्ड की वजह से कुछ बढ़ गया है। नहीं तो--।"

फिर कोई कुछ नहीं बोला। तीनों चुपचाप चलते रहे। बच्चे के सिर पर

बंधा भीगा स्कार्फ महिला ने रस्सी की तरह मरोड़कर निचोड़ा।

सीढ़ियां लांघकर, कॉरीडोर तक वे साथ-साथ आए। इससे चन्द कदम आगे बरामदे तक भी वे साथ-साथ आए। वे इस तरह चल रहे थे, मानो तीनों साथ ही बाजार से थककर लौटे हों।

अपने कमरे के आगे क्षण-भर रुककर, तपन भीतर चला गया। कमरे के अन्दर पहुंचकर उसे लगा कि शिष्टाचार के नाते उसे महिला से कुछ तो कहना ही चाहिए था। उसने कुछ क्यों नहीं कहा...।

बुखार बढ़ गया था। दो-तीन दिन तक वह इसी तरह बिस्तर पर पड़ा रहा। तीसरे दिन पैबन्द के बराबर धूप का टूकड़ा आंगन में बिखरा था। खरसू के पेड़ के कांटेदार पत्तों के झुरमुट से छनकर कुछ तिरछी, पीली किरणें उसकी खिड़की के शीशे पर भी बिछ गई थीं, जो तपन को बहुत भली लग रही थीं। उसने अपना हाथ खिड़की के प्रकाश की ओर बढ़ाया, जो पीले उजियाले में ओर पीला लगने लगा था। उभरी नसों के तार दूर तक खिंच गए थे।

तब वह महिला एक हाथ में आइवरी-प्लास्टिक की कंडिया और दूसरे में बच्चे का हाथ थामे होले-हौले भीतर आ रही थी। उसने बहुत हल्के ऐश-कलर की, कांजीवरम् किस्म की साड़ी पहन रखी थी। खुली, मोटी लटें कूल्हों को छू रही थीं। सदा की तरह चाबी का गुच्छा कन्धे के पीछे लटक रहा था। पांव में छिलके-सी पतली चप्पलें थीं।

"आप तो सचमुच बीमार पड़ गए!" वह इस तरह से कमरे में आई, जैसे रोज ही यहां आती-जाती हो, "मुझे तो पता ही नहीं चला। आज बैरा ने बतलाया...।"

तपन समझ गया कि 'जो है सो' ने बतलाया होगा। वही उसका इतना खयाल रखता है।

वह आकर, पलंग के पास रखे स्टूल पर बिना किसी पूर्व-शिष्टाचार के बैठ गई।

"क्या फीवर है?" बिना हिचकिचाहट, तनिक भी संकोच के बिना बड़े सहज भाव से उसके माथे पर हाथ गया, "अरे!...आंवे की तरह तप रहा है! कोई मेडिसिन नहीं ली?"

तपन ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"डॉक्टरों को भी नहीं बुलाया?"

तपन चुप रहा।

"ऐसी लापरवाही बरतना क्या ठीक है?"

उसने तपन की ओर देखा कि वह कुछ बोले, कुछ कहे, किन्तु तपन की आंखें शून्य में टिकी थीं। बच्चा मां की गोद में बैठा, दो बड़ी-बड़ी आंखें खोले, टुकर-टुकर ताक रहा था।

"आप यहां अकेले ही हैं?"

तपन से सिर तक हिलाया न गया।

"बीमार कब से हैं?"

तपन अब सामने रखे किश्तीनुमा टेबिल-लैम्प की ओर देख रहा था—सुनहरी पालों की ओर। उसकी आंखों में कुछ उमड़-सा आया। इतनी बड़ी दुनिया में वह अकेला है! कोई भी उसके सुख-दुःख के बारे में पूछने वाला नहीं! इतने वर्षो बाद उसे पहली बार इस तरह का अनुभव हुआ। लगा कि उसके अकेलेपन की पतली-सी शीशे की दीवार पर किसी ने पत्थर फेंक दिया है। उसके दिल के नाजुक-नरम हिस्से पर किसी ने सहलाते-सहलाते नश्तर लगा दिया है। उसने आंखें जोर से मूंद लीं।

महिला चुप थी। बैरा ने बाद में उसे बतलाया कि मर्ज़ पुराना है। बाबू जब से आया है, बिस्तर पर लेटा रहता है। कभी तो सारी रात अंधेरे में बैठा-बैठा गुजार देता है। जब खांसी के दौरे घण्टों तक चलते हैं तो खांसते-खांसते दुहरा हो जाता है। जो है सो एक दिन तो बिस्तर से नीचे गिरा, बेहोश पाया गया था सवेरे।

महिला उस दिन चुपचाप उसके सिरहाने बैठी रही। उसके माथे को सहलाती रही, जब तक कि उसकी पलकें न मुंदीं, और वह भलीभांति सो न गया।

परन्तु उस दिन के बाद वह दिखाई न दी। कभी दूर से ही झलकती और ओझल हो जाती। चारों ओर से ऊनी कपड़ों में लिपटा, चूज़े जैसा छोटा मासूम बेबी भी दीखता न था।

तपन पलंग से उठा। खिड़की के पास खड़ा हो गया। रॉड पर पीतल की रिंग के सहारे झूलते परदे को खड़खड़ाते हुए एक ओर समेट दिया और सामने देर तक खड़ा न जाने क्या देखता रहा।

बैरा ढंका हुआ भोजन का थाल रख गया। अधिकतर ऐसा होता है कि जैसा थाल बैरा शाम को रख जाता है, प्रातः वैसा ही उठा ले जाता है। तपन छूता तक नहीं।

सामने चौबीस नम्बर में रात-भर हल्का नीला जीरो वॉट का बल्ब प्लास्टिक

के पतले शेड में घिरा टिमटिमाता रहता है। वह महिला बच्चे के साथ हमेशा अकेली ही दीखती है।

तपन खिड़की पर खड़ा-खड़ा थक जाता है तो बिस्तर की ओर लौट आता है, जहां सफेद चादर के बीच बच्चे के जूते के भूरे निशान एक सिरे से दूसरे सिरे तक चले गए हैं।

वह सोने का प्रयास करता है, पर नींद नहीं आती। दिन-भर तो वह सोया ही रहा। फिर बार-बार नींद आने भी क्यों लगी! वह यों ही तकिये पर सिर टिकाये सोचता रहा। उस दिन के बाद वह क्यों नहीं आई! बंगाली महिलाओं की तरह उसकी बिना-किनारी की धोती के छोर पर बंधा, पीठ पर गिरा चाबी का गुच्छा कितना अच्छा लगता है। शायद उसका पति साथ होगा, इसलिए भी। हो सकता है, कुछ और काम, कुछ और कारण भी रहे हों। शायद अन्य औरतों की तरह एक रोगी व्यक्ति से वह भी कतराती हो। कुछ भी हो, उसे क्या! सभी औरतें समान होती हैं न! थोड़ी-सी नाममात्र की बात जिनके रूठने के लिए पर्याप्त होती है। वह अपने खादी के कुर्ते पर टंके, धागे के गोल-गोल बटनों को, दो अंगुलियों के बीच दबाए, नचाता रहता है।

आज कमरा उसे बहुत अच्छा लग रहा है। 'व्यवस्था' उसे बहुत अधिक भाती है। गन्दे कपड़ों का ढेर इधर-उधर बिखरा रहे, पुस्तकें उल्टी-सीधी पड़ी हों, जगह-जगह गर्द जमी हो, दियासलाई की जली-अधजली तीलियां, सिगरेट की कुचली हुई ठूँठियां और मैले बदरंग पर्दे हवा में उड़ते या खिड़की और दरवाजों पर उदास लटके हुए--इस माहौल में उसका दम घुटने लगता है। लेकिन जब वह बहुत अधिक बीमार रहता है, यानी कि कुछ भी कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं रहता, तब अपनी बेबसी उसे बुरी तरह अखरती है। ब्याह के बाद उसमें थोड़े-बहुत परिवर्तन रहे। किन्तु उसकी लम्बी बीमारी के पश्चात्, उसे हमेशा के लिए अपनी किस्मत के सहारे अकेला छोड़कर जब 'वह' किसी अन्य के साथ चली गई, तो उसे फिर किसी वस्तु की संवार न रही। वह हर तरह से टूटा, हर तरह से भिंचा-भिंचा, हर तरह से कटा-कटा रहा।

इस तरह औंधे मुंह बिस्तर पर पड़ा रहना भी उसे भार-सा लगने लगा। वह स्वचालित यन्त्र की तरह धीरे-से अपने-आप उठा। खूंटी पर लटका भारी कोट उतारा। किवाड़ खोले। 21, 22, 23...24 पर पांव अपने-आप ठिठक गए।

भीतर हमेशा की तरह हल्का नीला बल्ब टिमटिमा रहा था। दबे कण्ठ से लोरी की आवाज धीमे-धीमे कांपकर बिखर रही थी और देवदार की दीवार की दरारों से छन-छनकर प्रकाश के साथ बाहर आ रही थी।

चन्द क्षण वह उसी तरह खम्भे की भांति खड़ा रहा। फिर बाएं हाथ की उल्टी अंगुलियों की गांठों से द्वार पर टिक्-टिक् की आवाज की।

मुंह पर बिखरे बालों को दोनों हाथों से पीछे करके, महिला किवाड़ खोलकर सामने आ खड़ी हुई।

"आइए!" बड़े सरल, सहज ढंग से उसने कहा। जैसे वह रोज ही यहां आता हो, या उसका आज आना स्वाभाविक हो।

वह भीतर आया, तो महिला ने किवाड़ उढ़का दिए। कमरे में एक ही वेंत की कुर्सी थी, जिस पर बच्चे के धुले, बिना प्रेस किए कपड़ों का ढेर लगा था। उन्हें दोनों बांहों में भरकर पास ही अटैची के ऊपर रखती हुई बोली—"बैठिए!"

वह सामने बैठ गया। समीप ही बेबी के बिस्तरे के पास बैठकर, महिला उसे थपथपाने लगी—पहले की ही भांति। जैसे उसके आने से वस्तु-स्थिति में तनिक भी परिवर्तन न हुआ हो।

उससे कुछ न पूछकर महिला स्वयं बोली—"इधर फिर इसकी तबीयत बिगड़ गई है। कुछ दिन तो काफी सुधार रहा, पर अब वजन तेजी से गिर रहा है।"

"बीमारी क्या है?"

तपन ने घुटने के ऊपर घुटना टिकाकर, खादी के लम्बे कुर्ते की लम्बी जेब से पनामा का पैकेट निकाला और दियासलाई भी। डिब्बे के ऊपर सिगरेट के एक सिरे को टिक्-टिक् मारकर ओंठों में दबाया और सामने की ओर देखा।

"क्या बताऊं, किस्मत ही अपनी रूठी है!" महिला ने उत्तर दिया—"एक ही तो यह तिनका है, जिसके सहारे जी रही हूं। लेकिन जब से यह पैदा हुआ, तभी से बीमार है।" और वह चुप हो गई।

चुप्पी तोड़ते हुए तपन ने कहा—"डॉक्टरों को तो दिखलाया ही होगा!"

"दिखलाया क्यों नहीं!" महिला का स्वर आर्द्र था—"बहुतों ने जवाब दे दिया। कहते हैं इसे टी.बी. है। रोग बहुत आगे बढ़ गया है।"

"हैं...!" विस्मय से तपन ने कहा—"इतने छोटे बच्चे को भी टी.बी. होती है!"

"होती क्यों नहीं! बच्चों को तो और भी अधिक आसानी से हो जाती है। देखिए न, चेहरा कैसा पीला पड़ गया है—हल्दी की तरह!"

वह बच्चे के पांवों पर पशमीने के किनारे अच्छी तरह दबाने लगी, ताकि कहीं से भी हवा न लगने पाए।

"किसी सेनिटोरियम में नहीं दिखलाया?"

"भवाली में अभी थोड़े दिन पहले दिखलाया था। उससे कुछ दिन पहले दिल्ली के महरौली-सेनिटोरियम में भी दिखलाया था। कुछ महीने वहां रहा भी। लेकिन कोई खास नतीजा नहीं निकला। दूसरों के बच्चों का दर्द किसे होता है! तभी यहां आई हूं।...लोग कहते थे, नैनीताल की क्लाइमेट अच्छी है। जब आए थे तो एक महीने में सवा-दो पौण्ड वजन बढ़ा था। किन्तु अब उससे भी कम हो गया है, जितना यहां आती बेर दिल्ली में था।" उसके स्वर में अजीब-सी अधीरता, अजीब-सा कम्पन था।

बच्चा सो गया है। पुलोवर की लाल-लाल धारियां चमक-सी रही हैं, जिसके निचले काज में उसने अपनी तर्जनी डाल रखी है।

महिला धोती का चाबी बंधा छोर संभालती हुई उठी। भीतर कमरे में स्विच ऑन हुआ। फिर दियासलाई के जलने की आवाज और फिर स्टोव के भरभराने का स्वर।

थोड़ी देर में वह तौलिए से गीले हाथ पोंछती बाहर आई। इस बीच उसने शायद अपने को संभाल लिया था। माथे की शिकनें अब अधिक गहरी न थीं।

"खाना तो होटल में ही खाते होंगे!"

"जी हां।"

"अकेले ही हैं क्या?"

"ऐसा ही समझ लीजिए।"

"स्टिल बैचलर?"

उसने हल्के भाव से कहा—"बस, ऐसा ही कुछ।"

"यानी?" वह हंसी।

"यानी, यही कि बस कुछ भी नहीं।...आज की दुनिया में कौन किसका होता है! हम स्वयं ही खुद अपने नहीं, तो दूसरा कौन होगा अपना!"

अन्तिम वाक्य बड़ी वेदना से उभरकर आया था। शायद उसे यह बात नहीं कहनी चाहिए थी। ऐसी बातें किसी से कहने से क्या लाभ।

वह चुप था।

महिला चाय के दो प्याले लिए आई।

"यह कष्ट क्यों!"

"कष्ट क्या! केवल चाय ही तो है। पहाड़ों पर तो इसके बिना गुजारा ही नहीं होता।"

दो-चार चुस्कियों के बाद तपन ने प्याला कुर्सी के हत्थे पर रख दिया। बोला—"मेरे एक डॉक्टर मित्र हैं, मिस्टर वाई. बी. लाल। कल ही यहां आए

हैं। टी.बी. स्पेशलिस्ट हैं। कभी उन्हें दिखलाएंगे।" तपन ने रुककर सामने देखा, "लगता है, आप लाड़-प्यार अधिक करती हैं, नर्सिंग कम। मां अच्छी आया हो भी नहीं सकती...!"

"यही समझ लीजिए।" और वह ठक्-ठक् खोखली हंसी हंसी।

"यहां तो नौ बजे ही अंधेरा हो जाना है।" तपन ने बातों का सिलसिला आगे बढ़ाते हुए कहा–"सारे कमरों में सन्नाटा छा जाता है। अभी दस पूरे नहीं हुए हैं, लेकिन आपके और मेरे अलावा कोई भी जाग नहीं रहा है। केवल इसी कमरे में उजाला है...।"

महिला ने कुछ नहीं कहा। एक गहरी सांस भरी।

तपन चाय पीकर चुपचाप उठा। महिला अभी तक भी चुप थी।

तपन फिर चला गया। महिला अभी भी चुप थी। कमरा सांय-सांय कर रहा था।

सुबह उसके उठने से पहले ही, महिला उसके सामने तश्तरी से ढंका चाय का प्याला लिए खड़ी थी।

"आप अभी तक उठे नहीं!" महिला ने सहानुभूति के, शिकायत के स्वर में कहा–"तभी तो आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता।"

तपन कुछ कहे, इसके पहले ही उसने प्याला सामने कर दिया। "देखिए, आपके लिए रशॅन-चाय लाई हूं। सुबह-सुबह मुंह खट्टा करने के लिए।"

वह नहा-धोकर आई थी। बहुत भली लग रही थी।

वह झटपट बिस्तरे पर उठ बैठा और प्याला ओंठों से लगा लिया।

"आप भी खूब हैं!" महिला ने सरोष कहा–"बिना कुल्ला किए ही...।"

तपन खिसिया-सा आया।

जब तक उसने प्याला खाली न कर दिया, महिला हाथ बांधे खड़ी रही, "आपको खट्टी चाय पसन्द नहीं आई!"

उसने शायद सुना नहीं। सोचता हुआ बोला–"बेबी कैसा है?"

महिला ने भी शायद नहीं सुना। वह खाली प्याला लेकर चली गई। अधिक बातें आज, पता नहीं क्यों, किसी ओर से नहीं हुईं। दरवाजे को पार करती-करती वह क्षण-भर कुछ कहने को ठिठकी, किन्तु बिना कुछ कहे ही चुपचाप झटके के साथ बाहर चली गई।

तपन टहलकर आया। बाहर बरामदे में बेंत की आरामकुर्सी पर लेटकर कुछ पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते ग्यारह बज गए।

तभी बैरा आया—"हुजूर, जो है सो, चौबीस नम्बर में आपको बुलाया है।"

वह अधखुली मैगज़ीन कुर्सी के हत्थे पर टिकाकर, तेजी से चला गया। बेबी की तबीयत कहीं ज्यादा खराब न हो गई हो!

"कहिए, बेबी तो ठीक है न!" तपन ने पूछा।

"हां, लेकिन आप अब तक थे कहां? तीन बार आपको बुलावा भेजा। देखिए न, खाना पड़ा-पड़ा सब ठण्डा हो गया।"

सामने ही मेज पर भोजन की थाली थी और दरवाजे के समीप महिला खड़ी थी।

"यह क्या?" अचरज से तपन ने कहा।

"क्या-क्या कुछ नहीं। जल्दी खाओ। देखते नहीं, सब ठण्डा हो गया!" महिला का अपनत्व-भरा स्वर आवश्यकता से अधिक अधिकारयुक्त था।

"लेकिन मेरा खाना तो कमरे में कब से रखा है!" असमंजस में पड़ा, तपन अभी तक खड़ा था।

"वह खाना आपका नहीं, जानवरों का है। आपकी सेहत तभी तो इस कदर खराब हो गई है...।"

गूंगे-पशु की तरह चुपचाप तपन मेज पर बैठ गया और भोजन चुगने लगा।

सन्ध्या को जब महिला बेबी को लेकर तल्लीताल डॉक्टर साह की डिस्पेंसरी जा रही थी, तो तपन भी साथ था।

महिला ने आज एक के लिए नहीं, बल्कि दोनों रोगियों के लिए साथ-साथ दवा ली। अपने लिए भी कुछ गोलियां नींद आने की खरीदीं। तपन को कुछ ठण्ड की शिकायत थी, इसीलिए महिला बरस रही थी, कि उसे ठीक ढंग से रहना नहीं आता। वह हद दर्जे का लापरवाह है। उसे ठीक सवा-पांच पर उठना, सवा-छः पर टहलने जाना और सवा-सात पर नाश्ता लेना होगा। घर से बाहर निकलते समय ओवरकोट साथ होना चाहिए।

तपन चुप था।

प्रातः उसका कमरा वह स्वयं ही साफ कर गई। गन्दे कपड़ों का गट्ठर बैरा के कन्धे पर लदवाकर धोबी के पास भिजवा दिया। एक अच्छा-सा गुलदस्ता माली से मंगवाकर, किश्तीनुमा टेबिल-लैम्प की बगल में गोलमेज पर सजा दिया।

वह भोजन बनाने में जुटी तो तपन बेबी के साथ खेल रहा था।

उस दिन वे पाषाण-देवी से लौट रहे थे। बेबी साथ था। बहुत दिनों बाद, आज तपन को न जाने क्या सूझी! बोला—"देखिए, अभी सवा-छः भी नहीं बजे

हैं। अभी से घर लौटकर क्या करेंगे? थोड़ी देर तालाब में बोटिंग ही कर लें। आज किनारे पर कितनी नावें खाली खड़ी हैं!"

महिला ने भी पता नहीं क्या सोचकर 'ना' नहीं की। बिना कुछ कहे वह किश्तियों के अड्डे की ओर मुड़ी। बेबी भी हौले-हौले साथ चल रहा था।

बड़ी देर तक वे हिचकोले खाते इधर-उधर घूमते रहे। नाव घण्टे-भर के लिए थी। अतः जल्दी मल्लीताल पहुंचने अथवा वापस लौटने का प्रश्न न था। तीनों चुप थे। तपन स्वयं डांड चला रहा था। डांड जब पानी को चीरता, तो कभी-कभी हल्का-सा एक भंवर रच जाता, और पानी के कई छोटे-बड़े बुलबुले बुद-बुद इधर-उधर बिखर जाते।

"यहां के पानी का रंग बहुत गहरा हरा है न!"

"हां।"

बेबी एक किनारे झुका, हाथ से पानी छपछपा रहा था।

"लेक बहुत गहरी होगी न!"

"हां।"

दोनों फिर चुप थे।

"मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता था...।"

"पूछिए।"

"नहीं, किसी की पर्सनल बातें नहीं पूछनी चाहिएं...।" तपन ने असमंजस से कहा।

"न पूछनी चाहिएं तो मत पूछिए।"

वह हंसी। तपन भी।

"सुनिये, इतनी दूर परदेस में आप अकेली क्यों रहती हैं?"

"अकेली कहां हूं! बेबी तो है न साथ।"

"बेबी के फादर?" कहते-कहते वह अटक गया।

"बेबी के फादर बेबी की किसी मदर के साथ कहीं मौज उड़ा रहे होंगे।" वह व्यंग्य-भाव से हंसी—"ढलती उमर के लोगों को कौन पूछता है। उस पर पैसा हो तो फिर...क्यों, ठीक है न!"

तपन समझा नहीं।

"रहने भी दीजिए," महिला ने गम्भीर स्वर में कहा—"सब जानकर क्या करेंगे! कुछ अनजाना ही रहने दें, तो क्या हरज है, क्यों?" वह फिर हंसी। किन्तु वह हंसी बड़ी वैसी थी।

तभी कुहासा घिरने लगा। हवा चलने लगी। नाव भी इधर-उधर बहकने

को हुई तो महिला ने बेबी के गीले हाथ अपने आंचल से पोंछकर, उसे गोद में ले लिया।

"कितना अच्छा होता, यदि यह नाव डूब जाती, और यहीं जल-समाधि में हमेशा के लिए हम सब सो जाते ! इस जिन्दगी में धरा ही क्या है?" और कुहरे से भरे आसमान की ओर देखकर तपन चुप हो गया।

थोड़ी देर बाद मौन तोड़ती एक गहरी सांस भरकर महिला बुदबुदाई-- "लेकिन ऐसा होगा नहीं। न नाव उलटेगी, न हम डूबेंगे--भले ही इस जिन्दगी में कुछ भी धरा न हो। उसका इस सबसे कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता।... अपना सलीब अपनी पीठ पर हमें खुद ही ढोना पड़ता है--खुद ही...!"

तपन दोनों डांड बराबर चलाता, हांफता रहा। बड़ी देर बाद उसे खयाल आया कि एक घण्टा तो कब का बीत गया, और अब चारों ओर अंधेरा है।

उसने मुड़कर देखा--सोए बेबी की पीठ पर सिर टिकाए महिला सिसक-सिसककर चुपचाप रो रही है।



पाषाण-गाथा

नदी पार करन के पश्चात् हल्की-सी चढ़ाई थी और उसके बाद यह दूसरी दुनिया। घने वनों के बीच बिछी हरी चादरें—ओर-छोर का कहीं पता ही न चल पाता।

अभी गर्मी आरम्भ नही हुई थी, फिर भी गेहूं के बित्ते-भर ऊंचे पौधे हवा में लहलहा रहे थे। किसी ने बतलाया—ये नई किस्म के पौधे हैं, इससे ऊंचे नहीं जाते। जितना लम्बा डंठल है, उतनी ही लम्बी बाल भी लगती है।

उस पार आसमान की ओर उभरी एक नीली धुंधली रेखा साफ दिखलाई दे रही थी—पर्वतों की माला।

सामने कतार में झोंपड़ीनुमा कच्चे घर थे—घास-फूस के। अब याद नहीं, उनकी छतें टीन की चादरों से ढंकी थीं या घास-पयाल से। इतने लंबे वक्फे में तो बहुत-सी बातें यों ही धुंधला जाती हैं।

हां, जब हम वहां पहुंचे तो अजीब-सा लग रहा था। एक ऊंचा-सा काला शेड दाहिनी तरफ खड़ा था—वर्कशाप जैसा। काले कपड़े पहने कुछ मजदूर काम पर जुटे थे। कहीं भट्टी में गरम लोहा तप रहा था। घन की भरपूर चोट से तपते लोहे को निश्चित आकार दिया जा रहा था। कुछ मजदूर लोहे के भारी शहतीर को उठाने का असफल प्रयास कर रहे थे। वहां शोरगुल कुछ अधिक था। धुएं के साथ-साथ धूल थी। उड़ती हुई रेत इतनी अधिक कि देर तक ठहर पाना कठिन लग रहा था।

तभी सामने अधेड़ उम्र का एक आदमी आया। उसकी घनी मूंछें डरावनी लग रही थीं। भौंह के काले बाल गुच्छे की तरह गुंथे हुए।

"फारम का काम आने वाला अउजार हम अपनेई ठीक कै लेइत हैं।"

उसने कहा।

"कब से हैं यहां?" मैंने पूछा।

"तिन साल येहि चैत मा पूरा होई जाई।"

"रहने वाले कहां के हैं?"

"सुलतानपुर कै।"

बगल में खड़े अधिकारी ने मेरे कान के पास मुंह ले जाकर फुसफुसाते हुए कुछ कहा—इतने धीमे स्वर में कि सामने खड़ा व्यक्ति न सुन सके। फिर भी पता नहीं, किस तरह वह भांप गया। बोला, "हमहु भी सजा आफता अहि—मुजरिम...।"

"किस अपराध में?"

"दफा तीन सौ दोई—उमर कइद।"

मुझे आघात-सा लगा।

"जुर्म?"

"क-तल।" उसने सहज भाव से कहा।

पर मेरा मुंह तनिक खुल-सा आया।

"यहां सभी कैदी लगभग ऐसे ही हैं।" अधिकारी ने बतलाया, "अधिकतर दफा तीन सौ दो के हैं—आजन्म कारावास वाले।"

आस-पास खड़े अन्य व्यक्तियों को भी उन्होंने इशारे से पास बुलाया।

हत्या! मार-पीट! डकैती!

सुबह तड़के जब यहां के लिए रवाना हुए, तब कुछ-कुछ सर्दी थी। किन्तु इस समय दोपहर की धूप कहीं चुभ-सी रही थी।

समीप ही पेड़ के नीचे धूल से ढंकी, काठ की टूटी हुई दो-तीन पुरानी कुर्सियां पड़ी थीं। रूमाल से उन्हें साफ कर किसी तरह बेठ गए।

साथ आए सज्जन चाय की व्यवस्था करने चले गए।

कुछ देर पश्चात् पुलिस अधिकारी के पीछे-पीछे एक नाटा-सा व्यक्ति केतली और लोहे के गिलास थामे, लम्बे-लम्बे डग भरता चला आ रहा था। उसकी सामने वाली जेब कुछ उभरी हुई थी—बिस्कुट के छोटे पैकेट का ऊपरी हिस्सा साफ दिखलाई दे रहा था।

चाय लाने वाला भी कोई कैदी था, बनाने वाला भी।

पता नहीं चाय क्यों इतनी बेस्वाद लगी! एक अजीब-सी गंध आ रही थी। पानी ही ऐसा होगा, मैंने मान लिया था।

इस खुली जेल के बारे में कुछ विशेष जानकारी हासिल करने के लिए

मैं यहां आया था। इन विकट अपराधियों को, इस तरह मुक्तभाव से विचरण करते देख, मुझे अजीब-सा लग रहा था—एक विचित्र-सी दहशत। ये भागते नहीं होंगे? आपस में ही कभी फिर कत्ल!

"अभी आपको क़ैदियों के फार्म की ओर भी जाना है। गेहूं की यह फसल इन्हीं कैदियों ने उगाई है। यहां पहले बियाबान जंगल था। इन्हीं लोगों ने उसे साफ किया था।" खाकी कपड़े पहने एक व्यक्ति पास आकर बोला।

कुछ क्षण विश्राम करने के पश्चात् हम फिर आगे बढ़े—खेतों की तरफ।

यहां परती धरती तोड़ी जा रही थी। दो-तीन ट्रैक्टर धूं-धूं करते हुए, ढेर सारी धूल एक साथ उड़ा रहे थे। ट्रैक्टरों के पीछे-पीछे कुछ लोग नंगे पांव दौड़-से रहे थे—जो भी पत्थर सामने दीखता, उठाकर एक ओर जमा करते चले जाते।

जहां ट्रैक्टर चल चुके थे, वहां टोलियों में बिखरे लोग घास-फूस इकट्ठी करके जला रहे थ। जगह-जगह घास की ढेरियों के पास धुआं उठ रहा था। बुआई के लिए खेत यथाशीघ्र समतल हो जाएं, सब इसी प्रयत्न में जुटे दीख रहे थे।

सिर पर मोटे खद्दर की मैली-सी टोपी, उसी कपडे की आधी बांह की बंडी, घुटने तक का वैसा ही पाजामानुमा कच्छा पहने कितने ही लोग यंत्रवत् काम में जुटे थे। अलग-अलग दिशाओं में अनेक टोलियां फैली थीं।

घटों तक पैदल इधर-उधर चलने के पश्चात् अन्त में हम उस सिरे पर पहुचे, जहां कैदी मजदूरों ने अपने ही प्रयत्नों से एक नाले का बहाव रोककर, छोटी-सी कृत्रिम झील बना ली थी। बाच पानी में कई पेड़ आधे-आधे डूबे थे। किनारे की लाल कच्ची मिट्टी अभी तक भी गीली थी, जैसे अभी-अभी झील का निर्माण-कार्य समाप्त हुआ हो!

कुछ और आगे बढ़कर अंधेरे जंगल के सिरे पर पहुंचे तो वहां गीली जमीन पर शेर के पंजों के जैसे निशान दिखलाई दिए।

"यहीं पर कुछ दिन पहले शेर ने एक कैदी को मार डाला था...।" पुलिस अधिकारी ने और आगे न बढ़ने के लिए चेतावनी-सी देते हुए कहा।

जब हम पीछे मुड़ने लगे तो सूरज फिसलता हुआ क्षितिज के समीप पहुंच चुका था।

फार्म की सीमा-रेखा के निकट, एक ऊंचे वृक्ष की शाखाओं पर, हवा में झूलती एक झोंपड़ी-सी अटकी थी—इतनी छोटी कि एक व्यक्ति पांव फैलाकर सो भी न पाए।

"यह किसलिए...?"

"रात में पहरेदारी के लिए यह मचान बना रखा है कि कहीं कोई कैदी निकल न भागे।"

"पहरेदारी कौन करता है?"

"इन्हीं कैदियों में से...।"

तभी सामने से गुज़रते कैदी को आवाज लगाई तो वह सहमता हुआ खड़ा हो गया।

"आजकल यही पहरेदारी कर रहा है।"

"सारी रात इस जंगल में अकेले बैठे डर नहीं लगता?"

वह बोला कुछ नहीं—बस, यो ही देखता रहा।

"कभी घर जाने को मन करता है?"

उसने मात्र सिर हिला दिया।

"अब कितने बरस बाकी हैं?"

"..."

"यहां की जिन्दगी बहुत कष्टकर है न।"

इस बार भी वह काठ-सा देखता रहा।

उसकी उदास आकृति पर राख-सी पुती थी। सूनी आंखें यंत्रवत् खुलीं। घास-सी उगी दाढ़ी के बाल बेढंगे लग रहे थे।

"कोई कैदी इस खुली जेल से कभी भागता तो नहीं?" मैं पुलिस अधिकारी से पूछता हूं—चलते-चलते।

"ऐसे वाकये कम ही होते हैं...।"

सूरज ढलने के साथ-साथ सभी कैदी-मजदूर डेरे की दिशा में लौट रहे थे—हारे-थके-से। प्रायः सबके सिरों पर जलाने के लिए एकत्र की गई लम्बी-सूखी लकड़ियों का छोटा-सा गट्ठर था। सब बेजान-से लग रहे थे—मशीन की तरह।

पूर्वी क्षेत्र में एक छोटा-सा हिस्सा अभी देखना बाकी था। जल्दी-जल्दी उसे देखकर लौटे तो आसमान पर ढंकना-सा लग गया था, काले कंबल का, एकदम घुप्प अंधियारा।

अंग्रेजी के 'एल' के आकार में बनी झोंपड़ियों के आगे खुला-सा बंजर मैदान था—छोटा-सा, जिसमें बीसियों चूल्हे अलग-अलग जल रहे थे। अल्युमीनियम की पिचकी हुई काली पतीलियों पर चावल जैसा कुछ बुदबुद करता हुआ उबल रहा था। दिन-भर के श्रम से थके सभी कैदी रात का भोजन बनाने में जुटे थे।

"राशन सरकार देती है?"

"जी हां।"

"पेट भर जाता है?"

"हां।"

एक जवान कैदी की ओर मुड़ता हूं, "घर मे मिलने कभी कोई आता है?"

"दूर के रिश्ते की एक बुआ थी। साल-छह महीने में कभी खाने-पीने का कुछ सामान बेचारी डाल जाती थी। पर इस वर्ष माघ महीने में वह मर गई...।" उसका मासूम चेहरा एकाएक उदास हो आया था।

"घर में और कोई नहीं...?"

"न्नां...।"

उसके चेहरे पर अजीब-सी व्यथा, अजीव-सी विवशता थी। उसे देखकर लगता नहीं था कि इससे इतना बड़ा अपराध हुआ होगा, जिसकी ऐसी कठिन सज़ा भुगत रहा है।

केदियों की झोंपड़ियां भीतर से बैरकनुमा थीं—खुली हुई। नीचे मिट्टी के कच्चे फर्श पर सूखा पयाल बिछा था, उसके ऊपर कोई फटा कबल या चटाई मात्र। किसी-किसी कैदी के पास छोटा-सा बदरंग बक्सा भी था। कहीं पर जंग लगे टूटे कनस्तर मे ण्चिका हुआ पुराना ताला भी लटक रहा था—शायद घर से भेजी वस्तुएं सुरक्षित रखने के लिए।

मैं सोचता रहा—वस्तुएं भी क्या होंगी, इन अनिकेत विस्थापितों के पास। तन के कपड़े, फटे कंबल, चावल, आटा, बीड़ी, गुड़। इनके अलावा और क्या?

आंगन की दाहिनी तरफ, एक कोने में मूर्ति का-जैसा एक ढांचा खड़ा था।

"यह मूर्ति किसी कैदी ने बनाई है क्या?" जिज्ञासा से मैने पूछा।

"जी हां।"

उसी के निकट चूल्हा जल रहा था। एक बूढा केदी गर्दन झुकाए, ऊघता हुआ बेठा चावल उबाल रहा था। सैंवार की तरह उलझे बाल। कोटरों मे धंसी निस्तेज आंखें! झुर्रियों से ढंका चेहरा!

"इसी ने बनाई है...पहले बरेली सेन्ट्रल जेल में था। सुना है, वहां भी ऐसा ही कुछ करता रहता था।" पुलिस अधिकारी ने बतलाया।

हमें पास देखते ही उसने उठ खड़े होने की कोशिश की। उसकी कमर धनुष की तरह झुकी थी—अधखुली आंखों में जिज्ञासा का-सा भाव।

"बहुत अच्छी बनाई है।" मूर्ति को मैंने हाथ से छूकर देखा-परखा।

वह संकोच से और छोटा हो आया—सिकुड़कर। मेरी ओर देखता हुआ

बोला, "यों ही कुछ...अब आंख से बहुत कम देख पाता हूं। हाथों में भी जान नहीं रही।"

"यहां कैसे आ गए...?"

कुछ देर वह वैसा ही देखता रहा—निर्निमेष। फिर धीरे-से बुदबुदाता हुआ बोला, "हत्या और बलात्कार का जुरम लगा है साब...।"

अब आग के और निकट होने के कारण उसका सूखे खजूर-सा चेहरा और भी पीला लग रहा था। मकड़ी के जाले-जैसी अनगिनत रेखाओं से ढंकी आकृति पर एक साथ कितने ही भाव आ-जा रहे थे—पानी पर डोलते प्रतिबिम्ब की तरह।

"कैसे हो गया यह सब...?"

"क़िस्मत में यही लिखा था, हुजूर! उसकी लिखी को कौन टाल सकता है?"

ठंडी हवा से उसके तन पर लटके चिथड़े ही नहीं, उसका सारा बूढ़ा शरीर सूखे पत्ते की तरह कांप रहा था। अपनी कुहनियों की बगल में दोनों नंगे हाथों को सर्दी से बचाने के लिए, छिपाने का असफल प्रयास कर रहा था।

"कैदियो के साथ इतनी लंबी उम्र गुजारने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि कोई भी आदमी 'बेसिकली' बुरा नहीं होता। आवेश के किसी क्षण में कभी-कभी कुछ-का-कुछ हो जाता है।" पुलिस अधिकारी ने दार्शनिक अंदाज में कहा।

हम लोग थोड़ी देर यों ही खड़े रहे। एक-एक पल भारी लग रहा था—एकदम बोझिल। चूल्हे की धुंधली आग के उजाले मे मूर्ति का ढांचा अब और भी साफ दीख रहा था।

भारी मन से हम लोटने लगे। अभी कुछ ही कदम अंधेरे मे रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़े तो पीछे से किसी के आने की आहट हुई।

मुड़कर देखा—वह फिर सामने खड़ा था, तनिक हांफता हुआ।

"आपका मफलर रह गया था। जमीन पर गिरा था।" उसने मफलर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा।

जब मैं मूर्ति को टटोल रहा था, तब कंधे पर से शायद नीचे गिर पड़ा हो।

"आप ही रख लीजिए।" मैंने पता नहीं क्या सोचकर कहा।

"नही-नहीं।" वह और करीब आया।

"अरे भाई, हम कह रहे हैं। रख भी लीजिए। क्या फर्क पड़ता हे!"

मैंने मफलर उसके हाथ में दिया, तो वह ठगा-सा खड़ा देखता रहा।

"आप और भी अच्छी-अच्छी मूर्तिया बनाएं, हमारी शुभकामनाएं हैं...।" मफलर अभी तक भी उसके हाथ में यों ही धरा था।

कुछ सोचता हुआ बोला, "मैंने कुछ और भी मूर्तियां बनाई हैं—मिट्टी की। दिन की रोशनी में आप आते तो दिखलाता। आपके चेहरे के भावों से लगता है, आप कला के अच्छे पारखी हैं...।" कहते-कहते वह सहसा चुप हो आया। फिर तनिक रुककर बोला—"आपको भी यही लगता है कि मैंने हत्या की है?"

"..."

उस अंधकार में मैं महसूस कर रहा था, वह अपलक मेरी ही ओर देख रहा है।

"किसी से कहिएगा तो नहीं..." वह मुझे पुलिस अधिकारी से कुछ दूर एकान्त में ले जाता हुआ बोला, "यह भूल...यह भूल मुझसे नहीं, मेरे बेटे से हुई थी। भरी जवानी में उसे फांसी के तख्त पर झूलते या उमर कैद की सज़ा काटते में कैसे देख सकता था? इसलिए जुर्म मैंने खुद ओढ़ लिया।...यों मुझे अब जीना ही कितना है—हद-से-हद साल-छह महीने बस...!" उसका स्वर भारी हो आया।

"बच्चे कभी मिलने आते हैं?" मैंने असह्य मौन तोड़ते हुए कहा।

वह कुछ भी बोल न पाया प्रत्युत्तर में।

"चिट्ठी-पत्री आती है...?"

"न्नां...।" कहीं खोया-खोया-सा वह बोला, "कौन लिखेगा मुझे चिट्ठी... सब मुझसे घृणा करते हैं। यही समझते हैं कि यह सब बुढ़ापे में मैंने ही किया। सगे-संबंधी कतराते हैं। पत्नी मेरा मुंह तक नहीं देखना चाहती...। जिस बेटे के लिए मैंने यह सब किया, वह मुझे कब का मरा मान चुका है...। ये सारे कैदी, जिनकी चादरें मुझसे भी अधिक मैली हैं, मुझ पर थूकते हैं...। किन्तु मुझे इस सबसे दुःख नहीं होता। मेरे बच्चे सुख से रह रहे हैं—इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए?"

उसकी आवाज भीग आई थी। किन्तु वह अपनी रौ में बोलता रहा, "यहां मजदूरी के मुझे साढ़े चार रुपए रोज मिलते हैं। अब तक मेरे खाते में जितने भी रुपए जमा हैं, सब मैंने उनके नाम करवा दिए हैं। मेरे मरने के बाद उन्हें अच्छी रकम मिल जाएगी...बहुत अच्छी...।" उसकी लड़खड़ाती आवाज में कहीं अपरिमित संतोष का-सा भाव उभर रहा था। इससे अधिक वह कुछ बोल न पाया।

उस सघन अंधकार में धूल उड़ाती हुई हमारी जीप जब लौटने लगी, तब मैंने सहसा मुड़कर देखा—वह वैसा ही पाषाणवत् खड़ा था।

□

काला दरिया

अभी वह काला सांप आएगा। दैत-जैसा। चेहरे पर जैसे तारकोल चुपड़ रखा हो। अपनी लाल-लाल शराबी आंखों से घूरकर देखेगा। फटे बांस की-सी भर्रायी, कर्कश आवाज में कहेगा—"बा-ई-ई, कित्ते की आमद हुई?—च्च, हरामजादी, बदजात! खुदा का शुकर समझ...।"

अभी आज फिर हरु'का आएगा। घिघियाता हुआ, खोपड़ी खुजाता हुआ कहेगा—"द वे, आ उदुली, तेरे सिर पर गख पड़े। कुछ नोन-तेल के लिए धेला-टका देती है या बाल-बच्चों को जहर खिला दूं। इस काली मन-मन माल-भाभर से घर कैसे लौटूं? सब पहाड़ चले गए हैं, गाय-डंगर, कव्वा-काकड़ तक। लेकिन मैं टूटी कपालि का मरने के लिए कहां रह गया हूं..। जाड़ों-भर धेले की आमद नहीं हुई तेरी कसम।"

रोएगा, गिड़गिड़ाएगा। बेशरम। पांवों पर हाथ धरके कपाल टिका देगा। कहेगा—"अपने उस्ताद से मांग ले। रोज कमाई कर रही है, मुझे ही कुछ करजा दे दे। अगले साल बनबसा-चकरपुर जाऊंगा तो पाई-पाई चुका दूंगा। तेरी बलै हो ओ उदी!" कहकर मन की पूरी कर लेगा। पैसे भी झाड़कर ठग ले जाएगा, सो अलग।

उदुली का मन भीज-भीज आया। आंखों पर न मालूम किस रेतीले ज़हर का धुआं घुट गया है। रोकर भी एक बूंद पानी नहीं टपकता।

सस्ते पाउडर की गख से पुता झुर्रियों-झाइयों से ढंका चेहरा एक बार वह फिर बुझे शीशे में देखती है, जिसका पारा भीतर से उखड़ गया है। किनारों पर पानी के भीगने के छींट-से उभर आए हैं—दही के जैसे छींटे।

न जाने क्या सोचकर उसने फिर मुंह फेर लिया।

हां तो...। उसने एक गहरी सांस भरी—तो फिर आज—हरु'का...!

हरु'का, शराब के नशे में झूमता, लड़खड़ाता, बड़बड़ाता हरु'का, जिसने कल कमरे में पांव धरते ही कुत्ते की तरह कै कर डाली थी।

उदुली ने रोष में भड़ककर तब खूब डांट-फटकारा, यहां तक कि उसके कपड़े नोच-नोचकर फाड़ डाले थे। दांत पीसते हुए गाल पर चांटा जड़ दिया था—"अब फिर मुंह दिखलाने चला आया है ओ हरु'का, अपनी दीदी के पास! इजा (अम्मा) के पास! कका कहती थीं न तुझ कलमुंहे राकस को! लेकिन तूने सरेआम, भरी बाजार में मुझे नंगी कर टके-टके के मोल बेच डाला। कहीं की भी नहीं रख छोड़ा। तेरे दुःख के मारे, तेरे गांव-गिराम वालों के वचन-बाणों से बिंधकर, अपने टूटे करम को रोने के लिए इत्ती दूर, इस नरक में चली आई। लेकिन, तू यहां भी खोज-खबर लेकर चला आया मुझे फिर लूटने!"

उसने तब एक-एक कर अपने कपड़ों को उतारकर, उसे एक-एक घाव गिनाए।

"देख, देख रांडका, यह सब तेरी बदौलत हुआ। उस्ताद डंडे से पीटता है—जिस दिन कम मजूरी होती है। तूने जिन्दा ही मुझे इस घोर पीव के कुण्ड मे धकेल दिया। कसाई, तुझ पर कीड़े पड़ेंगे, कीड़े!" वह फूट-फूटकर रो पड़ी थी।

ओर, तब पता नहीं कैसे आवेश में उबलकर उसने हरु'का के मुंह पर थूक दिया था। लेकिन वह बेशरम, चाट गया।

उदुली का बेडोल गात आंधी-पानी में डोलता, पीले मालू के पात की तरह कांप आया। वह ईंटों से पटे, तार की पत्तियों वाले बरामदे में निकल आई। जैसे अन्दर-ही-अन्दर उसका दम घुट रहा हो।

उसने अचरज-भरी उदास बुझी आंखों से चारों ओर इस तरह देखा, जैसे यह सब जीवन में पहली बार देख रही हो। बड़ी अजीब-सी, भुरजी के भाड़ की तरह अंचती धरती, गरम लू के सनसनाते थपेड़े, चहचहाकर दूर कहीं उड़ती चिड़िया, सामने के बंजर मैदान में चरते एकआध मरियल गधे, रेत का आसमान की ओर उठता हुआ धुंधला गुबार।

वह फिर कमरे में लौट आई।

लगता है, आज कोई भी आएगा नहीं। उसने सोचा—इस गरम में अच्छा-चंगा आदमी भला आने भी क्यों लगा? कहते हैं, नकटे रज्जन म्यां की अकल में पाथर पड़ गया। लकड़ी का ठेका अधूरा छोड़कर पीलीभीत भाग गया। शराब-भट्ठी का मालिक वह थुलथुलिया थोकदार ज्यू भी सुना पहाड़ चला गया।

वह टेसनिया मास्टर पीनक के नशे में कभी चट्-चट् सीढ़ियां चढ़ लेता था। वह कलमुंहा भी पता नहीं कहां चला गया। दरवाजे से ही हांक लगाता था। सारी रात सोने नहीं देता था। रेल की ही कलमुंही बाते दुहराता था। और बाकी तो सब ऐसे ही बन के बनाड़ हैं, कुकुर-काकड़ों की तरह छाती लूछते ही रहते हैं। ईटों के भट्ठों में काम करने वाला चमार-सा काला, झक्क-सफेद दाढ़ी वाला, लंगड़ा बूढ़ा मुन्सी। कत्था बनाने वाला पुरबिया चाई। उदोर-उदोरकर बोलने वाला चौकीदार—मुंह से सड़ी बास आती है। हां, आज फिर...'

एक तस्वीर घिनौनी-सी खिंच गई।

लू का तभी एक जलता झोंका आया। उसने किवाड़ फटाक् से बन्द किए। मुंह का पसीना आंचल से पोंछा। कटे केले के तने की तरह बिछौने पर लुढ़क गई।

धोती एक ओर बिखरकर सिमट गई, लेकिन उसने ध्यान नही दिया। जब से यहां आई हे, नारी-जन्म की सारी लाज-शरम समेटकर, उसने छत पर टांग दी है। अब उसे कुछ भी करने, कुछ भी कहने में हिचक मालूम नहीं होनी। शायद वह अब ओरत रही ही नहीं। औरत की केवल एक लाश है, मगी हुई, गली हुई लाश—जिसे गली-मुहल्ले के सियार-कुत्ते वक्त-बेवक्त नोचते रहते हैं। जिसे खाते भी हैं, जिस पर थूकते भी हे।

उसकी आंखों में धुआं-सा घिर आया।

उसे अपना नन्हा-सा वह पहाड़ी गांव याद आया, जिसकी बगल से कलकलाती छोटी-सी खोली (नदी) बहती थी। संखमरूड़ की एक सफेद लकीर-सी खिंच जाती थी दूर तक। सामने देवदार के पेड़ों की ओट में बड़ा-सा गगनाथ ज्यू का थान, जहां वह कभी अपनी बूढ़ी आमा के साथ तीज-त्योहारो पर गंगाजल चढ़ाने जाती थी। हजारी के लाल-पीले फूल, ताबे के पंच-पात्र मे वही समेटकर ले जाती थी। उसके ठीक सामने, परली पार वनतोली का इसकूल। टिकाराम पण्डत ज्यू। ककराली के एक खुटिया बुड़ पण्डत ज्यू!

"द वे ओ उदुली, तेरी खोगी में कोरे अकास से वजर वरसे! तेरी झोगली झोड़ झुके। अगि, इसकूल नहीं चलती। सुकिया, खिलिया, जई सब चले गए हैं। टिकाराम पण्डत ज्यू की टन-टन घांट खनखना रही हे, गंगनाथ के मन्दिर की तरह। गोरू-वछिया सव बन-वेत चले गए हैं। घंसारियां घास को चली गई हैं। द, तेरी कपाली मे आग लगे...!"

दूसरी ओर से देर तक आवाज नहीं लौटती।

हरु'का विजोरे की तरह तमतमाया मुंह बनाता है। जैसे झिमौड़े (बर्र) ने

काट खाया हो।

उदुली तब भी नहीं आती तो झन्नाकर पाटी-बस्ता धूप से बचने के लिए सिर पर रख लेता है। धमाधम बनतोली के इसकूल की बेत-भर चौड़ी बटिया पार करता है—"न आ! न आ तिथाडीजानी! न आ..." अपने-आप बुदबुदाता है—"न आ।"

वह मन-ही-मन कुढ़ता है, झुंझलाता है और तो कोई उसे साथ नहीं ले जाते। चेलि (लड़की) है करके, वह रुकता है तो हज़ार नखरे दिखाती है।

वह चलता चला जाता है।

"हरु'का! हं, हो हरु'का! तुमगी पौ (पांव) की बले। रुकौ हों।" पीछे से बेतहाशा भागती उदुली चिल्लाती है। पर, हरु'का सुनी-अनसुनी कर देता है। वह जानता है, उदुली की बच्ची जरूर आएगी। आगे अंधियारा, मिसाला जंगल है। लमजुगिया भूत और उल्टे पेताने वाली अंधी आंचरी के हजार किस्सों से उसके रोंगटे वैसे ही खड़े हो जाते हैं। उस पर छन-छन, मन-मन करता गधेरा आएगा तो रोने लगेगी, चुडेल! वह रुकने के बदले और तेज चाल से, शिकारी की दुनाली की नोक में भागने वाले घुरुण की तरह चौकड़ी भरने लगा।

उदुली दौड़ती-भागती, हांफती उस तक पहुंचती है, तब वन का खराब रास्ता कट जाता है।

हरु'का वनखण्डी के राजा शेर की तरह रौब से उसकी ओर देखता है। कहता है—"ले, ओ उदुली मरजानी, उठा यह मेरा बस्ता!" अपनी तख्ती भी वह उसके सिर पर लाद देता है। "तेरे लिए रुक जो गया, नहीं तो लमजुगिया तेरी आंतें गाज्यो की रस्सी की तरह निकालकर वहीं पर ढेर कर डालता।"

चुपचाप बछिया की नाई उदुली चलती है।

"मेरे लिए ककड़ी नहीं लाई?"

"घौल (गरम राख) में सिके आलू-पिनालू भी नहीं?"

"अपने ठुल बाज्यू के आंगन से दाड़म भी चोरकर नहीं?"

"अरी खसमखानी, रांड, देखती क्या है? मेरे पांव की मालिश कर, यों कर, यों।...अच्छा, अब मैं करूं तेरी मालिश!"

वह लजाकर लाल हो जाती है।

एक दिन उदुली के पांव पर पत्थर से चोट लग गई थी। हरु'का घुटने पर बहता खून देखकर उसकी ओर लपका। पहले तो हथेली से देर तक दबाए रहा, पर जब खून का बहना रुका नहीं तो घाव पर मुंह लगाकर चूसने लगा।

"द, वे हो हरु'का, तुमने मेरा खून पी लिया! अब तुम मनस-खात,

आदमखोर हो गए!"

हरु'का का अट्टहास कर उठता है। उसके होंठों पर लगा खून देखकर उदुली डरती है। लेकिन वह और जोर से खिलखिलाता है—"डरती क्या है, मैं जोगी-बाघ हो गया। एक दिन तुझे ही नोच-नोचकर खाऊंगा, समझ-ई-ई!"

वह भी हंस पड़ती है उसके साथ।

फिर एक दिन स्कूल से लौटते वक्त पहले तो उसे मूंगफली खिलाता है फिर छेड़खानी करता है।

उदुली की समझ मे कुछ नहीं आता। फिर भी उसका अवोध मन जानता है, यह बात भली नहीं।

"मे सबसे कह दूंगी, घर जाकर—हां-आं-आं!" और थू-थू वह मूंगफली थूक देती है।

हरु'का मारने दोड़ता है। उसकी चोटी पकड़कर एक धोल जमाता है। वह लुढ़क पड़ती है। अंगूठे में गहरी चोट लग जाती हे तो वह खुद भी रोने लगता है और कसम खाता है—अब ऐसी-वेसी बात नहीं करेगा।

उदुली के पिता हरबल्लभ पधान जब मरे तो वह सवा-तीन साल की थी। विधवा मां ने पाला-पोसा। न जाने कहा-कहां, किस-किसके खेतों पर चाकरी करके। ध्योंताली का जसा एक नन्हा-सा घोंसला वनाया—दांतों से तिनका बटोर-बटोरकर। किसी तरह उसके हाथों कन्यादान हो जाए। चारों धाम के सारे तीरथ-वरत आगन में बेठे ही हो जाएं। कोख-जायी कन्या के दान से महादान इस जग में और ठहरा भी क्या? अपनी हथेली का मांस खाकर पता नहीं किस तरह से, बत्तीस दांतों के बीच अकेली जीभ की तरह डरते रहकर उसने अपने कुल-पितरों की आन रखी। कोई कह तो दे कि किसी की तरफ कभी बुरी आंख से देखा तक हो। औरतें हजार रांड होकर भी क्या-क्या करम-कुकरम नहीं करतीं! लेकिन वह...!

पर एक दिन खुले आकाश में धूल-भरी आंधी उमड़ आई। देखते-देखते वन में आग लग गई। उदुली का स्कूल जाना बन्द हो गया। आधी रात को, खूंटे पर हाथ बांधकर, मुह में कपड़ा ठूंसकर खूब मारा था। "कलमुंही, तुझे उस चाण्डाल के साथ अव देखा तो जलते मलखुए से मुंह झुलस दूंगी। गधेर में बहा दूंगी। मल्लेघर खिमुली की काकी कहती है कि उसने अपनी आंखों से देखा है। कितने दिन देखा हे। भरी दोपहरी में वह...।"

कई दिनों तक उदुली वाहर न निकली। अन्दर-ही-अन्दर रोती रही। वह जानती है, हरु'का बुरा हे। उसके मना करने पर भी जोर-जवरदस्ती करता है।

लेकिन उसकी लाख बुराई के बावजूद वह कोन-सी अच्छाई है जो उसे भली लगती है।

जब मां खेत पर गई होती तो वह चुपके से आता। बाहर से ही झांककर रुआंसा-सा चला जाता।

ग्यारह खतम और बारह शुरू होते-होते उदुली का ब्याह हो गया था।

तब हरु'का खूब रोया था। उसने खूब भांग पी थी। जब वह घर आई तो पनघट पर टकरा पड़ा था। उसकी आखो पर से इत्ती-इत्ती बड़ी खारे पानी की बूंदे झरती उसने खुद देखी थी।

उसी साल हेमन्त में बरफ से दवकर मा मरी। और, सवा बरस बाद पलटन स खबर आई कि पति आनदेव भी कूच कर गया हे।

उदुली सबको रो रोकर सुनाती रही कि उसने एक बार भी पति का मुख नही देखा।

चोदह की उमर से, वेधव्य के दस साल उसने देवर-जेठ के जूठे बर्तन माजने मे, चोका-चाकरी करने मे लगा दिए। रूखा-सूखा, फटा-पुराना जो मिल गया उसी को बहुत मानकर सन्तोष किया। लेकिन धीरे-धीरे जेठ-देवर की वश-बेल बढने लगी ता कलह शुरू हुई, मार-पीट शुरू हुई। जेठ-देवर ने निर्लज्ज होकर बहू पर हाथ उठाना शुरू किया ओर एक दिन मार-पीटकर, 'कुलच्छनी' कहकर घर की दहरी से बाहर निकाल दिया। तब मजबूर होकर, हारकर, कातर हाकर उसने फिर मेके के टूटे घर की आर देखा।

हरु'का ने तब भरपूर सहानुभूति जतलाई। अपनी छिपकली-सो पतली, चिड़चिडी पत्नी और दो-तीन बाल-बच्चा क साथ-साथ गुमसुम तार पर उसकी भी परवरिश करने लगा।

उदुली खेत से देर से लौटती। हरु'का चुपचाप अन्दर बैठा बीड़ी की लम्बी कश लेता रहता--"उदुली, कहा मर गई थी? तेरी राह देखते-देखते रात हो गई। इत्ती रात तक क्या कर रही थी?"

वह रूखा-सूखा खा भी न पाती कि हरु'का उससे जोक की तरह जा लगता। मन की पूरी कर चुपचाप निकल भागता।

वह रोती, लड़ती-झगड़ती, कोसती—"तुम्हारी नाक घोल (गरम राख) में चली जाए,—हो हरु'का! वक्त-बेवक्त परमेसुर के लिए कुछ तो देखो। तुमने मेरा धरम भ्रष्ट कर डाला, किसी दिन कुछ हो गया तो!"

पर, दूसरी ओर हरु'का सुनी-अनसुनी कर देता। कहता—"हं, ओ उदुली, तू तो जनम की ऐसी है। पिनालू के पात में भी क्या कभी पानी ठहरता है?

अरे, ठहर भी गया तो क्या हुआ! मैं रख लूंगा। तेरे मुख पर कोइला नहीं पुतने दूंगा।"

"ना, ना! नाता-रिश्ता पास का होकर भी दूर का है। ब्याह भी इस कलजुग में चल सकता है। लेकिन नौ मुखों की बात कौन सुनेगा?"

"अरी, कह तो रहा हूं, मरद के हजार ब्याह होते हैं। फिर।"

"लेकिन, हरु'का, रहने दो हो। छोड़ो, बदनामी होगी। नाक कट जाएगी।"

हरु'का अपने को रोक नहीं पाता। तिलमिला पड़ता—"तेरी खोरी में पाथर पड़े। रांड, तेरी ही बदनामी होगी या मेरी भी! तुझे कौन पूछता है! तू किस गिनती में है! मुझे अपनी फिकर नहीं, फिर तुझे...।" वह फिर मिसरी घोल देता, "उदि...!"

उदुली को सूझता क्या! उसे लगता, वह भंवर में डूब रही है। डूबती चली जा रही है। दूर कहीं रस्सी तैर रही है, नहीं-नहीं, सांप है। चाहकर भी उसके हाथ बढ़ नहीं पाते।

"लेकिन हरु'का !" वह कुछ क्षण बाद न जाने क्या सोचकर कहती—"तुम आते हो तो कभी मंगल, छनिच्चर को आओ। पर इन लौंडों का भीड़-भड़क्का क्यों हांक लाते हो! मेरा तन कच्चे फोड़े की तरह दुखता है, टूट-टूट जाता है। अगले दिन फिर खेत पर काम नहीं हो पाता। काम नहीं करूंगी तो खाऊंगी क्या?"

हरु'का चुपचाप अठन्नी-चवन्नी जेब से निकालकर उसकी गरम हथेली में थमा देता—"अरी बदजात, जैसा एक, वैसे दो, वैसे तीन। फरक क्या पड़ता है? भाई लोग तेरे गुन गाते हैं। तुझसे छीन क्या लेते हैं।"

एक दिन उससे रहा नहीं जाता।

"तुम्हारे पांव पड़ूं हो हरु'का! तुम इधर न आओ। गो-गिराम में घांट बजा-बजाकर बदनामी हो रही है। मुझे फांसी लगाने को..."

"धत्त तेरी की! अच्छा, आज सही...।"

लेकिन एक दिन पूरे गौ-गिराम में हो-हल्ला। हरु'का नदारद।

"अरे अन्धेर हो गया, अन्धेर। बिधौरी उदुली रांड के...।"

"पहले तो नकटी आनसिंह, प्रताप, गोबिन्दिया का भी नाम लेती थी। अब कहती है, हरु'का का ही है।"

उदुली को कुछ सूझा नहीं तो बच्चे को लेकर नामकरण के लिए हरु'का की देहरी पर बैठ गई। लेकिन हरु'का की बूढ़ी मां ने उस पर थूक-थूककर उसका और उसके पुरखों का श्राद्ध करना शुरू कर दिया।

वह सोचकर आई थी कि या तो हरु'का नामकरण करेगा या बच्चे की परवरस करेगा या वह वहीं पर जीभ ठूंगकर आत्मघात कर लेगी, पर पंचाइत ने कुछ भी सुलझाया नही। तिनके को तिनाड़ तक नहीं कहा।

भरी आधी रात को हरु'का ने उसका झोंटा पकड़ा। उसकी औरत सुबली ने मार-मारकर मरी लाश की तरह बाहर घसीट दिया।

कहते हैं, बूढ़े किसनबल्लभ ने भी पीटा। केशव के लड़के लछमन ने भी। लगड़ा निलुआ भी सुना हाथ उठाने पर उतर आया।

रो-रोकर दूसरे दिन उदुली लोहाघाट की कचहरी मे चली गई।

"हजूर, माई-बाप, मेरा 'न्या' करो हो।" बच्चे को सा'ब के सामने रखकर वह फूट पडी।

सवा बरस केस चला।

"कोई सबूत?"

"हजूर, इसकी सूरत उससे मिलनी है या नहीं?"

हरु'का की नाक नीची।

"सरकार, यह मेरी बदनामी पर उतरी है। मेरे दुश्मनो ने इसे पट्टी पढा रखी है। अगर मैं झूठ बोलू तो मेरा सन्यानाश हो जाए। मेरी आन-औलाद मेरे लिए न रहे। बच्चा मरा कैसे हा सकता है? मै नाते-रिश्ते मे इसका कका लगता हू। मैने कुछ किया हो तो अपनी बहन स किया हो। मां से किया हो।"

हलफनामा उठाकर, जीतकर वह निकल भागा।

लेकिन अब कहां निकल भागे उदुली! उसका मुख खुला का खुला रह गया।

"रण्डी ने किसी को खराव करने से नही छोड़ा। इलाके का नाम डुबा दिया।"

"अच्छा हुआ रण्डी भाग गई कही दूर परदेस। बच्चा सुना मर गया। अरे, डाइन ने मार दिया होगा।"

"अरे, भाभर चली गई है। पहले किसी कूंजड़े ने रखा, बाद में नाई भगा ले गया।"

"कहां! लोग कहते हैं, चकरपुर चली गई। कोठे पर है रांड! अब सरेआम बेठती है मुसल्टिए के घर...।"

दूर कहीं से 'कहां-कहां' बच्चे के रोने की आवाज आई। उदुली को लगा, उसकी कोख का बच्चा अभी मरा नही, जिन्दा है। उसने कानों पर हाथ रख दिया।

तभी टक्-टक् की आहट हुई।

किवाड़ खोलकर कोई अन्दर आया।

"उदि, तू रो रही है!...कल नशे में जाने क्या-क्या कह गया!"

उदुली ने देखा नहीं।

"कल घर जाने की सोच रहा हूं। एक भी टका पास नहीं!" खों-खों कर उसने खांसा और फर्श के एक कोने में थूका तो उदुली ने देखा—कफ में खून के लाल-लाल चकत्ते-से हैं।

एक गहरी सांस भरकर उसने कहा—"दो बच्चे पिछले साल हैजे मे चल बसे। ओरत को मरे तीन साल से ऊपर हो गया। डॉक्टर कहते हैं कि टनकपुर मण्डी मे ऊपर पहुंचता हूं...कि नहीं!"

उदुली के मुंह से अब भी कोई शब्द न फूटा।

"टिकट का किराया माल-असबाब बेचकर निकल आया। पर हां, मर गया तो कफ्फन।"

उदुली को लगा, दुनिया घूम रही है। अपने को किसी तरह सम्हालकर वह उठी। पूरे दिन की कमाई एक-एक के दो-तीन गन्दे नोट, कुछ फुटकर रेजगारी, कुछ पैसे उसके सामने रख दिए।

वह मुड़ा। दरवाजे से बाहर पहुंचा भी नहीं कि तभी उस्ताद की लाल-लाल माथे पर चढ़ी आखों ने गुस्से से उसे देखा—"हरामजादी, ला सब! आज कित्ता कमाया? खुदा की कसम, तेरी बोटी-बोटी नोच लूंगा। बताती क्यों नहीं, अभी जाने वाला कित्ते रुपये दे गया?"



स्मृतियां

"तो इत्ती-सो बात थी?"

"और क्या?"

मैं हंस पड़ा और वह भी।

एक बहुत ऊंचे वृक्ष पर कहीं चील का घोंसला था, उसके ऊपर नीला आसमान और इधर-उधर विखरे कहीं-कहीं सफेद मटमैले बादल।

आज भी कभी सोचता हूं तो सब सपना-सा लगता है। लगता है—वह सब घटित नहीं हुआ था। कभी-कभी बहुत कुछ हम यों ही सोच लेते हैं न! और चाहे या अनचाहे, जाने या अनजाने, इतनी बार दुहराते हैं कि सब यथार्थ-सा लगने लगता है।

मेरे हाथ में अभी भी वह नीला कागज है, और उसके साथ रंग-बिरंगा पारदर्शी पतला लिफाफा—

—जो चीजें छूट गयीं, जिनसे अब कोई वास्ता नहीं, वे ही बार-बार घेरकर क्यों खड़ी हो जाती हैं? बार-बार मैं क्यों परेशान हो उठता हूं और...

पत्र बंद करके मैं कुछ और सोचने लगता हूं। मेरी आंखों के आगे तब एक दूसरा ही चित्र घूमने लगता है—

चंदन-सा चेहरा, गहरे पांगर के रंग के बाल, दूर तक फैली बड़ी-बड़ी दो कजरारी आंखें! इतनी बड़ी आंखें भी क्या किसी की हो सकती हैं?

मेरा ध्यान सहसा उस ओर गया तो चौंक पड़ा। वे दो बड़ी-बड़ी आंखें अपलक मेरी ओर देख रही थीं। मुझे उनका इस तरह से देखना बड़ा अटपटा-सा लग रहा था। इतने बड़े समारोह में, लोग क्या कहेंगे? 'लोग क्या कहेंगे?' मेरी जिंदगी की सबसे बड़ी कमजोरी रही है, जो अब तक है।...मैंने उड़ती निगाहों

से उसकी ओर फिर देखा, वह अब तक भी उसी तरह देखे जा रही थी...।

समारोह के बाद घर आया तो बड़ी देर तक वे दोनों आंखें मेरा पीछा करती रहीं। लग रहा था जैसे मेरी पीठ पर धधकते अंगारे की तरह चिपक गयी हैं।

उस दिन बड़ी सर्दी थी। ओले गिरने से शाम तक ठण्ड कुछ बढ़ गई थी। उस ढलवां सड़क पर, लंबा ऊनी कोट पहने अकेला वह चल रहा था। तभी गरम कपड़ों से ढंकी, वह अपने पति के साथ, नन्ही बच्ची का हाथ थामे, लंबे-लंबे डग भरती दिखाई दी। बच्ची के छोटे-से हाथ में पतली जंजीर थी, जिससे बंधा एक बौना झबरैला कुत्ता उछल-उछलकर दौड़ता हुआ, उनका साथ देने का असफल प्रयास कर रहा था।

वे चुपचाप चल रहे थे। पास ही झील पर से उठती हल्की-हल्की हरी लहरों की ओर वह उड़ती नजरों से देख रही थी।

ज्योंही उसने सामने देखा, उसका चेहरा सहसा चमक उठा। अपने प्रति वह सचेत हो आयी। दूर से ही उसके दुबले-पतले सफेद हाथ यंत्रवत जुड़ गये।

"उस दिन आप कहां चले गए थे?" उसने इस तरह पूछा जैसे बहुत पहले से जानती हो।

"अपने डेरे में...।" मैंने मुस्कराने की चेष्टा की।

"आप शायद हमें पहचान नहीं पा रहे हैं, पर हम आपको अच्छी तरह जानते हैं। अक्सर हम लोग आपके विषय में बातें करते रहते हैं।...हां, ये मेरे पति हैं," तनिक घूमकर उसने कहा, "और यह हमारी बिटिया! इसे हम 'बेबी' कहते हैं!"

प्रत्युत्तर में मेरे कुछ कहने से पहले ही वह फिर बोल उठी, "इत्ती सर्दी में आप जा कहां रहे हैं?"

"यों ही टहलने...।"

"आज काफी घना कुहरा है," उसने बड़ी परेशानी से कहा, "लगता है, इस साल बहुत बर्फ गिरेगी।"

सचमुच घना कुहरा चारों ओर घिरने लगा था। झील की सतह से ठण्डा धुआं-जैसा ऊपर उठ रहा था। घास पर गिरी ओस की बूंदें जम चुकी थीं। वातावरण में अजीब-सी मनहूसियत छाई हुई थी। लगता था, सारा शहर वीरान हो गया है। बड़ी मुश्किल से कहीं-कहीं कोई आदमी दीखता था। अधिकतर मकान, होटल बंद हो चुके थे। इक्का-दुक्का कारें बस-स्टैंड पर दीखतीं या फिर रोडवेज की बसें।

"आपको जल्दी न हो तो...मेरा मतलब...एक प्याला कॉफी पीकर जाते।

हम यहीं पास ही रहते हैं—उस सामने वाले मकान में, जहां कत्थई छत दीख रही है...।"

मैंने कलाई पर बंधी घड़ी की ओर देखा।

"अभी तो सेनिटोरियम जाना है...।"

"तो शाम को आइये, छह-सात तक, कॉफी हमारे साथ पीजिए। आप हमारे घर आ सके तो हमें बड़ी खुशी होगी, सच!" वह इतनी बड़ी होकर भी अबोध बच्ची की तरह कह रही थी।

अपना पता देकर वह चली गई। मुझे आश्चर्य हुआ, न मैं उसके पति से कोई बात कर सका, न बेबी से ही। दरअसल वह इतना कुछ बोल गयी कि दूसरों को समय ही न मिला।

शाम को सेनिटोरियम से लौटा तो काफी थका हुआ था। मन नहीं था कहीं जाने को। आरामकुर्सी पर आंखें बंद किए निढाल पड़ा रहा।

बाहर सनसनाती हुई हवा चल रही थी। सूरज के ढलते ही पहाड़ों में कैसा घुप्प अंधकार छा जाता है! घाटियां अंधे कुओं जैसी लगती हैं। तब हाथ को हाथ नहीं सूझता।

बालकनी पर झुका मैं झील के चारों ओर झिलमिलाती ठण्डी रोशनी की ओर देख रहा था। मरकरी बल्बों की नीली-नीली, हरी रोशनी एकदम सर्द लग रही थी। पेड़ों से लदे पहाड़ के ढलानों पर कहीं-कहीं पीले बीमार बल्ब अपने अस्तित्व का अहसास जता रहे थे।

मेरी निगाहें अंधेरे में कुछ खोजने का असफल प्रयास कर रही थीं कि तभी नीचे से किसी ने आवाज दी।

सींक जैसा दुबला-पतला काला लड़का ठण्ड में ठिठुरता हुआ सीढ़ियों पर खड़ा कह रहा था, "जी...आपको बुलाया है...।"

मुझे समझने में समय न लगा कि किसने बुलाया है। क्षण-भर असमंजस में कुछ सोचता रहा, "कितनी दूर होगा यहां से?"

"बस, यहीं पास ही...।" अंगुली उठाकर उसने अंधेरे में इस तरह इशारा किया, जैसे पास ही छूकर बतला रहा हो।

ओवरकोट पहनकर मैं उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। लड़के के पांवों में मात्र फटी हुई चप्पलें थीं। वह बजरी से ढंकी ढलवां सड़क पर बड़े जतन से सम्हल-सम्हलकर चल रहा था। पर मेरे अनभ्यस्त पांव बार-बार रपट पड़ते। कई वार तो मैं गिरते-गिरते बचा।

मुझे बड़ा अटपटा-सा, अजीब-सा लग रहा था। जिन लोगों को मैं भलीभांति जानता-पहचानता नहीं, उनके घर जाना मेरे लिए कम असमंजस का कारण नहीं था। फिर भी मेरे पांव बढ़ रहे थे और मैं चल रहा था।

जब घर पहुंचा तो देखा—वह दरवाज़े पर खड़ी है।

"आपने इत्ती देर कर दी!" वह उलाहने से बोली, "सब आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं...।

'सब' शब्द से मेरे मन की परेशानी कुछ और बढ़ गयी।

उसने गहरे नीले रंग की साड़ी पहनी थी। उसी रंग का अन्य परिधान था। इस समय उसका चेहरा सुबह की तरह जर्द नहीं, ताजे फूल की तरह खिला था।

"आज बेबी का जन्मदिन है न!" मुस्कराती हुई वह बोली, "आप नहीं आते तो हमें बुरा लगता।"

एक सजे-संवरे कमरे में वह मुझे ले गयी। उसने सबसे मेरा परिचय कराया। मेरी सुविधाओं का वह इतना खयाल रख रही थी कि कभी-कभी मुझे असुविधा-सी अनुभव होने लगती।

भोजन के बाद सारे मेहमान एक-एक कर कम होने लगे, पर वह पास की कुर्सी पर बैठी बातें करती रही। उसके पति कई बार कमरे से गुजरे। काफी मेहमान भी अब तक जा चुके थे, लेकिन उसकी बातों का सिलसिला समाप्त होता लगता न था।

कई बार वह बोलती-बोलती सहसा चुप हो जाती। मैं बाहर कहीं दूर अंधेरे में टिमटिमाते पीले उदास बल्बों की ओर देखने लगता तो वह भी उसी ओर देखने लगती।

"आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं?" उसने न जाने क्या सोचकर कहा तो मैंने सहसा चौंककर उसकी ओर देखा। उसकी गहरी नीली आंखों मे एक अजीब-सी वेदना थी।

वक्त काफी बीत चुका था।

"अच्छा, अब चलूं?" मैंने उसकी ओर देखा।

उसे जैसे समय का भान हुआ। उसने घड़ी की ओर देखा और फिर भागती हुई भीतर गयी।

"इन्हें गेट तक छोड़ आएं।" बड़ी मासूमियत से उसने पति से कहा, "थक तो आप भी बहुत गए हैं आज।"

वह अपने पति के कोट का मुड़ा हुआ कॉलर ठीक कर रही थी, "अरे,

आपके हाथ बहुत गरम क्यों हैं?" उसने चौंककर कहा।

सचमुच उसके पति की तबीयत ठीक नहीं लग रही थी।

"खैर चलिए, इन्हें छोड़ आएं। फिर आपको दवा दे दूंगी। अभी तो काफी काम समेटना है।"

वह सफेद शॉल ओढ़े हुए थी। हाथ में टॉर्च लिए आगे-आगे चलकर, पीछे मुड़ रही थी, ताकि सबको रास्ता साफ दिखायी दे।

हम गेट तक पहुंचे तो वह बोली, "आपको बहुत कष्ट दिया आज, लेकिन आपके आने से हमें कितनी खुशी हुई, आप सोच भी नहीं सकते।"

मैं चलने लगा, तब भी वह अपने पति का हाथ थामे, बुत की तरह खड़ी उस अंधकार में न जाने क्या टटोल रही थी।

मैंने चेखव की जीवनी में ऐसा ही एक प्रसंग पढ़ा था कभी। मैं उस सारी रात सोचता रहा। जैसा एक के जीवन में घटित हुआ वैसा ही, ठीक उसी तरह, क्या किसी और की जिन्दगी में भी घटित हो सकता है?

जिस दिन चलने लगा, वह लेकब्रिज पर खड़ी थी—बच्ची का हाथ थामे। उसके पति भी छोड़ने आए थे। बस चलने लगी तो उसकी आंखों में कुछ अजीब-सा भाव तैरने लगा था।

आये दिन की यात्राओं से इधर बहुत थक गया था। तपेदिक के साथ-साथ और भी बहुत-सी परेशानी बढ़ गयी थीं। इतने लंबे अंतराल में उसे केवल एक बार और देखा था। वे ही हरे-भरे पहाड़, वैसी ही सड़कें थीं, लेकिन लगता था, कहीं बहुत कुछ बदल गया है...।

एक दिन वर्षों बाद अकस्मात् एक पत्र मिला। उसी की लिखावट में था—'सत्रह तारीख को पचमढ़ी जा रही हूं। रेलवे स्टेशन पर मिल सकेंगे?'

निश्चित समय पर मैं स्टेशन पहुंचा तो वह वेटिंगरूम के आगे खड़ी थी। उसका चेहरा कितना बदल गया था। छोटी-सी बच्ची साथ थी, जो मुझे देखते ही चहक उठी।

"यह तो उतनी ही छोटी है, जितनी मैंने इसे तब देखा था!"

मैं अभी कह ही रहा था कि वह जोर से हंस पड़ी, "यह वह नहीं, उसकी छोटी बहन है।"

"हू-ब-हू वैसी ही है। हां, क्या नाम रखा इसका?" मैंने यों ही पूछने के लिए पूछा।

वह हंस पड़ी। उसकी हंसी वैसी ही थी—निश्छल, निर्मल।

"कुछ भी तो नहीं!" उसने मेरी ओर देखा।

"कुछ तो...!"

"बस्स, बेबी कहते हैं। आप कुछ सुझाइये, वह रख लेंगे। क्यों बेबी?" उसने बेबी को समेटते हुए चूम लिया।

पास ही काउंटर से मैंने टॉफियों का रंग-बिरंगा डब्बा खरीदा तो बेबी खिल उठी। उसी में से टॉफियां निकाल-निकालकर मुझे और मम्मी को देने लगी।

लगभग तीन घंटे उसे स्टेशन पर रुकना था। इतने थोड़े समय में जैसे वह सारी बातें समाप्त कर लेना चाहती थी। मुझे आश्चर्य हुआ यह देखकर कि वह अपने साथ कुछ खाना भी बनाकर लाई थी।

"आपको यह पसंद है न।" उसने मेरी ओर देखते हुए कहा, "जब भी खाने के लिए बैठती, पता नहीं क्या-क्या याद आने लगता। अनायास हाथ रुक जाते।...हमारे आंगन में अब भी वे ही फूल खिलते हैं। आपको कितने अच्छे लगते थे। एक भी फूल मैं उनमें से तोड़ती न थी...आप कितनी दूर रहते हैं यहां से? बहुत घूमना-फिरना पड़ता है न! ट्रेनों का सफर कितना खतरनाक है। आए दिन दुर्घटनाएं होती रहती हैं...। 'वे' स्टेशन तक छोड़ने आए थे। आपको जो पत्र भेजा था, वह उन्हीं को लेटरबॉक्स में डालने को दिया था। मैंने उसे स्वयं बद तक नहीं किया। अपने जीवन में मैंने कुछ भी तो नहीं रखा, छिपाने के लिए। मैंने कभी कोई गुनाह नहीं किया, ईश्वर साक्षी है...।" खाते-खाते उसका हाथ अनायास ठिठक पड़ा।

मैं तटस्थ भाव से उसे देखता रहा—उसके सिर पर कहीं-कहीं सफेद बाल चमक रहे थे।

पहले वह हसती रहती थी। साधारण-सी छोटी-छोटी बातों पर भी देर तक हसती चली जाती। लगता था, हंसी का अदृश्य फव्वारा कहीं से फूट रहा है। हसती अभी भी वह उसी तरह थी, लेकिन अब वह बात न थी। हंसते-हसते उसका चेहरा कोरे कागज की तरह सफेद हो आता।

पिछले सात-आठ महीने वह बहुत बीमार रही थी। पर उसकी रुग्णता ने उसकी कंचन-सी काया को और भी तपा दिया था। उसकी आंखों की चमक पहले की अपेक्षा बढ़ आई थी।

"देखिए न! खाने की जो-जो चीजें मुझे पसंद थीं, डॉक्टर ने सब मना कर दी हैं।" वह सामने बिखरा सामान समेटने लगी। उसके कहने में कहीं कोई शिकायत न थी। बड़े सहज ढंग से वह जैसे यों ही कह रही हो।

मुझे पहले से पता था कि बेबी उसके साथ होगी। अतः उसके लिए कुछ

खिलौने लाया था। पास ही बेंच पर वह अकेली बैठी, निर्द्वन्द्व भाव से खेल रही थी।

बार-बार उसकी निगाहें अपनी दुबली-पतली कलाई पर बंधी घड़ी की सुई पर अटक जातीं। एक-एक क्षण गुजरने का उसे अहसास था। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, उसकी अधीरता बढ़ती चली जा रही थी। जैसे भागते समय को बांध लेना चाहती हो।

"तब मर जाती तो आज आपको कैसे देखती?"

कंडिया में वह सामान समेटने लगी।

रेल की यात्रा और अनिद्रा से वह बहुत थकी-थकी-सी लग रही थी। सामान उठाते समय उसकी अंगुलियां कांप रही थीं।

"अभी तो लंबा सफर तय करना है। आज यहीं आराम कर लेतीं!" मैंने कहा तो वह बिना मेरी ओर देखे, उसी तरह सामान समेटती रही। फिर कुछ सोचती हुई बोली, "तीन घंटे यहां ठहरने की बात 'उन' से कही थी। यों रुक भी सकती हूं, वे कुछ कहेंगे नहीं, लेकिन...।"

इस 'लेकिन' के साथ उसने एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न खींच दिया था। तभी बेबी का एक खिलौना नीचे गिर पड़ा। मैं उठाने ही वाला था कि उसने लपककर उठा लिया।

समय हो गया था, लेकिन अब तक ट्रेन आई न थी। इसलिए हम प्लेटफॉर्म पर टहलने लगे। स्टेशन की चहल-पहल देखकर बेबी बहुत खुश थी। बार-बार तरह-तरह के प्रश्न पूछ रही थी, पर वह उनका संतुलित-संयत उत्तर न दे पा रही थी।

"बड़े शहरों से डर-सा लगता है..." वह कुछ सोचती हुई बोली, "याद है, उस साल कितनी बर्फ पड़ी थी! आप रोज सुबह टहलने जाते थे। वह सड़क अब पक्की हो गयी है। आप कभी उधर फिर आये नहीं न! क्यों नहीं आये...? मैं रोज सुबह आंगन में खड़ी, उस सूनी सड़क पर न जाने क्या-क्या खोजा करती थी! आप सच नहीं मानेंगे...।" वह कहती-कहती अटक आई थी।

सामने के प्लेटफार्म पर खड़ी कोई मालगाड़ी अजगर की तरह धीरे-धीरे सरक रही थी। इंजन की तेज सीटी से सहसा बेबी चौंकी। उसने अपनी मम्मी की अंगुली और कसकर पकड़ ली।

"पहले बहुत सपने आते थे। मैं खिड़की पर खड़ी देखती—आप हौले-हौले बर्फ पर चल रहे हैं। बर्फ की फुहारों से आपके कपड़े ढंक गये हैं, चिट्टे सफेद हो आए हैं, लेकिन आपका चलना थमता नहीं...।"

बातों की दिशा बदलने के लिए मैंने कहा, "अब कब आओगी इधर?"

"बस्स, यह अंतिम यात्रा है... ।" उसका स्वर लड़खड़ा आया था, होंठ कांप रहे थे।

मुझे लगा, वह बहुत भावुक हो आई है। इस तरह की बहकी-बहकी, उखड़ी-उखड़ी बातें उसने पहले कभी नहीं की थीं। शायद इस लंबी, भयंकर बीमारी ने उसे हिला दिया हो। यों भावुक वह पहले भी कम न थी, लेकिन कभी भी उसने कुछ व्यक्त न होने दिया था।

उसके मना करने के बावजूद उसके लिए कुछ फल खरीदता हूं। लिफाफा थामते हुए उसके हाथ कांपने लगते हैं।

तभी ट्रेन प्लेटफॉर्म पर लगती हे।

वह खिडकी के साथ वाली सीट पर बैठती है। उस शोरगुल में, उस भीड़भाड़ मे न जाने शून्य की ओर ताकती क्या खोजने लगती है! उसके होंठ कुछ कहने के लिए फड़कते हैं, लेकिन कुछ बोल नहीं पाती। जब ट्रेन चलने लगी तो खिड़की पर झुकी अपना पीला हाथ हिलाती रही। खिड़की से बाहर मुंह निकालकर तब तक बाहर देखती रही, जब तक प्लेटफॉर्म ओझल न हो गया।



न जानना

"जब से तू आया इसमें काफी चेंज आ गया है, राजी।" बुआ कहती हैं—"इतना खुश पहले कभी नहीं लगता था। तुझे आने में देर होती है तो मेन-गेट के बाहर खड़ा हो जाता है..."

मैं केकी को हवा में उछालता हूं फिर गोदी में दबाता हूं—"अच्छा, बतला हम क्या लगते हैं तुम्हारे?"

वह केवल छोटी-सी बत्तीसी दिखलाता है।

मैं उसे फिर दीवार पर टंगे फोटो के पास ले जाता हूं—"अच्छा, बतलाओ, ये कौन हैं तुम्हारे?"

"पा-पाऽऽ!"

"बहुत बुरे हैं तुम्हारे पापा...।" मैं गुस्से से मुंह बनाते हुए देखता हूं।

वह दो-तीन हल्की-हल्की चपतें मेरे गालों पर जमाता है और फिर शरारत से हंसता है...।

लगता है बुआ के ऑफिस जाने में अभी समय है। वह पलंग की पाटी पर बैठी कुछ बुन रही हैं। मरदाना स्वेटर-जैसा लगता है। उनकी अंगुलियों पर सरकता मटमैला ऊनी डोरा और परस्पर तेजी से चोंच लड़ाती दो प्लास्टिक की सीकें...।

"कल रीगल में केकी को पिक्चर दिखला लाएंगे, हं बुआ! सुना बहुत अच्छी है, बच्चों के लिए!...तुम भी चलोगी न...?"

बुआ मेरी ओर देखती हैं, पर कहती कुछ नहीं।

उनका चेहरा पता नहीं क्यों, भारी-सा लगता है—कुछ-कुछ उदास...! जब से बुआ के हाथ की सुनहरी चूड़ियां टूटीं, काफी बदल-सी गई हैं। वैसे अभी

उम्र ही क्या है। तीस भी पूरे नहीं हुए होंगे।

"बाबूजी कुछ कहते थे, राजी?" बुआ कुछ सोचती हुई पूछती हैं—"तू कानपुर से ही तो आया होगा न...?"

"हां, चलते-चलते भेंट हुई थी—स्टेशन पर।" मैं उत्तर देता हूं—"वे किसी मुकदमे की पैरवी में इलाहाबाद जा रहे थे...। कहते थे—दिल्ली कितने दिन ठहरोगे...? बहू से कहना कभी-कभी चिट्ठी भेजा करे। और वहां उसे कोई कष्ट हो तो इधर चली आए। जब से हमारा अविनाश गुजरा है वह एक बार भी इधर नहीं आई...।"

मैं वे बीस रुपए आगे बढ़ाता हूं जो उन्होंने जल्दी में दिए थे—केकी के लिए।

बुआ देर तक उन मुड़े-तुड़े नोटों को कागज़ के पन्ने की तरह थामे रखती हैं। फिर किसी किताब में पुस्तक-चिह्न की तरह रख देती हैं। केवल एक हरा कोना-सा दीखता है...।

"तेरे एक्जाम कब से हैं?" वे कुछ रुककर पूछती हैं।

"फिफ्थ से।"

"फिर यहां दिन-भर पड़ा-पड़ा क्या करेगा...?"

मैं हंस देता हूं—"कुछ किताबें देख लूंगा। यह लास्ट चांस है। फिर ओवर-एज हो जाऊंगा...।"

प्लास्टिक की दोनों सलाइयां ऊन के गोले के आर-पार निकल जाती हैं। बुआ कपड़े ठीक कर ऑफिस की तैयारी में जुट जाती हैं।

"...तो दिन में चाय-वाय बना लेना। शाम को कनॉट-प्लेस की तरफ घूम आना...।"

बुआ चली जाती हैं।

केकी की तबीयत आज कुछ ठीक-सी नहीं। अतः वह सुबह स्कूल नहीं गया। बुआ जब ऑफिस जाती हैं तो घर की चाबी पड़ोस की एक बुढ़िया को दे जाती हैं, जो दिन में केकी को स्कूल से आने के बाद खाना खिला देती है। बुआ के आने तक उसकी देख-रेख करती है। इसके बदले बुआ प्रति माह कुछ पैसे दे देती हैं।

केकी लेटा है। मैं शाम को कहीं भी जा नहीं पाता। कुछ देर यों ही आस-पास टहलता हूं और फिर खिडकी के पास कुर्सी लगाकर बाहर की ओर देखता हूं। पता नहीं क्या-क्या सोचता रहता हूं...।

मुझे अनायास वे दिन याद आने लगते हैं, जब बुआ ने लखनऊ यूनिवर्सिटी से पॉलिटिकल साइंस में एम. ए. पास किया था, जब बुआ की शादी हुई थी और जब बुआ एक दिन दिल्ली के लिए चलने लगी थीं, उनकी अटैची में अपने और केकी के कुछ साधारण-से कपड़े और 'अपाइण्टमेंट लेटर' के अतिरिक्त कुछ भी न था...। पिताजी जब स्टेशन तक छोड़ने आए तो बुआ बुरी तरह रो रही थीं...।

केकी आंखें मलता हुआ मेरे पास खड़ा हो गया है। दूर कहीं सड़क की बत्तियां जलने लगी हैं। धुएं की तरह अंधेरा कमरे में फैला है। मैं घड़ी की ओर देखता हूं—बुआ अब तक नहीं आई। बाहर कुछ-कुछ पानी बरस रहा है...।

तभी दूर कहीं कार का-सा हॉर्न सुनाई देता है...। कुछ देर के बाद कॉल-बेल बजती है। मैं किवाड़ खोलकर देखता हूं—बुआ हांफती-सी खड़ी हैं—पर्स बगल में दबाए।

"अरे, तू कहीं गया नहीं?" वह विस्मय से पूछती हैं।

मैं संक्षिप्त-सा उत्तर देता हूं।

वह केकी के माथे पर हाथ लगाती हैं, "दूध पी लिया था दिन में?"

"हां।" केकी सहमा-सा देखता है।

"अब भूख तो नहीं?"

केकी डरा-डरा-सा चुपचाप एक किनारे बैठ जाता है। कुछ भी अधिक बोलता नहीं—जैसा कि उसका स्वभाव बन गया है।

बुआ मेज पर पर्स रखती हैं। मैं देखता हू, बाहर वर्षा के बावजूद उनके कपड़े सूखे हैं—केवल सूखे बालों पर कुछ उलझी बूंदें...।

"विपिन भैया का कारोबार सुना अब अलग है?" बुआ चाय की प्याली मे से उठती भाप की लकीर की ओर देखती हैं, "तो तुम लोगों के चूल्हे-चौके भी अब अलग-अलग होंगे...?"

"हां...।"

"सुना था, उन्होंने तुम्हें कुछ भी हिस्सा नहीं दिया?"

मैं चुप रहता हूं।

"फिर घर का खर्चा कैसे चलाते हो? उतनी ही आमदनी में गुजारा चल जाता है?"

मैं चुप रहता हूं।

बुआ कुर्सी पर दोनों पांव समेटकर बैठ जाती हैं। अंगुलियों के सारे सिरे साड़ी की किनारी में दबा लेती हैं। सिप्-सिप् कर एक साथ दो-तीन घूंट निगलकर प्याला बड़े आत्मविश्वास से मेज पर रख देती हैं।

"हंसमुख अभी ससुराल में ही होगी न...?"

"हां, वहीं से बी.एड. कर रही है।"

"कानपुर तो अधिक रुका न होगा...?"

"न।"

"बाबूजी अब भी कोर्ट अटैण्ड करते हैं?"

"कभी-कभी...। आपकी सास कह रही थीं अगले महीने शायद कुसमी की शादी होगी। शीला से कहना, कम से कम उस मौके पर जरूर आए।"

मैं कुछ क्षण ठहरकर कहता हूं, जैसे सहसा कुछ याद आ गया हो, "बुआ, आपने देखा नहीं...। आपके मकान वाली गली का नाम अब जीजाजी (फूफा) के नाम पर रखा है। कार्पोरेशन ने एक बहुत बड़ा बोर्ड लगाया है...। जीजाजी जिन्दा होते तो मेजर के रैंक तक तो अब तक पहुंच ही जाते न।"

बुआ कुछ कह नहीं पातीं। उठकर बाहर चली जाती हैं।

सुबह बुआ की आंखें कुछ-कुछ लाल दीखती हैं। मुझे लगता है उन्हे ठीक ढंग से नींद नहीं आती। मैं रात को बाथरूम के लिए दो बार उठा और मुझे अहसास हुआ कि वह जागी हुई हैं...।

शाम को—

बुआ के ऑफिस के आगे, कर्जन रोड वाले बस-स्टेंड पर हम खड़े हैं—बुआ, केकी और मैं। बहुत-सी बसें एक के बाद एक गुजरती हैं—पर रुकती नहीं। तभी एकाएक एक स्लेटी रंग की कार फिसलती हुई रुकती है। कोई एक अपरिचित-सी आकृति खिड़की के बाहर मुंह निकालती है—बुआ कुछ कदम लपककर आगे बढ़ती हैं—केवल एक मिनट के लिए।

कार सर्र से निकल जाती है और बुआ फिर अपनी कतार पर। उनके चेहरे पर पुछी हुई स्लेट की तरह कोई भाव नहीं, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

तभी एक बस रुकती है। कतार में बारी-बारी से सब चढ़ते हैं और हम भी। बुआ मुझसे आगे हैं। बस के फुट-बोर्ड पर जब चढ़ने लगती हैं तो मैं देखता हूं—बुआ के पर्स की बगल में दबी पुस्तक अब नहीं है, जिसके भीतर बुआ की लिखी एक चिट थी, जिसे कल रात मैं गलती से पढ़ गया...। वस्तुतः जो मुझे पढ़नी नहीं चाहिए थी।

हम रीगल के स्टॉप पर उतरते हैं। बुआ चलती-चलती जनपथ की दुकानों की ओर मुडती हैं।

"तू कानपुर होकर ही तो जाएगा न।" बुआ पूछती हैं।

"हां।" मैं सिर हिलाता हूं।

"तो बाबूजी के लिए एक स्वेटर ले जा, दे देगा—हांड...।"

बुआ बूढ़े रंग का ऊन खरीदती हैं। फिर मेरे साइज़ की बुश्शर्ट देखती हैं—और मेरे मना करने के बावजूद खरीद लेती हैं...।

केकी मेरा हाथ थामे गुड्डे की तरह गुमसुम चलता रहता है। न वह किसी चीज़ के लिए मचलता है, और न किसी चीज़ की ओर बाल-सुलभ जिज्ञासा से ही देखता है। हम सूखे मेवे की एक दुकान पर खड़े होते हैं। सामने के आदमकद शीशे में बुआ की आकृति का अक्स—। पिछली बार की अपेक्षा बुआ में इस बार काफी परिवर्तन लगता है। सलीके से कपड़े पहनती हैं तो लड़की-सी लगती हैं—अनब्याही...।

हम घूमते-घूमते दूर निकल जाते हैं। बुआ एकाएक सन्नाटा तोड़ती हैं—पता नहीं क्या सोचकर पूछती हैं—

"तुझे बड़े भैया खर्चा पूरा भेज पाते हैं, राजी?"

"हा।"

"तू कहीं सर्विस में लग जाता तो उनका बर्डन कुछ कम हो जाता...।"

कहती-कहती बुआ अटक-सी जाती हैं, "अच्छा, बता, खाना यहां ले लें तो कैसा रहे?"

"यहां बेकार में पैसे...।"

"अरे, छोड़ भी। क्या तू रोज़-रोज़ यहां आता रहेगा?"

हम पास ही एक रेस्तरां में जाते हैं। बुआ ऑर्डर देती हैं। जब तक बैरा खाना नहीं लाता—ईवनिंग-न्यूज के दो छोटे-से पन्ने बार-बार उलटती-पलटती रहती हैं।

"मैरेज के बाद जब हम सैर-सपाटे के लिए कश्मीर जा रहे थे तो चलते समय कुछ दिन दिल्ली में रुके। अक्सर शाम का खाना यहीं लेते थे। तुम्हारे जीजाजी को यह रेस्तरां बहुत पसन्द था...।" बुआ कुछ सोचती हुई कहती हैं।

"घर में, मेरे बारे में कोई कुछ कहते हैं, राजी?"

"हां-हां। मां अक्सर पूछती रहती हैं...।"

"तुम्हारी शादी का तो अभी कुछ तय नहीं हुआ होगा!"

"...।"

भोजन समाप्त होता है। केकी कुछ टुकड़े बिस्कुट के कुतरता है...और कुछ भी नहीं। बुआ कहती हैं, "इसकी तन्दुरुस्ती जन्म से ही ऐसी है। यह

न बाहर खेलता है, न किसी से बोलता है। घोंघे की तरह गुमसुम पड़ा रहता है!"

हम स्कूटर से लौटते हैं।

दरवाजा खोलते ही, दरार के नीचे हल्के नीले रंग का एक लिफाफा पड़ा हुआ है। बुआ झपटकर उठाती हैं।

मैं देखता हूं—जल्दी-जल्दी कपड़े बदलकर बाथरूम जाती हैं। काफी देर बाद लौटती हैं। उनका चेहरा काफी सजीव लगता है...।

केकी कब का सो गया है। मैं भी पढ़ते-पढ़ते सो जाता हूं—बुआ भी कहीं पर थकी-सी लगती हैं।

रात आधी गुजर गई होगी। मुझे जैसे नींद में कहीं दूर कार का-सा हॉर्न सुनाई देता है...।

अलार्म की घंटी से जागता हूं। रोशनी जलाता हूं। देखता हूं—अभी केवल तीन बजे हैं।

पास ही केकी सोया है, पर बुआ का बिस्तरा रीता है।

कुछ देर बिजली अकारण जलती रहती है। मेरी आंखों में अभी तक नींद के साए हैं। मैं स्विच ऑफ कर सो जाता हूं...।

सुबह दूध वाले की आवाज से जागता हूं...। देखता हूं—बुआ अपने पलंग पर खर्राटे भर रही हैं। अब आठ बजने को हैं—बुआ अब तक सोई हैं...!

कुछ क्षण बाद स्वयं ही वह अचकचाती हुई जागती हैं—"अरे राजी, तूने जगाया भी नहीं...?"

मैं देखता हूं—बुआ का तन अलसाया है। अभी तक भी आंखों में नींद की-सी खुमारी है।

वह जल्दी-जल्दी ऑफिस की तैयारी में जुट जाती हैं। आज बहुत प्रसन्न दिखाई देती है। इतना गहरा सन्तोष उनके चेहरे पर मैंने कभी भी नहीं देखा।

ऑफिस जाते समय कुछ रुपए जबरदस्ती मेरी मेज़ पर रख जाती हैं।

मेरे सिर पर झुका आसमान जैसे एक ओर हट गया हो। मैं बहुत हल्कापन-सा अनुभव करता हूं आज।

पुस्तकें परे पटककर शाम को घूमने निकल पड़ता हूं।

विनोद के लिए दिल्ली के कुछ रंगीन चित्र खरीदता हूं। अपने लिए जनरल नॉलिज की नई किताबें, ताकि घर जाकर इण्टरव्यू की तैयारी कर सकूं...!

मैं कनॉट-प्लेस के कॉरिडोर से होकर गुजरता हूं तो दूर कोई लड़की दीखती है, जिसके जूड़े में ताजे बेले का हार गुंथा है। कोई युवा-पुरुष उसकी बगल

में बांहें डाले, कांच की गुड़िया की तरह बड़े जतन से ले जा रहा है।

केवल साथ-साथ जुड़ी दो पीठें दीखती हैं।

कांच की गुड़िया की साड़ी का रंग बुआ की साड़ी के रंग से बहुत मिलता है, वैसा ही ब्लाउज भी!

मैं अगले मोड़ पर घूम भी नहीं पाता कि वे हैण्डलूम-इम्पोरियम में चले जाते हैं।

मैं सोचता हूं—घर लौटूंगा तो बुआ से कहूंगा कि आज एक वैसी ही लड़की दिखलाई दी थी...।

काफ़ी देर से घर आता हूं। में देखता हूं—केकी अकेला गुमसुम बैठा है। बुआ अब तक नहीं आई।

तभी मेज़ ᵐᵖ एक चिट दीखती है, जिसमें बुआ की ओर से लिखा रहता हे कि वह अपनी सहेली कमल की शादी में करौल बाग जा रही हैं, इसलिए देर से लौटेंगी। अतः मैं खाना ले लूं...।

मैं खाना लेकर सो जाता हू। केकी से भी कहता हूं कि वह भी सो जाए।

कल मुझे 'बुद्ध-जयन्ती पार्क' और देखना है। फिर चलने का कार्यक्रम। पिताजी का ऑपरेशन भी होना था। पता नहीं डॉक्टरों ने क्या राय दी।

परीक्षा में कितने नम्बर मुझे मिल सकेंगे—इसका हिसाब लगाता-लगाता मैं सचमुच सो जाता हूं...।

रात को कहीं मोड पर मुड़ती हुई कार का जैसे हॉर्न फिर सुनाई देता है। मुझे लगता है बजरी में धंसते-धंसते पहिए मेरे बहुत निकट आ गए हैं।

कुछ क्षण बाद दरवाजे पर खट्-खट् सुनकर उठता हूं।

बुआ खड़ी हैं। हाथ में ताजे फूलों का गुच्छा।

"तूने खा लिया, राजी ?"

"हां।"

"कमल की सिस्टर यहीं पास ही डिफेंस कॉलोनी में रहती हैं। कहने लगीं—मैं छोड़ दूंगी। वे ही यहां तक पहुंचा गई हैं।"

बुआ पानी पीती हैं और फिर जम्हाई लेती हुई सो जाती हैं।

मुझे आश्चर्य होता है, केकी के बारे में उन्होंने एक बात भी नहीं पूछी। उसे आज काफी बुखार है...।

कानपुर से खत आया है—बुआ के नाम। कुसुम की शादी के लिए बुलाया है। लेटरहैड पर पता छपा है—कैप्टन अविनाश मार्ग, कानपुर-5

बुआ बार-बार पत्र उलट-पलटकर देखती हैं। उनका व्यवहार काफी परिवर्तित-सा लगता है...। आज वह केकी के साथ बहुत देर तक खेलती रहती हैं। उसे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाती हैं। शाम ऑफिस से लौटते समय खिलौने लाने का आश्वासन भी देती हैं।

"बुआ, आज शाम की गाड़ी से मैं चला जाऊंगा।" वह ऑफिस जाने लगती हैं तो मैं कहता हूं।

"क्यों, इतनी जल्दी क्या है रे?"

"यहां कब तक पड़ा रहूं! शायद 18 को पिताजी का ऑपरेशन हो।"

"अच्छा-अच्छा, शाम को देखा जाएगा।" कहती हुई बुआ चली जाती हैं।

वह आज प्रातः मुझसे पहले जाग गई थीं। मैं भीतर वाले छोटे-से कमरे में देखता हूं—उनकी पूजा की जगह आज लिपी है। देवताओं के पास जीजाजी का एक छोटा-सा धुंधला चित्र है...।

केकी आज फिर स्कूल नहीं गया। उसे कुछ-कुछ बुखार की-सी शिकायत अब तक है।

शाम को बुआ जल्दी लौट आती हैं। उनकी बांहों के बीच बहुत-से बड़े-बड़े लिफाफे दबे हैं।

"ये कपड़े घर ले जाना...। कानपुर तो रुकेगा ही न! वहां बाबूजी को यह स्वेटर दे देना। नीला के लिए यह फ्रॉक...। माताजी (सास) से कहना कि कुसमी की शादी में अवश्य आऊंगी।—यह साड़ी कुसमी को दे देना...!"

आज दिन में जो डाक आई केकी ने उसे जतन से रखा है। उसमें एक नीला लिफाफा भी है, बुआ जिसे छिटककर पुस्तकों के पीछे फेंक देती हैं।

जल्दी-जल्दी में वह खाना बनाती हैं। मुझे तैयार करती हैं।

"राजी, सुन, कुछ ऐसी नौकरी ढूंढ, जिससे तुझे दिल्ली में ही रहना पड़े...। मैं अकेली रहती-रहती ऊब गई हूं। भला घर का-सा वातावरण वहां मिलता है...। फिर अकेली रहना क्या अच्छा है। पता नहीं, बाबूजी मेरे अकेले रहने पर एतराज क्यों नहीं करते...। कुछ तो सोचना चाहिए...।"

भोजन में ही पर्याप्त समय बीत जाता है। मैं घड़ी की ओर देखता हूं। केकी किसी भी हालत में मुझे छोड़ने को तैयार नहीं।

बुआ जबरदस्ती किराए के पैसे मेरी जेब में ठूंस देती हैं और दूर तक छोड़ने आती हैं...।

मैं भागता-भागता स्टेशन पहुंचता हूं। पता चलता है—शहीद-एक्सप्रेस को छूटे पन्द्रह मिनट हो गए हैं। मैं असमंजस मे इधर-उधर देखता हूं।

इसी अनिश्चितता की स्थिति में काफी समय गुजर जाता है। सोचता हूं– अब कल ही चला जाऊंगा। व्यर्थ में प्लेटफॉर्म पर पड़े रहने से क्या लाभ।

मैं स्कूटर लेकर लौट पड़ता हूं। बुआ के घर के सामने रुकता हूं। देखता हूं अब ग्यारह बजने वाले हैं। पानी लगातार बरस रहा है। उनके कमरे में अंधेरा है। उनके दरवाजे के पास स्लेटी रंग की एक कार खड़ी है।

मैं सीढ़ियों पर चढ़ता-चढ़ता ठिठक जाता हूं...।

विचार आता है कि स्टेशन पर रात को रुकने में शायद अधिक सहूलियत होगी। हो सकता है, रात को कोई गाड़ी मिल जाए। सुबह बस तो पकड़ ही सकता हूं। अतः मैं फिर स्टेशन की ओर मुड़ पड़ता हूं।



एक समुद्र भी

हिलती-डुलती लहरों के बीच सूरज की सीधी किरणें बिंधती हैं तो लगता है—बहुत-से रंग-बिरगे सांप एक साथ फिसल रहे हैं।

तापस की निगाहें, जाड़ों की धूप की तरह, अनायास नीचे उतर जाती हैं... मन-ही-मन अंगुलियों पर वह कुछ गिनने लगता है...उसे अहसास होता है—ऐसी ही एक सुबह, वह यहां आया था—केंचुल उतारकर...।

रे कहता था आज सुबह, पता नहीं क्यों—दो और दो का जोड़ अब पांच होता है, तापस! तुम कहो तो मैं सिद्ध कर सकता हूं...।

तापस शायद सुनता नहीं...लोग कहते हैं, वह अपनी ही बात समझ नहीं पाता...।

ब्रीफकेस में से वह कुछ ताजे कागज निकालता है—बैंक की 'पास-बुक' की तरह, डायरीनुमा काली किताब-सी। बाहर तीन सुनहरे शेर—एक-दूसरे से अपना पीठों को सटाए...भीतर हर पेज पर एक नीला-नीला वृत्त-चिह्न...जर्मनी, फ्रांस के अतिरिक्त कुछ अन्य यूरोपीय देशों के नाम।

मेरु-प्रभा की बाढ़ में बहते बर्फ के अन्तहीन द्वीप...! उसे लगता है, ऐसे ही किसी अज्ञात, अर्द्ध-अंधेरे द्वीप में वह अपना तपता माथा टिका देगा... हौले-हौले बर्फ पिघलेगी और उसी के साथ-साथ वह भी पिघली बर्फ में समा जाएगा...।

स्पूतनिक में बैठे आदमी की भांति तापस को अपना 'भाग्य' भी अनिश्चित-सा लगता है...।

विस्फारित नेत्रों से वह सामने देखता है—खादी के बेठन में लिपटे अनाज के बोरे पर अंकुर-से उभर आए हैं—छोटे-छोटे असंख्य हाथ-पांवों के जैसे निशान...

सामने की खुरदरी शिला पर कोई आधे अरब अभागे लोगों का भाग्य छेनी से खोद रहा है...करोड़ों मुर्दे एक साथ तालियां बजाने लगते हैं—उनकी गड़गड़ाहट के बीच अपने बहरे कानों को वह हथेलियों से ढंक लेता है...शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन रेत में धंसाए कुछ सोचता है...।

हां, तो कल उसे दिल्ली से भी चला जाना है—हमेशा के लिए। फिर इधर आकर करना भी क्या है! वास्तव में क्रूसों का समूचा निर्जन द्वीप, वह जहां जाता है, अपनी पीठ पर लादे फिरता है...उसे अहसास होता है—ऐसे ही किसी जन-शून्य द्वीप में एक दिन वह पेदा हुआ होगा और एक दिन उसी में मर भी जाएगा...।

पिछले आठ सालों से वह अपने 'घर' नहीं गया...कई बार चाहकर भी उसके पांव, उस ओर बढ़ नहीं पाए थे...।

जब वह छोटा था, उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। मां खूबसूरत थी, जवान—इसका पाप अपनी छोटी बहन के साथ-साथ उसे भी भोगना पड़ा था... मां ने दूसरी शादी कर ली...। एक रात वह उन दोनों का हाथ थामे, किसी 'दूसरे' घर चली गई थी...। अभी भी कभी-कभी उसे याद आता है, पिता को गुजरे एक वर्ष भी बीता नहीं था कि मां के एक बच्चा हो गया था...यह प्रक्रिया फिर कई वर्षो तक चली और चलती रही थी—एक दिन यहां तक कि वह अपने 'पुराने' पति ही नहीं, अपने 'पुराने' बच्चो को भी भुला बैठी थी।

वह उठकर बाहर चला जाता है.. दूध वाले जाट की खोपड़ी, ख्रुश्चेव की खोपड़ी से बहुत मिलती है...यदि आज शाम तक भी वह पैसे लेने नहीं आया तो ख्रुश्चेव की तरह वह भी अभागा साबित होगा—अन्त में...।

सामने सड़क पर चलता-चलता एक रेहड़ा खड़ा हो गया है...उसमें से हरपाल का छोटा आछी उतर रहा है—

"ब्रदर ने भेजा है...कहते थे तापस मोशाय कल जर्मनी चले जाएंगे...उन्होंने अपना पलंग हमें देने को बोला है...कल के बदले में वे कहते हैं—आज ही उठा लाओ...।"

तापस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं। वह अंदर जाकर अपना बिस्तर फर्श पर पटकता है...मुर्दे की तरह चार आदमी पलंग उठाते हैं और रेहड़े वाला रेहड़े पर खड़ा—रथ की तरह घोड़े को हांकता, मोड़ से ओझल हो जाता है...।

पंखा नितिन उठा ले गया है...अखबार और पुरानी पत्रिकाओं का गट्ठर सुबह से बाहर पड़ा है...उसने सोचा था कोई रद्दी वाला आएगा तो बेच देगा... पालम तक का टैक्सी का किराया तो वसूल हो ही जाएगा...पिछले एक साल

से उसने पुराने अखबार नहीं बेचे...।

वह मुड़ता है...सामने की रैक उसे आज रीती-रीती लगती है...नम्बर एक सौ तेरह के वर्मा कहते थे—"आप इस पुरानी घड़ी को थोड़े ही जर्मनी ले जाएंगे।...हमारी इन्दो का इस वर्ष फाइनल है"...इससे आगे वे क्या कहेंगे—वह स्वयं सोच लेता है।

तब भी तापस के चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं।

और दिनों की तरह तापस को इस समय कनॉट-प्लेस में होना चाहिए था...'पी. आर. आर. एम.' में तीस पैसे की कॉफी का एक प्याला...वह सोचता था—जाने से पहले कुछ लोगों से और मिल लेता। कम-से-कम एक शाम तो गुजर ही जाती।

किन्तु बासु के इस बेवक्त के फोन ने या किसी अदृश्य आशंका ने अब तक उसके पांव जकड़े हैं...।

वह अपनी कलाई की उभरी हड्डियों को देखता है—नसों की नन्ही-नन्ही नलियों की ओर...उसे लगता है कोई मित्र किसी दिन आकर कहेगा—तापस, तुम अपनी आंखें दे जाना मरने से पहले, हड्डियों को भी व्यर्थ में जलाकर, लकड़िया बेकार करने से क्या। तुम मरो तो इस कमरे में कोई और गरजमन्द रह लेगा। एक आदमी को 'जीने' में सहूलियत हो जाएगी...।

तापस स्वय को जलाने के बदले स्टोव जलाता है...। धुआं उगलती कॉफी का एक प्याला थामे बाहर आता है और हमेशा की तरह अकेला ही एक कोने में बैठ जाता है—और अपने को कॉफी पिलाने लगता है...।

गत दस वर्षो से, इसी तरह अकेला बैठकर, अपने को कॉफी पिलाता आ रहा है...कभी-कभी वह सोचता है—इतने लम्बे अर्से में वह कर ही क्या पाया है!

परसों अपनी जिन्दगी-भर की कमाई के, प्राविडेण्ट फण्ड आदि के कुल मिलाकर बाईस सौ रु. उसे मिले थे...। 'वेश्यावृत्ति' के इन रुपयों में से उसने पूरे पन्द्रह सौ 'बेरूत-एयरनाइन्स' वाले के हाथ पर धर दिए थे। जिसने आश्वासन दिया था कि वह पन्द्रह प्रतिशत कमीशन दे देगा...फ्रैंकफर्त्त तक का किराया हो गया...शेप राशि से उसने कुछ गरम कपड़े बनवाए थे...। तारापद ने लिखा था—'यहां आजकल हिमपात हो रहा है।' यह पत्र पढ़कर तापस को दिल्ली में ही शीत लहर छू गई थी।

दिल्ली में भी अपने किस्म का जाड़ा पड़ता है...जाड़े के दिनों में धुआं अधिक ऊपर नहीं उठ पाता, केवल मुंडेरों तक ही घुमड़कर रह जाता है। तापस

सोचता है—जर्मनी में तो और भी अधिक ठण्ड होती होगी। इतनी दूर तक भी धुआं निकल न पाता होगा—तब सच, कैसी घुटन होती होगी! तारापद ने इस बारे में क्यों नहीं लिखा, जबकि दूसरी छोटी-छोटी बातों के विषय में कितने विस्तार से लिखा है...।

तापस वैसा ही सड़क के नुक्कड़ तक चला जाता है...अन्य क्लर्कों की तरह वह भी पटरी पर बैठने वाले से एक पान लगवाता है। पान खाते ही पता नहीं क्या हो जाता है। उसके कान गरम होने लगते हैं। कभी-कभी कुछ पसीना-सा भी उभर आता है—और तब घबराहट-सी होने लगती है।

वह परेशान-सा भीतर आता है...यों ही किवाड़ बन्द कर, आरामकुर्सी पर मुर्दे की तरह निढाल गिर पड़ता है...सोचता है किसी दिन वह इसी तरह लेटा-का-लेटा रह जाएगा...दरवाजे बन्द होंगे और भीतर अंधेरा।

उसे पक्का यकीन है—बड़े आदमियों की तरह वह भी हार्ट-फेल से ही मरेगा...उसके पिता, यद्यपि उसी की तरह, बड़े आदमी नहीं थे, फिर भी उनकी मृत्यु इसी बीमारी से हुई थी...। लोग कहते हैं—वह बाथरूम गए थे और वहां पेशाब करते-करते बुत बन गए थे।

वह अलमारी खोलता है—भीतर ढेर सारी रीती बोतलें भरी पड़ी हैं...उसकी समझ में नहीं आता, इन सबका अब वह क्या करेगा। डाकटिकट इकट्ठा करने की हॉबी की तरह शराब की खाली बोतलें इकट्ठा करने की भी उसकी आदत है—पुरानी।

इन सबको इसी तावूत में दफना देना चाहिए—वह अलमारी जोर से बन्द करता है।

किवाड़ बन्द करते समय उसे कागज की नीली थैली में कुछ लिपटा दीखता है। अपनी कनपटी के बालों पर हाथ फेरता हुआ सोचता है—इसे कौन लाई थी?—जब कुछ भी सूझता नहीं तो झटके से गरदन हिलाता है—जब से 'नई प्रणाली' चली है, इनका अब विशेष महत्त्व रहा नहीं।

सूखी स्लाइसों को कॉफी के प्याले में डुबोकर वह शाम का भोजन जुटाता है...पता नहीं, कितने लम्बे समय से उसकी यही दिनचर्या है...वह जानता है, अन्त तक भी यही चलेगी...अपने पिता की तरह, दूसरों के लिए, वह अपनी पत्नी को नहीं छोड़ जाना चाहता...जब से दिल्ली में मुरदा जलाने वाली बिजली की मशीन लगी थी, उसे कुछ राहत-सी मिली थी...वह सोचता था—वेन का किराया और कफन की कीमत वह पहले ही चुका आएगा एडवांस में...मरकर भी किसी का अहसान वह नहीं लेना चाहता।

बासु अब तक नहीं आई!

यही सफदरजंग हॉस्पिटल में नर्स है मिस बासु...रात की ड्यूटी खतम कर, अक्सर सोने के लिए यहीं आती है...। कहती है, पुरुष के साथ सोए बिना उसे नींद नहीं आती है...वह दवाएं अधिक लेती है, शायद उसी का असर हो!

तापस को याद आता है, वह मोटा लिफाफा भी अपने अस्पताल से बासु ही लाई थी...शरारत से हंसती हुई कहती थी—इन्हें जल्दी-जल्दी खत्म करो तो अगली बार समूची एक पेटी उठा लाऊंगी...!

बासु को छूत की बीमारियों से बड़ा भय है...परन्तु पागल कुत्ते से उससे भी अधिक...। वह सदेव कहती रहती है—उसकी मृत्यु किसी पागल कुत्ते के काटने से ही होगी। इसलिए पानी से अभी से इतना भय लगता है उसे...। तापस ने एक रात उसे आश्वासन दिया था कि वह साल-भर के भीतर उसे भी जर्मनी बुला लेगा...किन्तु उसने इन्कार कर दिया था, क्योकि उसने सुना था कि वहा कुत्ते अधिक होते है।

बिस्तर के अतिरिक्त वह अपना सारा सामान बांधने लगता है...'जियर गूथ', 'इश्च्युले', 'दास' आदि शब्दो को रटता चला जाता है। तारापद ने जब से 'एम्प्लायमेण्ट वाउचर' भिजवाया, तापस अपने मे एक परिवर्तन-सा अनुभव करता है...। वह सामान के साथ 'जर्मन बाल-पोथी' भी बाधना नही भूलता, जिसके भीतर उसने अपनी ऑफिस की प्रेमिका के कुछ पत्र सजा रखे हे, जो उसने अपनी शादी के बाद लिखे थे—ताकि वहा (जर्मनी) के एकान्त में उसे कुछ राहत मिल सके और इसके बदले में वह उसे कोई प्रेजेण्ट भेजकर, 'स्नेह का सुख' अनुभव करे.. ।

तारापद किसी मोटर-कम्पनी मे इजीनियर ह...। लिखता है—समुद्र के किनारे के कस्बों मे मछलियां बहुत मिल जाती हे...उसने अपनी जर्मन पत्नी का नाम 'मृगनयनी' रखा ह, जिसके लिए तापस ने एक प्लेन बगाली साड़ी खरीदी हे. .आचल के किनारे पर जर्मन-मृगनयनी चाबी का गुच्छा लटकाएगी तो सच कैसी लगेगी।

बाहर फर्श पर एक साथ बहुत से जूतों के चलने की आहट से, जेसे वह नींद से जागता हे। उसे लगता हे बासु अब आ ही गई होगी। वह उझककर बाहर झांकता हे...।

अगारे की तरह, टेक्सी के नितम्बों पर दो लाल-लाल शोले धधक रहे ह—दाई ओर वाले पड़ोसी, मिस्टर चन्द्रा का परिवार उतर रहा है। चन्द्रा डिफेंस

मिनिस्टरी में क्लर्क है...चन्द्रा की बीवी बहुत मोटी है...।

तापस देखता है—टैक्सी का बिल चुकाने वाला आज कोई और है--टेरेलिन का सूट पहने, कृष्ण वर्ण का।

तापस को लगता है आज फिर वह बदजात...!

वह भीतर जाकर जैसे अपने को खोजने लगता है...उसकी समझ में नहीं आता यह रहस्य! पिछले दो सालों से, जब से यहां आया है, जब भी कोई 'नया' आदमी आता है, चन्द्रा अपनी मां के साथ, बच्चों को छत पर भेज देता है और खुद किसी जरूरी काम से बाहर चला जाता है। वस्तुतः इस आधी रात में मरने के लिए कहीं भी बाहर न जाकर, वह बाहर बैंच पर बैठा रहता है। भीतर से जब कुण्डा खुलता है, तब वह उधर झांकने का साहस बटोर पाता है...।

पैसे के मोह वाली बात तापस की समझ में अधिक नहीं आती। कोई मर्द इतना नामर्द हो सकता है—वह कल्पना भी नहीं कर सकता...। फिर उसे विचार आता है, कहीं साला सचमुच ही नामर्द तो नहीं! इसके सारे बच्चों की सूरतें अलग-अलग हैं!

आस-पास अब सब सो गए हे...! चन्द्रा के बच्चे, उसकी बूढ़ी मां का हाथ थामे अभी-अभी छत की ओर गए हैं...चन्द्रा 'अभी आने' की बात कहकर, जल्दी-जल्दी सीढ़ियों से उतर रहा है।

ओर दिनो की तरह, आज भी तापस स्विच ऑफ कर, अंधेरे में 'प्रतीक्षा' करता बैठा रहता है...।

बगल के कमरे में, अधढंके वैण्टीलेटर से धीमी रोशनी की लकीर पड़ रही हे...। तापस चुपके से तिपाई खिसकाता है और उस पर खड़ा होकर, वैण्टीलेटर से बाईस्कोप की तरह भीतर झांकना शुरू करता है।

जब-जब ऐसी स्थिति होती है, तापस को उस रात नींद आनी कठिन हो जाती हे।

जब उसकी मां ने दूसरी शादी की थी, तब भी उसकी स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही हो जाती थी। तब वह अधिक उम्र का नहीं था...रात को कभी-कभी जाग पड़ता तो देखता—मां का बिस्तर रीता पड़ा है। बगल वाले कमरे से रोशनी की एक धार छत को काट रही है। खादी के मोटे पर्दो के पार कुछ दिखलाई न पड़ता तो वह चुपके से अपनी बहन को जगाता और फिर दोनों कान लगाकर सुनते।

मरे सांप की तरह वह बिस्तर में घुसता है...पलंग न होने से बिस्तर अधिक ठंडा लगता है...उसे कुछ अटपटा-सा अनुभव होता है। वह सोचता है अब कुछ

ही घंटों की तो बात है...सुबह वह इस घोंसले से भी चला जाएगा...।

उसे खयाल आता है उसके पास अब अधिक पैसे नहीं बचे हैं...किराए वाले का किराया भी तो उसने इस महीने नहीं चुकाया...बहुत-से दूसरे लोगों का कर्ज भी—इसलिए अपनी यात्रा का उसने अधिक विज्ञापन नहीं किया। आने वाले कल की तारीख में, उसने पहले से कुछ पोस्टकार्ड लिख रखे हैं, जिन्हे विमान पर चढ़ने से पूर्व वह डाल देगा—इसलिए उसने नई दिल्ली के स्थान पर केवल पालम लिखा है...।

अपनी ही हड्डियां उसे चुभने लगती हैं...अपना ही शरीर वोझ-सा लगता है। वह सोचता है—सिर को सुराही की तरह उठाकर वह परे रख देता तो शायद बहुत बडा भार कम हो जाता।

सीमेण्ट के ठडे फर्श के कारण विस्तरा पानी में डूब गया हे...अधियारे में सिगरेट-लाइटर टटोलने के लिए वह पानी की थाह लेने की तरह हाथो को फेलाता हे तो मेज पर रखा, अधभरा पानी का गिलास ओधे मुह नीचे गिर पडता हे। बर्फीले छींटो के साथ-साथ काच के भी टुकड़े! वह रोशनी न जलाकर, पाव सिकोड़े पडा रहता हे दम साधे...!

अब दो बज गए होंगे...वह बाथरूम जाने के लिए उठता हे तो देखता हे, उसका हाथ किसी गिजगिजी वस्तु से टकरा गया हे! अचकचाता ह वह ।टोह लेने के लिए हाथ ऊपर से नीचे तक फेरकर पता लगाता हे--गरम-गरम कोमल मानव-देह.. वह एक-दो वार ऊपर से नीचे तक फिर हाथ फेरता हे। उसे इस तरह से बार-बार हाथ फेरना बहुत अच्छा लगता हे..।

मुट्ठी-भर कृत्रिम किरणो का जाल बिखरा हे। वह दखता हे बासु गहरी नीद मे सोई ह। उसे बासु के आने का भान क्यो नहीं हुआ? कब आई होगी वह? दरवाजा भीतर से बन्द था—फिर किसने खोला होगा...?

सामने रम की रीती बातल कुतुबमीनार की तरह खडी हे...उसे सहसा याद आता है—वह आज अपने ही नही, बेचारी बासु के हिस्से की भी अधेरे मे पी गया।

बासु को जगाता है वह। उसकी पलकें अलसाई हे, आंखों में लाल-लाल डोर...मुंह से भी बदबू आ रही हे। उसने पेशाब से, अपनी ओर का आधा विस्तरा गीला कर रखा हे।

बासु ने आज कहीं एक्स्ट्रा ड्यूटी दी हे...तभी तो उसका शरीर इतना असहाय लगता है—अवश!

अब वह अकेला ही विछोने पर बेठ जाता है। हवाई-जहाज़ का लम्बा टिकट

निकालता है...सुनहरे शेरों वाला पार-पत्र...अपना ही चित्र उसे अपरिचित-सा लगता है।

वासु की कल से सुबह की ड्यूटी है। अतः वह अपना सामान उठाकर, अकेला ही पालम तक जाएगा। दस-बारह मील तक, दोस्त को छोड़ने जाने की भूल आज के ज़माने में कौन समझदार आदमी कर सकता है। हवाई अड्डे पर पहुंचकर, विमान में चढ़ने से पहले सब मुड़कर हाथ हिलाते हैं—वैसे ही मुस्कराता हुआ, वह भी यों हवा में साथ हिला देगा...।

बम्बई के बाद बेरुत, बेरुत के बाद फ्रेंकफर्त्त...दस घंटे और...ऊपर से नीचे तक एक साथ सिला, बिना जेबों वाला लबादा पहने वह तारापद की वर्कशॉप में मशीनें साफ करेगा फर्श धोएगा या कृष्ण की अंगुली पर खड़े गोवर्धन की तरह, स्टैंड के ऊपर अटकी भारी-भारी गाड़ियों की, पानी की तेज धार की पिचकारियों से सफाई करेगा...या शीशों को रगड़ेगा या बर्लिन के स्टेशनों पर खड़ा सामान ढोया करेगा...।

परन्तु इतने पर भी उसे चावल के साथ भरपेट मछली नहीं मिली तो...?

इस अतिरिक्त 'तो' के साथ-साथ उसके कान गरम हो जाते हैं...सोचता है—तब वह तारापद को कोकोनट के तेल में भूनकर खाया करेगा...तारापद कांटेदार आदमी है। इसलिए खाने में उतना बुरा नहीं होगा?—मछली का-सा ज़ायका तो देगा ही।

उसका दिल ज़ोर-जोर से धड़कने लगता है...वह झकझोरकर वासु को जगाता है। वासु आखें खोले बिना ही, रोज़ की तरह, स्वाभाविक रूप से अपने शरीर के सारे कपड़े समेटकर एक ओर कर देती है।

तापस को लगता है—बिना पान खाए ही, उसके कान गरम होकर, रामबांस की तरह खड़े हो गए हैं...सारे शरीर पर पसीना-सा!

ऐसे ही, जिस दिन कुछ और ज़ोर से दिल धड़केगा, कुछ और पसीना आएगा, अपने पिता की तरह वह भी बाथरूम में बुत बना मिलेगा...। वे उस दिन कोई नई बात नहीं करता था—दो ओर दो का जोड हमेशा पांच ही होता है—इसे सिद्ध करने की क्या जरूरत है।

□

छोटी 'इ'

सच नहीं लगा। हाथ में अटैची थामे वह सामने खड़ी थी। इस स्थिति मे उसके यहा होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

एक अजीब-सी चुनौती का भाव था चेहरे पर। शायद चोकाना चाहती थी या कोई ओर विचार।

"अरे, पहचाना नहीं उपे...न...!"

मे देखता रहा। बोला कुछ नही। वह क्षण ऐसा था, जब में चाहकर अपनी खुशी व्यक्त कर सकता था। कुछ हिचकिचाता हुआ उसे 'आप' कह सकता था, 'तुम' या 'तू' भी। किन्तु पता नहीं क्यों मे कुछ बोल न पाया।

उसने हमेशा की तरह आज भी मेरे उत्तर की प्रतीक्षा न की ओर न कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की। अटेची नीचे फर्श पर रख दी ओर पलग की पाटी पर आचल स मुह पोछती हुई बेठ गई।

"यह तुम्हारी दिल्ली ह या चिड़ियाघर!" उसने सहमा इस तरह से कहा कि मे चोक-सा गया।

"पता नही चलता। मुआ ऐसा कोई भी नेता नहीं, जिसके नाम पर 'नगर' न हो। भगवान जाने इनका क्या बनेगा!" उसने हताश होकर कहा।

उसके अधर किंचित् टेढे हो आए। जब-जब वह गुस्से मे, उत्तेजना मे होती है, उसके चेहरे पर तनाव की गहरी रेखाएं खिंचती है—तब न जाने क्यों वह बहुत अच्छी लगती है।

उसकी आकृति-प्रकृति, हाव-भाव कुछ भी तो बदले नही। में अबोध-भाव से उसके चेहरे की ओर टकटकी बाधे देखता रहा, तो कुछ 'सचेत' हो आई।

"...हा, तुम तो बिल्कुल नही बदली...छोटी 'इ'!" मेरा वाक्य पूरा हुआ ही था कि वह खिलखिलाकर हस दी, "सच्ची, तुमसे ये शब्द सुनने के लिए

मैं तरस गई थी, उपे...। कितने बरस बीत गए, बाप रे बाप! कितनी जल्दी बूढ़े हो गए हम।" बच्चों की तरह दोनों हाथों से ताली पीटती हुई वह फिर खिलखिला उठी।

सारे बादल जैसे छंट गए। कितनी हल्की लग रही थी अब वह।

छोटी इला, बड़ी इला—दो बहनें थीं। मैं उन्हें छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' के नाम से चिढ़ाया करता था। कभी सुना था, बड़ी 'ई' ने शादी कर ली। पति के साथ कनाडा चली गई है और आजकल 'स्टेट्स' में है। किन्तु छोटी 'इ'...!

मुझसे छोटी नहीं, बड़ी थी छोटी 'इ'—बहुत बड़ी। खाली वक्त में कभी हमारे बरामदे की रेलिंग के सहारे खड़ी होकर मुझे 'टुण्ड्रा, टैगा, टैप्स' का भूगोल पढ़ा दिया करती थी। पिताजी के पोले मुंह से 'जुगराफिया' शब्द सुनकर वह हंसती-हंसती दुहरी हो जाती। एक बार मैं मोहल्ले के लड़कों के साथ झगड़ता हुआ नाली में गिर पड़ा। सिर से पांव तक कीचड़ ही कीचड़! उसी हालत में वह मेरा कान पकड़कर सीधे पिताजी के ड्राइंगरूम में ले गई, "...अंकल, अपने इस जुगराफिया के हाल तो देखिए।"

पिताजी मेरा हुलिया देखकर उस समय तो हंस पड़े, लेकिन बाद में मुंह निचोड़ते हुए अम्मा से बोले, "तोषी, यह डॉ. अस्थाना की बेटी कैसी है?"

अम्मा ने हमेशा की तरह सयानेपन से कुछ उत्तर दिया। वकील होने के नाते पिताजी को थोड़ी तो बहस करनी चाहिए थी। किन्तु पता नहीं क्या सोचकर वे चुप रह गए। बस, केवल एक बार उन्होंने प्रश्नसूचक दृष्टि से मेरी ओर घूरकर देखा भर था।

मैंने छोटी 'इ' को जब यह बतलाया, तो पहले वह खूब खिलखिलाकर हंसती रही, फिर सहसा गम्भीर होकर बोली, "जानते हो वे क्या कहना चाहते थे?"

मैंने निरीह भाव से उसकी ओर देखा।

छोटी 'इ' बहुत करीब आई। मेरे दाहिने कान पर अपने होंठ छुआती हुई फुसफुसाई, "कि लड़कियों के साथ न खेला करो। बिगड़ जाओगे!"

वह इतने जोर से फटकर हंसी कि मैं डर गया था। अब तक उन धधकते हुए होंठों की छुअन याद है...!

जब भी उसे बाजार जाना होता या किसी सहेली के घर या कहीं और—वह मुझे छाया की तरह साथ-साथ फिराए रखती। उसकी कोई हम-उम्र सहेली छेड़ती तो वह धीरे-से कहती, "मैं तो इसी से शादी करूंगी...!" और खिलखिला पड़ती।

मेरे पेन अक्सर खो जाते। पिताजी की डांट से बचाने के लिए अपना

पेन मेरे बस्ते में डाल जाती।...एक दिन स्कूल की किसी पार्टी से लौटी, तो चुपके से अपने पर्स में छिपाया एक लड्डू मेरे मुंह में ठूंस गई। बाद में दिनों तक सबके सामने मुझे चिढ़ाती रही कि वह उसका जूठा था...।

अब तक याद है उस जूठे लड्डू का स्वाद और याद है वह सांझ, जब में अकेला बैठा पढ़ रहा था। इम्तहान के दिन थे। 'इ' चुपके से आई। अपना दुपट्टा जाल की तरह उसने हौले से मेरे सिर पर फैलाकर फेंका। और फिर देर तक सिर यों ही अनजाने-भाव से सहलाती हुई बुदबुदाई, "ये आंखें मुझे दे दे रे!...ये नाक मैं रख लूं! और फिर उपे...!" उसने फिर मेरी ओर अजीब-सी आर्द्र दृष्टि से देखा, "क्यों?" मेरा सारा शरीर 'क्यों' के साथ-साथ झनझना आया। मैं अपने को छुड़ाकर भाग खड़ा हुआ और देर तक सोचता रहा कि 'इ' पागलों की जैसी बातें क्यों करती है?...कहीं पागल तो नहीं हो गई?

वह पगली 'इ' आज फिर सामने खड़ी थी—एक लम्बे अन्तराल के बाद।

"पता कहां मिला?"

"थाने में फोटो जो टंगा था!" 'इ' हंस पड़ी, "अरे, तुमने नहीं बतलाया तो क्या हुआ? हम तो खबर रखते ही हैं।" वह उलाहने-भरे स्वर में कह रही थी या सिर्फ स्नेह से।

कुछ रुककर फिर बोली, "ताई गुजरी, तूने बताया? तुझे पता था न कि मैं पिछले कुछ सालों से कानपुर में हूं। एक बार तू आया भी। उन दिनों बीमार थी, हॉस्पिटल में। तू नन्दिता के घर टहरा था! बता, नहीं टहरा था?"

उसका स्वर कुछ तीखा हो आया था। बड़ी-बड़ी आंखें जलने-सी लगी थीं। पर मैं उसे कैसे समझाता कि...।

चुप था मैं। वह भी थककर अब चुप हो गई थी। कुछ क्षण का सन्नाटा तोड़ती बुदबुदाई, "कसूर किसी का भी नहीं, उपेन...। अपनी तकदीर का है रे। सुना है अब तू बड़ा आदमी बन गया है। फिर भले-मानुष, तू किसी को क्यों पहचानने लगा!"

वह अटेची खोलकर अपना सामान उलटने-पलटने लगी।

हीटर पर चाय का पानी धरने लगा तो वह बाज की तरह झपटी, "न्नां! ना। मैं बनाऊंगी...!"

कमरे की प्रत्येक वस्तु को 'इ' बड़ी अजीब-सी दृष्टि से छू-छूकर देख रही थी।

"खाना कहां खाते हो?"

"होटल में...कभी. ."

"घर पर क्यों नही बनाते?"

"बना तो सकता हू, लेकिन परेशानी बहुत हो जाती हे। तुम जानती ही हो अकेले का झंझट।"

"हा, हा। कहता तो ठीक है...।" उसने बड़े सयानेपन से कहा।

"अच्छा, एक बात पूछू?" उसने कुछ क्षण चुप रहकर कहा, "जवाब दोगे?"

"हा.. ।"

'अच्छा, रहने दो. .।" उसने मेरी ओर देखा ओर हसने-सी लगी।

प्रत्युत्तर मे हाले-से मे भी हंस सकता था। कुछ कह भी सकता था। किन्तु म न जाने क्यो चुप रहा ।

दरवाजे के प त मर मफेद बाथरूम-स्लीपर उसने बड़े सहज ढंग से अपने पावो मे डाले ओर साबुन-तोलिया समेटकर बाथरूम में चली गई।

अटेची आधी खुली थी। सामान इधर-उधर बिखरा हुआ। अग्रेजी के एक-दो नए उपन्यास, कॉलेज की फाइले, दवा की छोटी-छोटी तीन-चार शीशियां ओर दनिक उपयोग की कुछ दूसरी वस्तुए.. ।

उपन्यास उलट-पलटकर मे देखता रहा। और 'प्रिफेस' पढ़ भी गया कि वह नहा-धाकर लोटी। अब एकदम ताजी लग रही थी 'इ'। इस उम्र में भी चेहरे पर अनोखा निखार था। कूल्हे को छूते गीले बालो मे से पानी की सफेद बूदें निथर रही थीं, और अकारण वह अपने-आप हस रही थी...!

"हमारे पडोस मे वह बगालिन ताई थी न, उपे...न...!" उसने गीले बालो को यो ही चोटी की शक्ल मे बदलते हुए बडे उत्साह से कहा, "पिछले साल ट्रेन मे मिल गई थी। अरे, उसने तो हद्द कर दी। सबके सामने लिपट पडी। ओर रास्ते-भर न जाने कहा-कहा की बाते पूछती रही। याद हे, तुम्हें कितना मानती थी।"

वह कितनी उत्सुकता से कह रही थी, पर मे उसके चेहरे की ओर शरारत से ताकता मुस्करा रहा था अब...।

"शादी क्यो नहीं कर लेती, छोटी 'इ'!" मैंने पूछा तो वह हंस पड़ी। फिर सहसा गम्भीर हो आई। उसने कोई जवाब न दिया। शायद उससे कोई भी जवाब न बन पड़ा। शायद उसने सहज भाव से टाल दिया...।

भोजन कहीं कर लेगे, जहां भूख लगेगी—तय कर हम घर से निकले तो वह 'बहू' की तरह बन-ठनकर सिमटी-सिमटी-सी चुपचाप चलती रही। उसके साथ मोहल्ले से गुजरते हुए मुझे बड़ा अजीब-सा लग रहा था। न जाने लोग

क्या सोचेंगे! आस-पास की बहुत-सी खिड़कियां खुली थीं। कुछ चेहरे झांक भी रहे थे।

"सबसे अन्तिम बार हम लखनऊ में मिले थे न!" उसने मेरी ओर देखा, "निमू की मैरेज में...!"

मैंने कोई उत्तर न दिया। केवल सामने देखता रहा।

"हां, कहां चलोगी?" चौराहे पर पहुंचकर मैंने सन्नाटा तोड़ा।

"कहीं भी। बस कहीं निरन्तर चलते रहने की इच्छा है...।"

मैंने पास से गुजरता स्कूटर रुकवा लिया। दोनों बैठ गए। सामने लम्बी-चौड़ी सपाट सड़क दूर तक चली गई थी। स्कूटर छोटे-छोटे पहिए पटकता हुआ फट्-फट् भागता रहा...।

जब दूर निकल गए तो स्कूटर वाले ने स्कूटर मोड़कर धीमा किया और मुड़कर पीछे देखा, "किधर जाना एऽ सा'बऽ?"

"बस, यहीं उतार दो।" मेरी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना वह उछलकर उतर पड़ी।

"यहां क्यों...?"

"मन नहीं। अजीब-अजीब-सा लग रहा है। चलो, कहीं पैदल चलें!"

और अब हम पैदल चलने लगे।

"शिमला किस काम से जा रही हो?"

"टीचर्स कान्फ्रेंस में।"

"कितने दिन...?"

"यही दो-तीन। नॉट मोर देन थ्री डेज़।"

"लौटते समय यहीं होकर जाना...।"

"न्ना! कुछ और काम है।"

"जाना कब है?"

"आज शाम की ट्रेन से। क्यों, कालका मेल कैसी रहेगी?"

मैं चुपचाप रहा। इस तरह आने की क्या जरूरत थी? एक दिन पहले भी आ सकती थी। एक दिन बाद में भी जा सकती थी...।

"रास्ता कैसे भूल पड़ी थी आज...?" मैंने छोटी 'इ' की ओर देखा।

"कभी-कभी रास्ता भूलना भी अच्छा लगता है न!"

हम दोनों के बीच का फासला अब काफी कम हो गया था। वह बहुत पास-पास चल रही थी। शायद वह उन दिनों की बातें सोच रही थी, जो बचपन में हमने साथ-साथ बिताए थे और अब कभी भी लौटकर न आ पाएंगे।

बहुन छोटी लग रही थी 'इ' अब' अब तक याद हे, दो-तीन बार उसने जाने या अनजाने 'तुम' नहीं, 'आप' भी कहा था। क्यो कहा था?

जव हम एक दुकान के सामने मे गुजरे, तो उसने नन्ही बच्ची की तरह हठ करते हुए कहा, "देखो, मेरे लिए कुछ खरीद दो न।"

"क्या?"

"जो चाहो।"

"मे चाहू।"

"हा, हा। जो तुम चाहो। यो मेरे पास सब-कुछ है। किसी चीज की कमी नही।" उसने अजीब-सी दृष्टि से देखते हुए कहा, "किन्तु मे चाहती हूं कि तुम कुछ खरीदो।"

मैने 'सेन्ट्रल-स्टोर्स' से कुछ खरीदा। लगा, मरा इस तरह से चीजों को छाटना, खरीदना, पेसे चुकाना उसे कही बहुत अच्छा लग रहा हे।

होटल मे भोजन के समय वह यदा-कदा मेरी थाली मे से सब्जी के जूठे टुकडे उठा लेती। मेरा पानी का गिलास अपने होठो से लगा लेती। उसका चेहरा पता नही क्यो बहुत भावुक हो आया था' भोजन के पूरे समय वह मुश्किल से दो-चार शब्द बोली होगी। वस, चुपचाप खाती रही .।

.अव तक काफी चल लिए और अन्त मे काफी थक गए, तो उसने 'पिक्चर' का प्रस्ताव रख, जहा कुछ देर आराम से बेठकर विश्राम किया जा सके।

हां, हॉल मे भी तो वह उसी तरह भावुक मुद्रा मे बैठी रही। मुझे लग रहा था कि कही भावावेश मे वह कुछ कर न बैठे। मुझे याद आया, जब मै वहुत छोटा था, वह कई बार मुझे अपने साथ सिनेमा लिवा ले गई थी।...और एक वार वह इतनी सटकर बेठी थी कि मेरा दम घुटने लगा था। कान गरम हो आए थे। तब मे कुछ भी नही समझता था। पर आज उसकी निगाहें परदे पर टगी थी ओर प्रतिमा की तरह वह निश्चल बैठी थी—यह देखकर मुझे कम अचरज नहीं हो रहा था।

"केसी लगी पिक्चर?" बाहर आने पर मैंने पूछा तो उसने निरीह बच्चे की तरह मेरी ओर देखा, "सच्ची, मेने तो कुछ भी नही देखा' बड़ी पागल हूं मैं।" उसने एक गहरी सांस ली ओर फिर अकारण हंसने लगी। उस हसी मे कितनी वेदना थी!

बड़ा विचित्र-सा लग रहा था उसका व्यवहार! जब आई तो कितनी हंस रही थी। कितनी अच्छी लग रही थी।

घूम-फिरकर बहुत देर बाद घर लौटे तो काफी वक्त हो चुका था। वह अब जल्दी-जल्दी सामान बांध रही थी, "सुनो, कभी उधर आओ तो हमारे यहां जरूर आना। हां, कभी पत्र ही भेज दिया करो, अच्छा लगता है। अकेलेपन का अहसास कुछ कम होता हे।...जब से अम्मा, बाबूजी गुजरे...।" उसने डबडबाई पलकें ऊपर उठाकर देखा, "कभी-कभी तो एकान्त काट खाने को आता हे। सच्ची, मे कभी पागल हो जाऊगी, उपेन...!"

उसका गला भर आया था। मेंने निकट जाकर देखा—'इ' नन्ही बच्ची की तरह सिसक रही हे। उसके चेहरे की झुर्रिया स्लेट पर खिंची खड़िया की लकीरो की तरह साफ झलक रही हे ओर सिर के आधे से भी अधिक बाल सन की तरह सफेद हो आए हे।



लकीर-सी परछाई

सुजाता की टाइपराइटर पर लड़खड़ाती उंगलियां सहसा रुक गई। खयाल आया—मां के सिरहाने पर दवा रखना तो आज भूल ही गई...डॉक्टर ने कल कहा था कि तबीयत अधिक भारी होने पर दवा का बदला जाना लाजमी होगा। इसलिए वह दूसरी दवा की शीशी भी साथ दे दी थी।

आज तक ऐसा कभी भी हुआ न था। जब भी वह ऑफिस के लिए रवाना होती, उससे पहले मां को सारी हिदायते गिन-गिनकर दे डालती—"तीन-तीन घंटे बाद दवा फिर लेनी होगी।...प्यास लगे तो यह गरम पानी का लोटा सिरहाने रख दिया है, कटोरे से ढंककर। ठंडा पानी न पी लेना कहीं भूलकर। नहीं तो दवा के असर में अन्तर आ जाएगा।...ये गोलियां मुंह में धरे रखना, प्यास कम लगेगी।...मैं शाम को जल्दी लौट आने की कोशिश करूंगी। और हां, डॉक्टर गोपाल ने कहा था कि...।" वह चलती-चलती फिर ठिठक पड़ती, "खैर, अभी रहने दो। फिर देखा जाएगा...।" मां के तपते माथे पर हाथ फेरती और फिर एक गहरी सांस भरती हुई बाहर की ओर झांकती। एक आंख घड़ी की तेजी मे खिसकती हुई सुई पर होती और दूसरी सामने की सर्पाकार कतार पर, जिस पर गुथकर बस की अनन्त प्रतीक्षा करनी होगी अभी।

"बिटिया, ठीक समय पर क्यों नहीं आ जाती ऑफिस से?" मां की दरवाजे पर टिकी धुंधली आंखें उसे साफ दिखाई देतीं। मां के बंधे कण्ठ की क्षीण पुकार साफ सुनाई देती—"सबके ऑफिस तो सुना है पांच-छः बजे तक बंद हो जाते हैं, लेकिन तुम नौ-दस से पहले शायद ही कभी लौटती हो! भले घर की लड़कियों को इत्ती रात गए लौटना क्या अच्छा लगता है बिट्टो...!" मां की आवाज में दबा आक्रोश, दबी वेदना, दबी बेबसी झलके बिना न रहती।

"अम्मा, ऑफिस तो अपना भी उसी समय बन्द होता है।" कुछ सोचती हुई कहती, "लेकिन, अभी नई-नई कच्ची नौकरी है न! फिर थोड़ा-सा पार्ट-टाइम भी काम कर लेती हूं। तनख्वाह के थोड़े-से गिने-गिनाए पैसों से खर्चा कैसे चल सकता है...!" इसके अलावा और वह मां से कह ही क्या सकती थी।

"कितनी तनखा है तेरी...?" मां फिर कुरेदती।

"बस, यही कोई तीन-सवा तीन सौ रुपये समझ लो।"

"पार-टाइम से कितना मिलता है?"

सुजाता के गले में कुछ अटक-सा आता इस बार। क्या कहे, सूझता न था। "यही कोई अस्सी रुपये तक।" बिना सोचे ही कह डालती।

"तो इसके लिए ही क्यों परेशान होती हो। रहने दो। कम में गुजारा कर लेंगे। हाथ खींचकर खर्चा करें तो क्या इत्ते पर ही निबाह नहीं हो सकता? कोई रुपये के लिए अपना खून थोड़े ही सुखाना है!" अपने पपड़ी-लगे सूखे होंठों को भींचती हुई, माथे की उभरी सलवटों पर उंगलियां फेरती हुई फिर सन्नाटा भंग करती चिन्तित स्वर में कहती—"सुना, लोग कहते हैं बिट्टो! टाइप ज्यादा करने से फेफड़े पर काफी असर होता है। क्यों...?"

सुजाता निरुत्तर मां के मुंह की ओर ताकती।

"तेरी तन्दुरुस्ती भी तो इधर दिन पर दिन गिर रही है मुई। हर घड़ी जब देखो रुआंसी नजर आती है। चेहरा उतरा-उतरा-सा, आंखों के कोर भीगे-भीगे-से। तुझे ऐसा क्या दुख है बिट्टो?" बूढ़ी मां का गला रुंध आता, आवाज लड़खड़ा जाती।

सुजाता फिर सामने खड़ी रह न पाती। मुंह फेरकर एक ओर टल जाती। लेकिन...लेकिन...।

तभी टीं...ई...ई! मैनेजर के कमरे से बुलावे की घंटी बजी। सुजाता की तन्द्रा टूटी। अचकचाती हुई इधर-उधर देखने लगी, जैसे सपने से जागी हो।

पास के कमरे का दरवाजा हल्के से खोलकर सिमटी-सी खड़ी हो गई। "सर, आपने बुलाया था?"

"हां, वह लेटर टाइप हो गया?"

"कौन-सा—एक्सप्रेस?"

"नहीं, नहीं। वह फॉरेन-फर्म वाला।"

"वह, वही कर रही हूं। बस, दो मिनट में हुआ जाता है...!" डरते-डरते सहमे स्वर में सुजाता बोली।

"इतनी देर में अभी तक एक लेटर टाइप नहीं हो सका!" अपने भूरे

प्लास्टिक-से चिकने-चमकते खल्वाट सिर पर साहब ने हाथ फेरा। एक बार घूरकर सामने देखा और फिर मुस्कराते हुए फाइलों पर निगाहें गड़ा लीं।

सुजाता चुपचाप चली गई। बाहर आकर कुछ दम में दम आया। एक लम्बी सांस भरकर फिर टिक्...टिक्...टप्...टप्. .टप्...टप्...उसकी रक्तविहीन पीली अंगुलियां टाइप के बटनों पर निर्दयता से टकराने लगीं।

हमेशा से अभ्यस्त हाथ अपना काम करते रहे। आंखें अपना काम करती रहीं और बोझिल मन अपनी उधेड़बुन में लगा रहा—

...मां को दवा नहीं मिली तो क्या होगा? खाल से ढंके हड्डी के ढांचे में प्राण भला कब तक अटके रहेंगे? कैसे रहेंगे? कहीं वह चल बसी? सच ही चल बसी तो क्या होगा? नहीं! नहीं! सुजाता का सारा शरीर भावी आशंका से काप उठा। हाथ फिर थम गए। उंगलियां खुली की खुली रह गई, जैसे एकाएक लकवा मार गया हो। जैसे तेजी से चलती मशीन में से मशीन को चलाने वाली करेंट छूट गई और यंत्र का साग ढांचा जड़वत् मुंह फाड़े खड़ा हो गया हो।

तो मैनेजर से छुट्टी लेकर क्यों न चली जाए? एक विचार आया। पर, छुट्टी कौन देगा? तो नोकरी छोड़कर क्यों न चली जाए? पर, डॉक्टर का पुराना सो-डेढ़ सौ रुपये का बिल कौन चुकाएगा? किराया पिछले दो महीने का कौन देगा? राशन-पानी का खर्च कैसे चलेगा? लाख सिर टकराने के बाद भी नौकरी ताक पर धरी कहां मिलेगी? फिर कल से कहा-कहां अन्धी मां का हाथ थामे दर-दर भटकेगी? भीख मागेगी? नही.. नहीं...! उसका सिर चकराने लगा। टाइपराइटर पर ही सिर झुकाए, आखें मूंदे बैठ गई।

'टी...ई...! टीं...ई...ई!' लगातार फिर घंटियां बजनी शुरू हुई।

सुजाता चोंककर खड़ी हो गई। दो कदम बढ़े साहब के कमरे की ओर, लेकिन फिर खिंच आए। गड़े खूंटे की तरह पल-भर खड़ी रही। फिर न जाने क्या सोचती हुई कमरे में दाखिल हो ही गई। घंटी लगातार अभी तक भी बज रही थी।

सलवार-दुपट्टा ठीक कर अपराधिन की तरह पलकें झुकाए द्वार पर ठिठक गई।

"मुंह क्या देख रही हो! लेटर टाइप हो गया?" उत्तेजित, असंतुलित स्वर में साहब ने कहा इस बार।

सुजाता चुप देखती रही।

"बोलतीं क्यों नहीं हो? आई से—हुआ या नहीं? डू यू नो, तीन बजे ऑफिस की लास्ट डाक जाती है।" उन्होंने घड़ी की ओर देखा—"तीन बजने

में कुल पांच-सात मिनट बाकी हैं।"

"दो लाइनें और हैं सर! बस हो चुका...!" सुजाता के अधरों से भिनभिनाती आवाज फूटी।

"तो जल्दी करो! जल्दी...!" गोल-गोल भयावनी आखें नचाते हुए साहब ने इस बार इतनी ऊंची आवाज मे कहा कि सारा कमरा गूंज उठा। जेसे सहसा कहीं विस्फोट हो पड़ा हो।

सुजाता सिर नीचा किए चली गई।

टाइपराइटर पर हाथ रखा ही था कि तभी हांफते हुए किमी 'भद्र' पुरुप के पास आकर पूछने का स्वर सुनाई दिया,"नू इंडिया ऐकसपोरट यही है जी?"

उसने झुझलाकर उत्तर दिया—"हां!"

"यहां हैंगे...हेंगे मिनीजर साहबऽऽ...!"

वैसे ही लापरवाही से उसने सामने दरवाजे की ओर इशारा कर दिया।

रोज ही ऐसे सिरचढे मिलने-जुलने वाले घोड़े पर सवार होकर आते रहते हें, जिन्हें बोलने की भी तहजीब नहीं। फिर यह कोई इन्क्वायरी ऑफिस तो नहीं, जो हरेक की हर बात का उत्तर दिया ही जाए।

चिट्ठी का अन्तिम शब्द वह टाइप कर ही रही थी कि देखा, मेनेजर साहब स्वयं तशरीफ ले आए हें। हाथ बांधे चुप सामने खड़े हैं। चेहरे पर द्विविधामिश्रित परेशानी की रेखाए साफ झलक रही हें।

उनके सम्मान में वह कुर्सी पर यों ही थोडा-सा उठ खडी हुई।

"बेठो! बेठो!" बड़े आत्मीय स्वर में साहब ने कहा।

"बस, अब खतम हो ही गया सर...!" खिसियानी हुई सुजाता बोली।

"ल्येट इट! रहने भी दो...!" मेनेजर साहब ने झिडककर कहा। इस झिड़की में कुछ आत्मीयता थी। अपनापन था। पर, इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण सुजाता समझ न पाई।

साहब कमरे मे चले गए। तभी घटी की फिर वही कर्ण-कटु पुकार।

वह लपककर अन्दर भागी।

"सर! हो गया ह। बस, डाक-रजिस्टर में नोट कर रही हूं।"

"रहने भी दो न! बेठ जाओ।" कुर्सी की ओर इशारा किया।

सुजाता भीगी-सी बेठ गई।

"कुछ वर्गड मालूम होती हो आज। क्या बात है?"

"कुछ नहीं!" सुजाता के मुरझाए अधर यों ही अनायास खुल गए।

"सिरदर्द तो नहीं...?"

"थोड़ा-थोड़ाऽऽ...कोई खास नहीं।"

"चाय पी लो न! ठीक हो जाएगा।"

सुजाता चाहकर भी विरोध न कर सकी। पर हा, चाय पीने से कुछ राहत मिली।

"घर में कौन-कौन है तुम्हारे?" बड़े आत्मीय स्वर में मैनेजर साहब ने पूछा, चाय का अन्तिम घूंट निगलते हुए।

"मां है।"

"ओर?"

"ओर कोई नही।"

"क्या एज होगी?"

यह सारा सवाल-जवाब सुजाता को भला न लगा। फिर भी न चाहते हुए जवाब देना पडा—"कोई सिक्सटी।"

"तो घर का काम-काज वही करती है?"

"करती थीं कभी। अब तो इधर दो-एक साल से बीमार हे।" सुजाता की आकृति उदास हो आई।

"खर्चा चल जाता हे?"

सुजाता बोल कुछ भी न पाई, केवल सिर हिला दिया।

"कुछ पेसे हम बढ़ा देगे...तीन इन्क्रीमेण्ट्स...।"

यह आत्मीयता सुजाता को जरूरत से ज्यादा लगा। साहब का मूड अब ठीक हे। वह छुट्टी के लिए कहना ही चाहती थी कि साहब ने हमेशा की तरह मुस्कराते हुए, हमेशा का भरत-वाक्य दुहराया—"तो...कौन से 'कॉफी बार' चलोगी आज...!"

हतप्रभ-सी क्षण-भर देखती रही सुजाता। कहना कुछ चाहती थी, पर कह न पाई। उसे मां की बाते याद आई।

"मैंने दो सीटें 'रॉइना' मे आज ही, अभी-अभी, मॉर्निंग में रिजर्व करवाई हें।" साहव ने सन्नाटा भग किया।

"मैनेजर साहब...!"

"नो-नो! आज स्पेशल प्रोग्राम है मिस सुजाता!"

"मेनेजर साहब..!"

"अरी, दो-चार ही तो ऐसे चांस आते हैं। कितनी मुश्किल से सीट्स मिली। यू डोण्ट नो।"

पचपन-साठ से ऊपर की अवस्था। सिर कॉरपोरेशन की सडक की तरह

साफ। एक भी खूंटा लैंस लगाकर ढूंढे नहीं मिलेगा। दांत एक भी ठिकाने नहीं। सारे के सारे नकली, बनावटी। भौंह के बाल तक सफेद। सुजाता ने एक बार सामने की ओर देखा, फिर पलकें अनायास झुका लीं।

"मैनेजर साहबऽऽऽ!" अन्तिम बार कहते-कहते सुजाता का गला भर आया।

"बावली हो! भला मातम मनाने के लिए है क्या यह जिन्दगी!" साहब बड़े भोंडे ढंग से हंसे, "अरी, रोने का ट्रीटमेण्ट रोना नहीं, हंसना है! समझी! आज तुम्हें ज्यादा वरीज हैं न! इसलिए ज्यादा हंसो! ज्यादा हंसो!!" वह फिर स्वयं ठहाका मारकर हंस पड़े। सारा सूना कमरा गूंज उठा।

सुजाता का माथा सुन्न रह गया। सारा कमरा, सारी धरती जैसे तेजी से घूमती-सी लगी। कुछ भी फिर सोचने-समझने की सामर्थ्य न रही।

साहब ने कार का दरवाजा खोला। कहा—"बैठ जाओ।"

वह चुपचाज बैठ गई।

कार 'रॉइना' के आगे रुकी। साहब ने कहा—"उतर जाओ।"

वह उतर गई।

साहब उसे निकट बिठाए, उसकी कमर में बाहें डाले एक अंधेरी-सी कोठरी में से सामने हो रहे अर्द्धनग्न सह-नृत्य का आनन्द लेते रहे। चाय पर चाय, कॉफी पर कॉफी—फिर पता नहीं रम, व्हिस्की क्या-क्या मंगाते रहे!

कब रात के आठ बजे, कब दस, कब बारह साहब को कुछ पता नहीं। पश्चिमी नृत्य चलता रहा। वायुमण्डल में पश्चिमी उन्मादक संगीत गूंजता रहा। हवा में पश्चिमी शराब की-सी गंध अबाध गति से बहती रही। वे भी उसी के साथ-साथ बहते चले गए।

घड़ी ने टन् एक बजाया। साहब को जैसे होश आया। नशा कुछ कम हुआ।

"मिस सुजाता! सुजाता!!" उन्होंने झकझोरा।

पर सुजाता पत्थर की तरह बैठी थी। अविचल। आंखें फाड़े सामने की ओर टकटकी बांधे घूर रही थी।

"क्या हो गया?" साहब ने नशे में झूमते हुए कहा।

"कुछ भीऽ नहीं...।" सुजाता ने एक ठण्डी आह भरते हुए उत्तर दिया और वैसे ही सामने देखती रही।

"घर नहीं जाना?"

सुजाता ने कुछ भी नहीं कहा। जैसे सुना ही न हो।

"तुम्हारी मदर की कण्डीशन सीरियस थी...!"

सुजाता कुछ न बोली।

"तीन बजे के करीब एक आदमी आया था। कहता था...! कहता था...! कहता था कि तुम्हारी...मां...मर गई...!"

सुजाता वैसी ही अविचल बैठी रही। न रोई। न बोली। चुप!

"घर नहीं जाना है...?"

"...!"

"जाओ न, चली जाओ!"

सुजाता हौले से उठ खड़ी हुई, वैसे ही। उसी तरह। सामने की ओर बढ़ी।

"कैसे जाओगी इस आधी रात में...?"

"...।"

'कहां जाओगी?"

"...।"

"सुजाता...! सुजाता...!"

सुजाता जैसे बहरी हो गई। गूंगी। जड़-पत्थर। जैसे उसने कुछ भी सुना न हो। वैसे ही डगमग-डगमग बहके कदम रखती हुई एक स्याह लकीर-सी परछाई बाहर की ओर बढ़ी और उस अंधियारे सागर में न जाने कहां विलीन हो गई!



बरस बीत गया

पर यहां भी लगता नहीं सुमन का मन! जब से आई है, बुझी-बुझी-सी रहती है। डॉक्टर कहते हैं—"बढ़ने की बजाय तुम्हारा 'वेट' दिन-पर-दिन घट रहा है। सभी तो टहलने-घूमने जाती हैं, फिर तुम क्यों नहीं जातीं? समय पर दवा क्यों नहीं लेतीं? किसी से बातें क्यों नहीं करतीं? बोलने से मन हल्का रहता है...।"

लेकिन वह सुनी अनसुनी कर देती है।

हर हफ्ते मां का खत आ जाता है। एक ही बात हर बार दुहराई जाती है। बाबूजी डॉक्टर भण्डारी से रिपोर्ट मांगते रहते हैं, एक्स-रे की काली-काली प्लेटें भी। और फिर लौटती डाक से लंबे पत्र भेजते हैं। जिनमें साइकलॉजिकल ट्रीटमेण्ट की बातें रहती हैं और उबाने वाली जिरहें भी। बाबूजी स्वयं डॉक्टर नहीं, फिर डॉक्टरों की हर बात का पोस्ट-मार्टम क्यों करते हैं? शायद इसीलिए न कि वे सूझ-बूझ वाले वकील कहे जाते हैं। न मालूम क्यों, अज्जू हर महीने अपने जेब खर्च से पैसे बचाकर भेजता है। अन्त में लिखता है—बाबूजी से जिकर न करना, जिज्जी। छुट्टियों में एक बार जरूर आऊंगा। जब से तुम गई हो, घर सूना-सूना लगता है। कहो तो कुछ किताबें भेज दूं, इंटरेस्टिंग हैं।...इन्दर भैया चिट्ठी नहीं भेजते। लेकिन हां, भाभी ने एक चंदेरी की साड़ी भेजी थी—पता नहीं क्या सोचकर।

उसकी आंखें धुंधला गई हैं...। स्पष्ट कुछ दीखता नहीं। वह केवल अंगुलियों पर गिन-गिनकर कुछ घटाती-बढ़ाती है। बरस पूरा होने में अभी कुल कितना समय है!

खोए-खोए-से वृद्ध ताऊजी (ठाकुर साहब) उस दिन पिंडदान करेंगे। उसे

खयाल आता है कि कोसी ताई भोर से पहले ही जागकर नहा-धोकर गो-ग्रास देगी। उनकी आंखों में सांझ के झुलसे बादलों की बुझती लाली होगी।

ताऊजी अपना एक हाथ दूसरे हाथ पर धरकर, गहरी सास भरकर दूर कहीं ढूंढने लगेंगे—अनन्त की मा, हमारा अनन्त मरकर भी अमर हो गया। तू रो-रोकर उसकी आत्मा को दुःख क्यो देती है? फिर अपने आप बुदबुदाएंगे! स्वयं से बातें करने लगेंगे...बैरी निकला पूरब जनम का। इस बुढापे मे आनके आज यह दिन भी देखना पड़ा।

"सच-सच कहो, अनन्त भैया, तुम्हे कभी हिचकी लगती है? परेड रोज करते हो?"

"हा।"

"पहाडी पर भी चढ़ते हो?"

"हा।"

"तो बहुत थक जाते होगे न! घुटनो मे दर्द होता होगा?"

वह सिर हिलाकर उसकी ओर देखता है।

"जब तुम थककर, चूर होकर.." कहती-कहती वह अटक जाती है, "तब एक क्षण के लिए...।"

"क्या।"

"कुछ भी तो नहीं।" कहकर वह अपने आप अकारण हंसने लगती है, "सच्ची, मैं कभी-कभी पगला जाती हू। एकात में घटों बैठी-बैठी पता नहीं क्या-क्या सोचती रहती हूं! कभी तो यो ही आखो मे जल छलक आता है। तुम भी बड़े 'वो' हो। मुझे चिट्ठी मे 'कैट' क्यो लिखा? पान नहीं लोगे?"

"न।"

"क्यों...? पहले तो रोज लेते थे।"

"अब छोड़ दिया। दांत खराब हो जाते हैं न! कैडेट लोग...!"

"कैडेट लोग क्या आदमी नहीं होते?"

"आदमी तो होते हैं, लेकिन जानवर नही होते। घास-पात नही चबाते...!"

सुमन आज अपनी हार पर तिलमिलाती नहीं, खुश होती है। इतने लम्बे अर्से बाद जब से अनन्त आया है, सुमन भी कुछ बदल-सी गई है। कभी तो एकदम गम्भीर बन जाती है। काफी 'एज्ड-सी' लगती है।

एक गिलौरी वह उसकी ओर बढ़ाती है—"प्लीऽऽज!"

बिना किसी प्रतिरोध के अनन्त पान मुंह में डाल लेता है।

"देहरादून में पान की दुकानें नहीं होतीं?"

"होती क्यों नहीं! बहुत दुकानें हैं! कभी चल के देखना।"

"मुझे देहरादून बहुत अच्छा लगता है।"

"तूने कब देखा?"

"देखा तो नहीं, बस यों ही। बिना देखे भी तो बहुत-सी चीजें अच्छी लगने लगती हैं न!" वे दुकान से दूर चले जाते हैं।

"मुझे इसी पिछले महीने एक 'लव-लेटर' मिला था।" सुमन अपने आप कहती है, जैसे स्वयं को सुना रही हो।

"कहां से?"

"हमारे एक क्लासफेलो ने भेजा था।"

"क्या लिखा था?"

"बड़ी मजेदार बातें थीं।"

"तो तुम्हें अच्छी लगी होगी?"

"अच्छी नहीं लगीं।"

"तो तुम्हें गुस्सा आया होगा?"

"गुस्सा भी नहीं आया। सच, कुछ भी नहीं हुआ—सच्ची।"

"बड़ी अजीब हो तुम—कुछ भी नहीं हुआ!"

उसके बाद अनन्त दो-तीन बार फिर दिल्ली आया था। लेकिन ट्रेनिंग पूरी करके जब वह हफ्ते-भर के ज्वाइनिंग-टाइम में यहीं दिल्ली से होकर गया था, तब वह अजमेर वाली नानी के साथ पुष्कर गई थी, जहां उसने रेत में दौड़ते ऊंटों को पहली बार देखा था।

लौटने पर अम्मा ने बतलाया था—अनन्त रंगीन तस्वीर खींचने वाला कैमरा लाया था। तेरे कमरे से तेरा एल्बम उठा ले गया, कहता था कुछ और रंगीन तस्वीरें लगा दूं। मेरे पास पड़ी-पड़ी बेकार हो जाएंगी। न जाने कहां-कहां जाना पड़े! फिर उन्हें मैं कहां फिरता रहूंगा!

सुमन एल्बम खोलती है। हाईस्कूल के इम्तहान के लिए जो फोटो खिंचाई थी पासपोर्ट साइज की, उनमें एक कम थी। उसके बदले छह-सात नई रंगीन तस्वीरें थीं। कुछ फोटो, जिनकी पीठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'ए' लिखा था...अंग्रेजी का 'अ'।

तभी दो-तीन महीने बाद अनन्त का एक छोटा-सा पत्र आया था। कुछ भी तो नहीं लिखा था। सब जगह भरने वाली बातें थीं—स्कूल रोज जाया करो, 'एक्जाम' के बाद क्या सोचा है? पान न खाया करो। मैं ठीक हूं। तुम ठीक होगी।

उसके पश्चात् वह मैट्रिक पास भी हो गई। तब भी शायद कोई खत था। फिर लम्बे अर्से तक कुछ भी नहीं, फिर एक लम्बा पत्र...।

वह अंगुलियों में हिसाब लगाती है। सम्भवतः वही पत्र था। उसके बाद तो...!

"दिसम्बर में मेरा साल पूरा हो जाएगा। तब लम्बी छुट्टियों में घर आऊंगा। जाड़ो मे बरफ देखने नैनीताल जाने की सोचता हूं। तुम भी चलोगी न! मैंने तो डिसाइड कर लिया है। अच्छा बतलाओ, मैं तुम्हें मुफ्त में लेफ्टिनेंट की बीवी बना दूं तो क्या इनाम दोगी।"

जब अनन्त पहली बार देहरादून से आया और खूब बढ़-चढ़कर मिलिट्री वालों की बडाई करने लगा था तो उसने कहा था—"मुझे मिलिट्री वाले अच्छे नहीं लगते। बड़े 'रफ' होते हैं, अनन्त!"

"होंगे...!" तटस्थ भाव से अनन्त ने देखा था, "अच्छा, एक बात बता। तू पागलों की तरह बाल क्यों बिखेरे रहती है हरदम? जूड़ा क्यों नहीं बाधती? साड़ी के साथ 'मैच' करता ब्लाउज क्यों नहीं पहनती? लेफ्टिनेंट साहब को ऐसे लोग पसन्द नही!...सुनो, भारत के होने वाले सी-इन-सी की बात तुम्हें माननी पडेगी। जाओ और 'टिच' होकर आओ। पिक्चर चलेंगे।"

वह दरवाजे पर ठिठक पडती है—"हमें ही ऐसे लोग कौन पसन्द हैं! बाबा, हमे टीचरी करनी है। नौकरी तो कहीं दिला दोगे न?"

"नौकरी ही करनी है तो लेफ्टिनेंट साहब की करो—दस रुपए, कपड़ा-लत्ता, खाना-पीना!"

सुमन तुनककर जीभ काटती है—"दऽसऽ रु-ऽप-ऽयेऽऽ!...खाऽना-पीनाऽ! शरम नहीं आती किसी शरीफ लड़की से ऐसा कहते!"

अनन्त उसके बिखरे बालों को खींचता है—"शऽऽरीऽऽफ...!"

"छोड़ो भी, 'ब्रूट' कही के! सारे बाल उतार दिए। एकेडमी वाले क्या तुम्हें ऐसी ही ट्रेनिग देते है!" सिंदूरी चेहरा आंचल से पोंछकर वह ओझल हो जाती है।

वह एल्बम सुमन यहां भी अपने साथ लाई है। कभी घंटों तक उसकी ओर पता नहीं क्या देखती रहती है।

इन भिंची-भिंची दीवारों के बीच उसका दम घुटने-सा लगा। दवा की तमाम बिखरी शीशियों से बदबू-सी आने लगी। जी मिचला आया। वह हौले से उठकर बैठ गई। पांवों में बिना स्लीपर डाले ही बरामदे में चली गई। एक खम्भे के सहारे खड़ी हो गई।

पिछले सात दिनों से लगातार चली आ रही झड़ी के सिमटने पर भी आसमान गंदले तालाब की तरह मैला है। दिन-रात जब देखो कुहासा ही कुहासा। पानी ही पानी! सीलन ही सीलन! कपड़ों में से गंध आने लगती है। लोग तो कहते हैं—बहुत अच्छी जगह है यह।

"सिस्टर, क्या यहां हमेशा ऐसा ही रहेगा?"

सिस्टर सामने से आती है और सधे पांवों से खट्-खट् करती दूर निकल जाती है। उसके दोनों हाथों में बहुत-सी शीशियां हैं। वह ऑपरेशन-रूम की ओर जा रही है। कुछ कदम चलते ही वह मुड़कर देखती है और मुस्कराती है। सिस्टर की यह मुस्कराहट उसे कभी अच्छी नहीं लगती।

कभी-कभी दवा पिलाती हुई सिस्टर उसकी संगमरमर-सी सफेद नाजुक अगुलियों को सहलाती हुई जोर से दबाती है—"डार्लिंग, यू आर सो चार्मिंगऽऽ...।" फिर सधे पांवों से इसी तरह खट्-खट् चली जाती है। दूर पहुंचकर मुड़कर देखती हे और बड़े अश्लील ढंग से मुस्करा देती हे।

उसके बाएं पांव मे कुछ-कुछ सूजन है। चलते समय लचकता है। खड़े होने पर तकलीफ होने लगती है। वह पास पड़ी बेंत की कुर्सी खीचती है। हौले से इस तरह बेठनी है कि कहीं धंस न जाए। जंगले के महारे झुककर दोनों हथेलियां से ठोढ़ी थाम लेती है—ऐसे ही कभी अपनी खिड़की पर बैठा करती थी—घंटों तक.. ।

डाकिया नाराज़ है। अनन्त की चिट्ठी नहीं लाना। ताऊजी उदास रहते हें। ताई कभी दुपहरी में अम्मा के पास बैठती हैं, तो ढुल-ढुल रोने लगती हैं। उसे भी इधर क्या हो गया है। वह अकारण क्यों परेशान रहती है! उस पर अम्मा की आवाज आनी रहती है—"सुमी, कहां चली जाती है तू! इन्दर कब से चाय के लिए चिल्ला रहा है। देख, आज महरी नहीं आई। जरा चौक ही साफ कर दे। चाय में उबाल लूंगी।"

"मा...!" सुमन तुनककर कहती है—"तुम दिन-रात चौक-चोके की बातें किया करती हो। कुछ पता भी है, यहां एक के बाद एक चौकियां हाथ से निकलती जा रही हैं। लगातार डिफीट हो रही है। देश की प्रेस्टीज दांव पर लगी है। और...तु-ऽमऽ!"

मां चुप हो जाती हैं—अपनी पुरानी आदत के अनुसार! और बिना अधिक हील-हुज्जत किए काम पर जुट जानी हैं।

उस पार शोरगुल-सा सुनाई देता है। एक जगह पर बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी

दिखलाई देती है। सड़क पर ट्रैफिक रुक गया है। सांस रोके सब सुन रहे हैं–ढोला चौकी...कल रात की लगातार भयंकर गोलाबारी के बाद...हमारी सेनाएं मजबूती से मोर्चा संभालने के लिए...।

ताऊजी की आंखों का रंग सफेद हो जाता है। ताई से खाना नहीं खाया जाता।

बाबूजी उड़े-उड़े-से रहते हैं। घुटने पर घुटना टिकाए, गरदन ईजी-चेयर पर ढुलकाए सिगार का गहरा कश खींचते हैं–"आज गलत पैरवी कर बैठा, राय साहब! जज भी उल्टा डिसीजन दे गया...! सुम्मी, तू दिन-रात रेडियो से क्यों चिपकी रहती है? भई, स्कूल की पढ़ाई-लिखाई भी चौपट हो गई...! अरे, हां, खबर क्या है बेटा, वालौंग का क्या बना...? ऐसा क्राइसिस यार जिन्दगी में नहीं देखा। तीन दि· मे नींद नहीं आ पा रही है। डिफेन्स अब बिना फॉरिन एड के चल नहीं सकता। क्या करें?"

घर में अब अधिकतर सन्नाटा रहता है। खाते-खाते अम्मा का हाथ रुक जाता है–"सामने के ठेकेदार साहब को तो देखो, एक ही तो लड़का है, वह भी पलटन में!"

"च्चऽऽ, पलटन मे होने से क्या हुआ! हम तो अपने इन्दर को भी भेजने की सोचते हैं...इन्दर की मां, आफ्टर आल, नेशन इज नेशन...!"

मां 'बरनमाला' क अक्षरों से अधिक पढ़ी-लिखी नहीं। इसलिए अंग्रेजी के शब्द समझ में नहीं आते। पिताजी के सामने वैसे ही कम बोलती हैं। पर पिताजी पता नहीं सरकार की किस पॉलिसी के बारे में क्या-क्या कहते रहते हैं। अम्मा वेचारी सिर हिलाती रहती हैं, जैसे सब जानती हों।

"सुम्मी!" मां मौका देखते ही फिर सामने की ओर देखती हैं–"जा, ज़रा ठाकुर साहब के घर ट्रे में चाय दे आ। सुना है, उनका नौकर भी भाग गया...!" फिर वह पिताजी के चेहरे की ओर ताकती हैं–"क्यों जी, कोई खबर नहीं आई उनके अनन्त की?"

दस-बारह दिन भी बीत नहीं पाते कि भद्दू कन्धे पर झाड़न लटकाए दबे पांव आता है। बाबूजी कानून की किताबों में डूबे हैं।

"सऽ...र...काऽऽ...र!"

बाबूजी गरदन ऊपर नहीं उठाते। अंगुली की नोक जीभ से छुआकर पन्ना पलटते हैं और पुस्तक-चिह्न की तरह बीच में एक अंगुली रख देते हैं।

"ठाकोर साहेब के घर ताला लटक रहो, सरकार!"

"हं!" बाबूजी जैसे नींद से जागते हैं, "कौन ठाकुर साहब?"

"वही, जो पड़ोस में रहात रहे हैं—अनन्त लल्ला के बाबा!"

"क्यों? क्यों?"

"सुनत रहाते हैं सुदौसी से हरदुवार चले गइन।"

"क्यों?"

"आपन को तो पत्ता नहीं, सरकार! कहत हैं, लाम में से कछु कपड़े-लत्ते आयत रहन। तार-सार आयत रहन!"

बाबूजी की पलकें खुली-की-खुली रह जाती हैं। चेहरे पर एक तनाव-सा आता है। माथे की सलवटें गहरी हो जाती हैं—"उफ्! गॉड!"

—तुझे क्या हो गया, सुम्मी! खाना क्यों नहीं खाती?

—तू एकांत में क्यों बैठी रहती है?

—तुझे देखते ही डर-सा लगता है।

—दो-चार ही दिन में तुझे क्या हो गया है! दिन-रात तुझे फीवर रहता है। डॉक्टर कहते हैं कि...।

"टुम बोलटा क्यों नाही?" डॉक्टर घोषाल चेतावनी देते हैं—"अगर्चे बोलना नाही...हंसना नाही...रोना नाही...बाबा, हार्ट पर बुरा अफेक्ट पड़ना मांगेगा!"

मां लिपट पड़ती हैं—"तुझे क्या हो गया, बिट्टो?"

सुमन की जीभ सूखकर तालू से चिपक गई है। वह गुमसुम बैठी रहती है। आंखें खोले भी उसे कुछ दीखता नहीं।

सड़कों की भीड़ में एक आतंक का भाव है। सामने घर की गली की ओर खुलने वाली चौड़ी खिड़की अब फिर खुली रहती है। ठाकुर साहब के दोनों हाथ युटे कपाल पर चिपके रहते हैं। रेडियो ही जैसे उनके लिए एकमात्र सहारा रह गया हो।

"अनन्त की अम्मा, मुझे तार की खबर गलत मालूम होती है। इत्ती बड़ी पलटन में एक ही नाम के क्या और नहीं होते...? गफलत भी तो हो सकती है...।"

ताई से कुछ कहा नहीं जाता। रोया नहीं जाता। वह ठगी-ठगी-सी हवा में तैरने लगती हैं—"कपड़े भी आपने बहा डाले मेरे अनन्त के! कोई तो याद रहने देते उसकी?"

ताई बक्से में से निकाल-निकालकर उन गहनों को सबको दिखलाया करती हैं जो अभी कुछ महीने पहले उन्होंने अपनी होने वाली बहू के लिए खरीदे थे। और वह कीमती सिल्क की नारंगी साड़ी भी दिखलाना नहीं भूलतीं जो बनारस

से वह खुद खरीदकर लाई थीं।

सुमन के नंगे पांव सीमेन्ट के ठंडे फर्श पर जम-से गए हैं। सारे पांव में एक झुनझुनी-सी उठती है, जैसे अनगिनत सुइयां एक साथ चुभ गई हों। उसने घुटने को मोड़कर अंगुलियों को छुआ जो एकदम बर्फ की तरह ठंडी लगती हैं। हाथ अंगुलियों पर देर तक धरा-का-धरा रह गया। नाखूनों का रंग कुछ सफेद-सा हो आया है। अंगूठे के बगल वाली अंगुली बिना देखे ही सहलाई —अंगूठे से जो कुछ-कुछ लम्बी है।

"वे जल्दी मर जाते हैं, सुमन।" अनन्त बड़े चिन्तित स्वर में कहता है— "जिनकी यह अंगुली अंगूठे से बड़ी होती है। चंचल दी की अंगुली भी ठीक तरी तरह थी न! तभी तो वह जल्दी मर गई!"

कौन जल्दी मरना है, कौन बाद में..! वह बालकनी की तिरछी पट्टी पर माथा टिका देती है। पता नहीं, कब ड्यूटी नर्स आती है, उसका हाथ थामे कमरे में लिटा देती है, "दवा आज फिर नहीं ली तुमने!"

डॉ. अशरफ ठिठक पड़ते हैं—"फल पड़े-पड़े खराब हो गए!" बड़ी झुंझलाहट होती हैं उन्हें।

सुमन की खामोश निगाहें कहीं दूर गहरे में टिकी हैं।

"तुम अपने को चेज करो, नहीं तो इलाज से कोई फायदा नहीं होने का।" डॉ. अशरफ जैसे अन्तिम वार्निंग दे रहे हों, "तुम्हारे फादर कितने चिंतित हैं! मदर बीमार रहती हैं—तुम्हारे कारण।...इस तरह तुम कब तक जिंदा रह सकोगी—आइ काण्ट से...।"

डॉक्टर का वाक्य पूरा होने से पहले ही वह दवा की कड़वी घूंट चुपचाप गटक जाती है। डॉ. अशरफ मुस्करा उठते हैं। उसके कन्धों को थपथपाते हैं—"यू आर सो इमोशनल।" फिर उसके चेहरे की ओर देखते हैं—"डॉक्टर भंडारी की रिलेटिव हो न?"

वह सिर हिलाती है।

"ही टोल्ड मी अबाउट यू।" वह कुछ सोचते हुए कहते हैं—"अच्छा, देखो, कल से जरा टहला करो, अच्छा!...खाली समय में रेडियो सुनो। मैगजीने पढ़ लिया करो। थोड़ी-बहुत बातचीत से कोई हर्जा नहीं। सोचने से वरीज बढ़ती हैं।"

गले में आला लटकाए डॉक्टर उठते हैं, मुस्कराकर उसकी ओर देखते हैं और फिर दूसरे बेड की ओर बढ़ जाते हैं।

सुमन को लगता है, डॉक्टर ठीक कहते हैं। उसे अपने को चेंज करना

चाहिए।...इधर उसे मृत्यु से भय लगने लगा है। वह पांव फैलाए एक लम्बे समय तक इसी तरह पड़ी रहती है। किताब पढ़ती है। फिर रेडियो लगाती है, पर चैन मिलता नहीं। फिर नर्स से बातें करती है...। थोड़ी ही देर में उसका सिर भारी हो जाता है।

जब कुछ नहीं सूझता तो यों ही पलंग के नीचे कागज़ों को टटोलती है। कोई एक अखबार हाथ लगता है। उसे आश्चर्य होता है। कितने लम्बे समय से उसने अखबार की सूरत नहीं देखी...!

'संयुक्त हवाई-अभ्यास' की खबरों के बाद किसी विदेशी नेता का भाषण... वह पहला ही पन्ना पलटती है कि एक काली लकीरों से घिरे चौखटे पर निगाहें अटक जाती हैं। पेपर को बिल्कुल निकट लाकर पढ़ती है–

'अपने इकलौते बेटे लेफ्टिनेण्ट अनन्त की याद में...जो गत दस नवम्बर को वालौंग के मोर्चे पर शत्रुओं से लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुआ था... उसके बूढ़े माता-पिता उसे हर क्षण याद करते हैं। वह जहां कहीं भी हो, सुखी हो।'

सुमन की आंखें मिच जाती हैं। पलकों से टप्-टप् लाल आंसू टपकने लगते हैं–एक बरस, क्या सचमुच एक बरस बीत गया।



काला धुआं

बुझी हुई आग के सहारे एक शव पड़ा है, ओरत का।

बहुत बार मर चुकने के बाद, अभी तक भी वह सांस लेती, चलती-फिरती है।

इसी के पास एक दूसरा शव है—दुधमुंही बच्ची का। उसके दूध के दांत भी अभी टूटे नहीं। आज शाम तक भी जो चलती-फिरती, चहकती-हंसती थी, पर अब मिट्टी के टूटे खिलोने की तरह निढाल बिखरी है। नन्हा सिर लटका हुआ-सा है—मैले, फटे चीथड़े में दो-तीन बार कसकर लपेटा गया है। खून की कुछ बूंदें मिट्टी के कच्चे फर्श पर ढुलकी हैं। झीना चीथड़ा पानी की तरह भीगा है। ठंड से रक्त जम चुका है। हड्डियां सूखे बांस की तरह अकड़-सी गई हैं।

पास ही जानवरों के रीते बाड़े में एक और शव है—

एक पुरुष का—अधेड़, कुरूप, नाटा-सा!

उसे खंभे से जकड़कर बांधा गया है। उसके दोनों हाथों में रक्त के ताजे निशान हैं। उसने पत्थर पर नारियल की तरह पटक-पटककर अपनी अबोध बच्ची का सिर तोड़ दिया था। यह किसी ओर की नहीं, उसी की है—जिससे वह बहुत प्यार करता, जिसे गोदी में खिलाता, जिसकी हंसी में हंसता और दुःख में रोता था।

एक आदमी ने चाकू से अपने सीने की जगह से कुछ बाहर निकाला और टुकड़े-टुकड़े कर मसल दिया।

यह कार्य कोई बाप ही कर सकता है, कोई अपना ही—पराया नहीं!

औरत करवट बदलती है। सुबक-सुबककर नन्ही बच्ची की तरह रोती है। जिसे वह अपने मुंह के टुकड़ों पर, अपने लहू के कतरों पर, अपनी छाती से

लगाकर पालती थी, आज वह मिट्टी के ढेले की तरह निर्जीव पड़ी है। कल से कोई नहीं—जिसे वह प्यार कर सकेगी, अपना दिल जिससे बहला सकेगी। उसकी पहली दोनों संतानें भी काल के गाल में अकाल ही समा गई थीं, पैदा होते ही।

तब भी वह इसी तरह अकेली रह गई थी—निपट-निःसहाय।

तब भी वह इसी तरह रोई थी—मुंह भींचकर।

पर, उसकी आंखों से अब आंसू नहीं दुलकते—पलकें सूख-सी गई हैं।

वह छटपटाकर, पत्थर पर माथा पटक-पटककर, अपनी बच्ची की तरह मर जाना चाहती है, किंतु मर नहीं पाती।

शायद चाहकर आदमी को मौत भी नहीं मिलती।

अंगारे की तरह धधकती रक्तिम आंखों से वह अंधियारे की ओर देखती है—मशान का-सा सन्नाटा! अंधेरा ही अंधेरा!

उसकी देह सिहर जाती है।

वह घुटनों में सिर गड़ा लेती है।

उसका आधा शरीर नंगा है। मैली-सी फटी चादर पूरे शरीर को समेट नहीं पाती। हर छोर अधूरा है।

बर्फीली हवा बह रही है। खपच्चियों के किवाड़ पर से सीटी की जेसी आवाज आ रही है। हिम के भार से दबी दुर्बल झोंपड़ी चरमरा रही है।

वह करवट बदलती है—सामने की ओर देखती है फिर।

उसका पति, जिसने अभी-अभी...आज ही शाम को अपनी मासूम बच्ची की हत्या कर डाली थी—खंभे के सहारे लटक रहा है।

अभी कुछ क्षण पहले वह बुरी तरह कराह रहा था। डंडो से, हाथों से, लातों से, मुक्को-घूंसों से और बड़े-बड़े पत्थरों से उसे बेरहमी से मारा गया था। प्रहार पड़ते ही वह हर बार बुरी तरह चीख उठता था। हाथें को, पांवों को छटपटाता, रस्सी तुडाने को आतुर होता, पर उसकी निर्जीव नसों से, उनकी रस्सियां हजार गुना मोटी थीं।

लोग उसे गालिया देते और उसके मुंह पर निर्लज्ज भाव से थूकते—"यह पत्थर है! निर्दयी! इस अबोध बच्ची के गले पर छुरी फेरते हुए इसके हाथ नहीं कांपे होंगे! कसाई! आदमखोर।" घृणा से मुंह सिकोड़कर चले जाते।

एक-दूसरे की ओर मुड़कर कुछ बड़े चिंतित स्वर में कहते, "इस नरभक्षी के जीते-जी बेचारी पत्नी वैधव्य का-सा जीवन बिता रही है...जब से ब्याह हुआ, इसकी तीन सन्तानें हुई, किंतु इसने एक को भी पहनने के लिए चीथड़ा तक न दिया। कफन भी दूसरों को जुटाना पड़ा। जो बाप अपने बच्चों के लिए कफन

तक के पैसे जुटा न सके, जिस मर्द के जीते-जी औरत दूसरों के खेतों में काम करके, दूसरों की जूठन पर अपने बच्चों का पेट पाले...।"

तब उनकी अनगिनत नंगी निगाहें रस्सियों से बंधे कुरूप पुरुष की ओर नहीं—उस स्त्री की ओर, बर्छी की तरह भेदती हुई मुड़तीं, जिसकी उम्र अभी अधिक नहीं, जिसके शरीर का मांस अभी शिथिल नहीं, घोर गरीबी के बावजूद जिसके चेहरे का रंग फिटकरी के पानी की तरह साफ है। चीथड़ों की रीती ठौर पर धूप के चकत्तों की तरह गोरा-सुडौल शरीर चमकता है!—बदजात औरत!

कितनी ही निगाहें उसकी उघड़ी, गोरी पिंडलियों पर अटक जातीं। कितने ही लोग एक स्वर में बरस पड़ते, "यह पुरुष राक्षस है। इसने ब्रह्म-हत्या की है। इसे फांसी या जनम-कैद होनी चाहिए। इसके मुंह पर कोयला पोतकर...इसे फिर कभी मुड़कर इधर नह। आ ना चाहिए—यह गांव हमारा है। इस ओग्त की देखभाल हम करेंगे।"

औरत अपने तन पर सुई की तरह चुभती हज़ारों आंखें देखकर शरम के मारे धरती में दूर तक धंस जाती है। सोचती है—उसके पुरुष ने बच्ची के बदले उसका भी माथा पत्थर पर क्यो नहीं पटक दिया? अभी तक वह क्यों जीवित है? इस दुनिया में जो पदा हो गया, उसका जीना जरूरी है क्या...?

उसका पड़ोसी, अभी कुछ समय पूर्व, उसका हाथ पकड़कर सबके सामने जबरदस्ती अपने घर ले गया था। बड़बड़ाता हुआ कहता जाता था, "यह कैसे हो सकता है कि तुम भूखी रहो? पड़ोस में रहकर हमारा इत्ता भी धरम नहीं ..।" उसके आदमी का नाम लेकर उसने जोर से मिट्टी पर थूका और फिर ढेर सारी रोटियां उसके सामने बिखेर दी थीं—जैसे पशु के सामने पटकते हैं।

उसकी बच्ची का शव देर तक फड़फड़ाता रहा था—अधमरी चिड़िया की तरह। प्राण भलीभांति छूट नहीं पाए थे—शायद। रक्त की लाल लकीरें-सी आंगन के कई पत्थरों तक चली गई थी—कच्चा नारियल बुरी तरह टूट गया था।

तीसरा शव...।

औरत रोटियां निगल नहीं पाती...।

विस्फारित नेत्रों से, ठंड से ठिठुरती हुई वह इधर-उ‍ देखती है—एक काली छाया चील की तरह अंधकार के सागर के ऊपर मंडरा रही है।

दो शवों के बीच औरत फिर बैठ जाती है।

उसे खयाल आता है—वह रोटियां देने वाला आदमी बड़ा भला है। ऐसे ही और बहुत-से भले लोगों ने पहले भी उसके सामने रोटी के टुकड़े फेंके थे। जब वह दूसरों के खेतों पर निराई करती, तब बहुत-से लोग बहुत-से बहानों

से उसके पास खड़े हो जाते—फटे चीथड़ों के बीच, उसके उघडे अगों को देखते... उसके दुःख-दर्द की बातें पूछते और उसकी सहायता करने के लिए आतुर हो पड़ते।

माघ-पर्व के दिन जब उसके पास नहाने के बाद बदलने के लिए कोई कपड़ा न था—अधियारे में वह अकेली ही गधेरे में नहाने चल दी और पानी से विवस्त्र बाहर निकलने के बाद एकमात्र चीथड़ा लपेटकर घर आई तो उसने सुना—दो पुरुष फुसफुसाते हुए बातें कर रहे हें। उत्कठा और आश्चर्य से एक-दूसरे का मुंह ताक रहे हैं।

आदमी कहीं-न-कही पर चौपाया भी अवश्य होता हे शायद।

उसकी पथराई पलके ऊपर उठती है—उसका पति अब रस्सियो मे झुका, लांथडे की तरह गिरा पड़ा हे—शायद अभी मरा नहीं। यो मरेगा भी नही—मरना इतना आसान है।

वह सोचती हे—उसे बच्ची को यों सिर पटक-पटककर नही, गडासे से काटकर मारना चाहिए था। परतु होले-होले किश्तों मे जीने और मरने की हमारी आदम आदत हे शायद।

वह ठड से सिकुड़ती हुई, झीना कपड़ा नीचे तक सरकाती हे तो चर... चर...जहा से हाथ लगा, वहीं से खिच जाता हे और सारे शरीर मे सफेद दरारें-सी पड़ जाती है।

सात के बदले अब वह शून्य का अक बनकर आखे मूदकर सिकुड जाती हे और सोचती हे—उसका पति ऐसा क्यो हे?

वह शायद पति नही, केवल पुरुष हे—नर, जिसे स्त्री की कभी-कभी आवश्यकता अनुभव होती है। जहा वह सुगमता से, साधिकार प्राप्त हो सकती हे—उस ठौर का नाम हे घर।

वह जन्म से ही ऐसा है। सारा दिन चीथड़ों से ढका, आवारा फिरता हे। कान उसके बारे मे क्या सोचता हे, क्या कहता है—उसे वास्ता नहीं। पर इधर जब से ज्यादा पगलाया है, स्त्री की उसकी भूख बढ़ आई है।

वह चोराहे पर खड़ा होकर, हर राह गुजरती औरत को घूर-घूरकर देखता ह। पहले सनातन भुखमरी के बावजूद हट्टा-कट्टा था। आबनूसी होने के बावजूद सुन्दर था। इसलिए किन्ही अच्छे घरों में कभी-कभी खाने को कुछ अच्छा मिल जाता था उसे।

पर अब जग लगी कील की तरह भद्दा हो गया है—दुबला-पतला। रात को चाहे कितनी दूर, कहीं हो—घर आए बिना नहीं रहता।

उसकी पत्नी उससे घृणा और प्यार दोनों साथ-साथ करती है। संभवतः इसलिए कि मादा के साथ-साथ मां भी है। वह नोंच-नोंचकर उसके शरीर के कपड़ों को फाड़ती है। उसके बालों को खींचती है। पर जब वह कुछ भी नहीं कहता तो उसे अबोध-अनाथ बच्चे की तरह समेट लेती है और फिर चुपचाप रोती है।

उसे खयाल आता है, उसके जर्जर शरीर को बहुतों ने, बहुत ढंग से नोंचा है। अपने बड़े-बड़े नाखूनों से उतारकर भरपेट मांस खाया है और फिर उसे छिटककर दूर फेंक दिया है—जूठन की तरह।

वह उन नाखूनों के निशानों की ओर देखती है ओर न जाने कितनों को, कितनी गालियां देकर अपने कलेजे की आग उगलती है और शांत होने का प्रयत्न करती है।

उसे चारों ओर पंजे ही पंजे, नाखून ही नाखून दीखते हैं।

वह फिर अपने नाखूनों को देखती है—जिनमें रक्त के छींटे वार्निश की तरह चिपक गए हैं।

कांपते हाथों से वह अपनी बेटी का शव पास खींचती है। नदी के किनारे लुढ़कते, चिकने पत्थर की तरह बच्ची का सिर लटक रहा है। शरीर बर्फ के टुकड़े की तरह ठंडा।

वह उसे और पास खींचती है...।

बच्ची के सिर के बिखरे रूखे बालों पर कत्थई गोंद की तरह खून जम गया है। उसकी आंखें मुंदी हैं, होंठ खुले। दूध के दो दांत बाहर की ओर निकले—जैसे वह गहरी नींद में डूबी, डरावनी हंसी में हंसने का प्रयत्न कर रही हो।

उसे लगता है, अभी-अभी वह जागेगी तो दूध पीने के लिए तड़फड़ाएगी। हाथों से कुछ टटोलती हुई होंठों को चिपचिपाएगी ओर फिर हाथ कुछ न आने पर जोर-जोर से रोना शुरू कर देगी।

उसकी सांस तेजी से चलने लगती है। नसों में भयंकर तनाव-सा आता है, सिर फटने को है। शरीर जलती रस्सी की तरह ऐंठने लगता है। वह अनुभव करती है—धीरे-धीरे वह भी मर जाएगी। सुबह चीलों की तरह लोग चारों ओर से घिर-घिरकर आएंगे ओर उड़ जाएंगे।

तब उन्हें बहुत दुःख होगा। सब पछताएंगे कि उसे एक रात भी अकेली क्यों रहने दिया! यदि कोई पास होता तो वह आत्मघात न करती!...आत्मघात करना पाप है। इससे प्रेत-योनि मिलती है। आदमी की आत्मा भटकती रहती है। उसका अगला जन्म मनुष्यों के नहीं, भूत-प्रेतों के बीच होता है।

एक सुन्दर युवती का भूत बनना किसी को भी भाता नहीं।

उस औरत को उन सब पर दया आती है। और उसका हाथ फिर बच्ची का धड़ सहलाने लगता है।

वह बार-बार पलकें खोलती है, बार-बार मींचती है। बिछौने पर ही बैठ जाती है। उसे अहसास होता है, वह धीरे-धीरे पिशाचिनी बनती चली जा रही है। उसके दांत कुछ बाहर की ओर निकल आए हैं। नाखून भी कुछ-कुछ लंबे-से। शरीर का रंग काला स्याह हो गया है...।

वह जोर से ठहाका लगाकर हंसना चाहती है, पर हंस नहीं पाती। उसकी जीभ तालू पर चिपक गई है। सांस समाप्त हो चली है।

असहाय होकर फिर बिछोने पर बिखर पड़ती है वह। बहुत देर तक पड़ी रहती है—काठ की तरह अचेत सी।

जब होश आता है तो उसका हाथ सबसे पहले अपने दांतों पर जाता है, जो सचमुच बहुत छोटे हैं हमेशा की तरह। फिर नाखूनों को सहलाती है। बच्ची के शरीर की तरह उसका तन भी ठंडा है।

बच्ची के धड़ पर माथा टिकाकर वह फूट-फूटकर रोने लगती है।

जब बहुत देर तक रोने की आवाज थमती नहीं, तो जानवरों के बाड़े के पास बंधा शव छटपटाता है—"अरी, बदजात! रो क्यों रही है? परमात्मा के लिए घड़ी-भर को सोने दे! पता नहीं कितने दिनों से सोया नहीं...।"

सिसकना थम जाता है। वह अपने मुंह में कपड़ा ठूंस लेती है। उसे लगता है, अगर वह रोएगी नहीं तो सचमुच मर जाएगी। उसका दम घुटने लगता है।

वह नहीं चाहती कि उसका पति घड़ी-भर भी चैन की नींद न ले सके; क्योंकि कल उसे लंबी यात्रा तय करनी होगी। बहुत दूर तक पहाड़ी रास्ता पार कर, पैदल ही जेल तक जाना होगा!...घावों से उसका शरीर भर गया है। जगह-जगह मांस उतर गया है। लहू के काले निशान दूर से ही दीखते हैं, जैसे सांप डस गया हो!

उसका उदास मन गहरे विराग से भर जाता है।

अभी तक भी दूर किसी बर्फीली अंधेरी घाटी में सियार का क्रन्दन साफ सुनाई दे रहा है। जिस दिन किसी की मृत्यु होती है, सियार इसी तरह रोते हैं। उसे लगता है, आज भी कोई मरा है...कोई मरने वाला है।

एक छोटा-सा शव गलबांही के बीच थामती है। बहुत जोर से दबाकर छाती से लगाती है—छाती में दूध उतर आता है। उसे अहसास होता है—वह भी मां है!

फटे बांस की आवाज से उसकी तंद्रा फिर टूटती है। लगता है एक मधुर सपना बिखर गया। वह फिर उसी छटपटाहट के बीच घुटने-सी लगती है।

बांस की दरार से देखती है फिर अचकचाकर...। उसका पति गरदन धरती पर झुकाए चमगादड़ की तरह तड़प रहा है। जमीन पर कुछ पानी बिखरा है। कीचड़ के बीच, जानवर की तरह लंबा मुंह किए लंबी जीभ से वह पानी चाट रहा है।

वह चाहती है उधर जाए! उसके घावों से भरे शरीर को सहलाए। अपने हाथों एक बार, अंतिम बार पानी पिलाए, पर दरवाजे पर गांव वालों ने ताला लटका दिया है—बहुत भारी!

वह टपकती झीनी छत की ओर देखती है।

दूर किसी घर में से चिंगारी-सी फूट रही है।

तभी टट्टर चरमराता है। आंगन में किसी के चलने की आहट आती है। कोई उसकी ओर मुंह किए होले-से बाहर से फुसफुसाता है—

"पंचायत बैठी है...।"

"...?"

"चोधरी ने ते किया है कि भजन के तन पर मिट्टी का तेल छिड़ककर, आग लगाकर बच्ची को भी उसी में डाल दिया जाए, नहीं तो गांव की बदनामी होगी। पुलिस को अभी पता नहीं, इसलिए बात दबी की दबी रह जाएगी।"

औरत का शव और भी ठंडा पड़ने लगता है।

"लोग कहते हैं कि भजन को फांसी होगी और तुझे उमर-केद। पुलिस सारा गाव लूट लेगी। बहू-बेटियों की लाज लूटेगी सो अलग!"

वह चुप है, कुछ कह नहीं पाती।

"गांव के सब लोग तुम्हें बहुत चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि तुम गांव में ही रहो। कोई पूछे तो कह देना—तुम्हारे घर में आग लग गई थी, जिसमें सब जलकर मर गए।"

"..."

"चोधरी का लड़का तुम्हारे लिए सब-कुछ करने को तैयार है। विसुन प्रधान भी तुम्हारी मदद करने में कोई कमी नहीं करेंगे। तुम सुख से रहोगी...।"

सामने से कोई उत्तर नहीं आता, केवल सुबक-सुबककर सिसकने का स्वर व्याप रहा है।

"तुम बोलती क्यों नहीं?"

"..."

"गांव वालों से मैं क्या कहूगा? सुबह होने से पहले ही पंचायत फैसला

कर लेना चाहती है।"

अब भी कोई उत्तर नहीं मिलता तो वह उसका झोंटा पकड़कर खींचने का प्रयास करता है।

फटा चीथड़ा हवा में उड़ जाता है इस बार।

नंगी देह गीली मिट्टी पर लकीर बनाती हुई दूर तक असहाय-सी घिसटती चली जाती है। और दहाड़ मारकर रोने लगती है तो वह घबराकर भाग जाता है।

अब फिर अकेली है औरत। उसके पास तन ढंकने के लिए अब कुछ भी नहीं है। तेज हवा के साथ अंधियारे में फटे चिथड़े भी न जाने कहां उड़ गए हैं! बहुत खोजने पर बित्ते-भर के एक-दो टुकड़े मिलते हैं, पर उनसे क्या होगा?

सुबह होने तक सब घिर आएंगे। उनके सामने वह अपनी लाज कैसे बचा पाएगी?

औरत कांप उठती है।

भयत्रस्त दृष्टि से आसमान की ओर देखती है—कुछ घड़ी रात अभी बाकी है!

सहसा उसके मस्तिष्क में एक विचार कौंधता है। बेटी की लाश उठाए वह अंधियारे में बाहर निकल पड़ती है।

बिना कफन के दो नंगे शव जंगल की ओर भाग रहे हैं। वृक्षों के झुरमुट में, किसी घनी झाड़ी में छिप जाते हैं...पत्तों के ढेर में...।

पहाड़ी के इस छोर से सब साफ दीख रहा है। सहमी-सहमी-सी, कांपती-कांपती-सी वह भयभीत आंखों से देख रही है।

भोर से पहले ही लोग घिर आए हैं। उसके कच्चे आंगन पर घेरा बनाकर खड़े हो गए हैं। भूखे भेड़ियों की तरह कुछ खोज रहे हैं, कुछ टटोल रहे हैं। कुछ न मिलने पर उनका आक्रोश बढ़ रहा है।

झोपड़ी के तिनके-तिनके बिखेर दिए हैं उन्होंने। मिट्टी की दीवारें नोंच-नोंचकर उधेड़ डाली हैं। खंभे के सहारे बंधे किसी असहाय, अकेले, अधमरे आदमी पर सब लाठियों से, घूसों से, लातों से प्रहार कर रहे हैं।

औरत देख नहीं पाती। कांपती हुई जोर से पलकें मूंद लेती है।

कुछ देर बाद दूर कहीं धुएं की लट दीखती है उसे...।

खंभे के सहारे बंधे आदमी के चारों ओर सूखी घास का ढेर लगा है। घास जल रही है और काला धुआं आसमान को छू रहा है। काली लकीर-सी चली गई है दूर तक।

□

झुका हुआ आकाश

पता नही क्या हो गया है उसे! शाम को जब भी ऑफिस से घर लौटता हू—मुडेर पर काठ के-से दो लब टुकड़े नीचे की ओर हवा में झूलते दिखलाई देते है। मै दूर से ही समझ जाता हूं, वह बब्बू को गोदी में उठाए, सड़क की ओर पीठ किए, बदर की तरह बैठा होगा।...कितनी वार मृण्मयी से कह चुका हू, उसे बच्चों से यों न खलने दो। पर वह सुने तब न...।

छुट्टे की न जाने क्या आदत हो गई है इधर।...बब्बू को कंधे पर उठाए सारा दिन आवारा भटकता रहता है। कभी बस-स्टॉप के 'बाई रिक्वेस्ट' के नीचे अकारण घटों तक धूप में खड़ा रहेगा, कभी डिपो या विनयनगर रेलवे स्टेशन की भगदड में निकल जाएगा। कभी किंचित् और आगे झुग्गियों की तरफ चला जाएगा।...रात को देर तक न लोटने पर घर के लोग परेशान होकर सारी बस्ती ढूढते रहे, उसे चिन्ता नहीं। अन्त में हो-हल्ला मचाता हुआ, अहिरावण की तरह बब्बू को कधे पर चढ़ाए प्रकट होगा। किन्तु सीढियो पर मुझे खड़ा देखते ही सहसा सहमकर सिकुड़ जाएगा...।

"फल कहां से आए?" बब्बू के हाथों में सड़े-गले फलों के दो टुकडे देखकर पूछता हूं तो वह अजनबी की भांति मेरा मुंह ताकने लगता है। फिर अबोध भाव से कहता है, "मंडी...से...।"

'पईसे...थे?"

"ना?"

"तो...?"

"मांगकर लाया...।" वह चुप हो जाता है, अजाने ही ढेला फेंककर। किन्तु कहीं ब्लेड का-सा टुकड़ा छीलता हुआ पार हो जाता है। कितनी

अजीब बात है। लोग देखते होंगे तो क्या कहते होंगे। भले ही हम अधिक अर्जित नहीं कर पाते, परंतु इतना तो कमा ही लेते हैं कि रूखा-सूखा खाकर स्वाभिमान से जी सकें...।

किन्तु कभी अकल भी आएगी छुट्टे को, मुझे नहीं सूझता...' ब्याह हो जाता तो अब तक एक-दो बच्चों का बाप बन चुका होता...। इसकी उमर के लड़के कब के बी.ए., एम.ए. कर चुके हैं...अच्छे-अच्छे कंपिटीशनों मे आकर, घर-गिरस्ती बसाकर सुख-चैन से रहते हैं...लेकिन एक यह...चीड़ के दरख्त की तरह...।

अनायास तब मेरी निगाहें सूखे शरीर पर अटक जाती हे...बाल बिखरे, होठ फटे, जिनसे कभी-कभी लहू टपक आता है...। पर, वह उधर देखता तक नही।

वही कॉलेज के जमाने की धारीदार पेंट, कत्थई कलर की सफेद बटनो वाली फटी-सी शर्ट अब तक चली आ रही हे। पिछली फरवरी मे, बिना फीते का फटा जूता घसीटता रहता हे...नए कपड़े सिलाए, छुए तक नही।

मृण्मयी अबोध बच्चे की तरह कभी उसे पुचकारती हे, मनाती है, तब कहीं सिर धोने देता हे। पिछले चार-पांच महीनों से बाल नही बनवाए। नाई आता है, कघी-कैची की दुकान फेलाता है और खिसियाता हुआ समेटकर चला जाता हे। जिन्दगी-भर भी बाल घोंसले की तरह उलझे रहे, उसे चिन्ता नहीं।

•

कभी-कभी सोचता हू—उससे बोलू, बाते करू। पर वह न जाने क्यो मुझसे इतना कतराता ह। म पढने बेठता हू तो वह कमरे में झाकता तक नहीं, दोपहर की छाया की तरह सिमटा किनारे-किनारे सहमा-सा आता हे ओर छत पर निकल जाता हे।

मेरे प्रतिवेशिया को, आत्मभावी सुहृद-स्वजनो को, सम्बन्धी-शुभचिन्तको को ..मुझसे अधिक उसका क्लेश हे। मुझे हजार बार, हजार तरह से कर्त्तव्य का बोध दिलाते रहते ह, 'छुट्टे को राची या आगरा भेजा दो। मेटल हॉस्पिटल मे कुछ दिन रहेगा तो ठीक हो जाएगा।...ओर...।' मृण्मयी भी कुछ-कुछ एसा ही सोचती हे, मे नही जानता। किन्तु इतर कही भेजने पर वह अच्छा होगा—मेरा अन्तःकरण नही कहता। इतना सकोची, सवेदनशील, भावुक...वहा एक दिन भी जी सकेगा?

पर इधर मुझे अहसास होता है, मरुकाश में अकुए-से निकल आए हे। छुट्टे कुछ-कुछ समझदारी की-सी बाते कर लिया करता हे कभी। आधी रात को हो-हल्ला मचाता हुआ—'उठो, उठो सवेरा हो गया हे...!' कहता अब घर के लोगो

को नही जगाता। न दूध की बोतले थामे अंधेरे मे ही मिल्क-डिपो की ओर निकल पडता है। बस, आखे खुल जाती हे तो वैसा ही छत की आर देखता पडा रहता हे। . रोज सुबह पेपर खोलकर देखता हे। 'वाटड' के हर कॉलम को अडरलाइन करता है। उसकी भाभी जब शैतानी करने पर बब्बू को मारने लगती हे तो हाथ पकड लेता हे फिलॉसफी की अपनी पुस्तक म स 'व्हाट-इज--इज' वाला अध्याय आद्योपात पढकर सुनाता है। फिर गभीर होकर कुछ माचता है। माथे की सिलवटो को दबाता हुआ पूछता हे–कुछ-कुछ एसा ही कि दद्दा अम्मा को रेगुलर खर्चा भेज पाते हे या नही? बब्बू अब बडा हा गया। इन खोमच-जेसे स्कूलो मे बिगड जाएगा। दद्दा की जिन्दगी इस गृहस्थी क जजाल मे उलझकर बेकार हो गई ।

मृण्मयी उसकी हर बात पर 'हा' म 'हा' मिलाती ह। उसकी दृष्टि मे इतना बडा होने के बावजूद वह बब्बू स बडा नही। यदा-कदा समझाती रहती ह वह–'मडक पर बीडी की डटिया क्या ढूढत हो? पीना हे ता सिगरेट पी लिया करो।' उसक जेब-खर्च क लिए वह रोज पैसे देती हे ता छूता तक नही। लेकिन उसक बहुत जिद करने पर असमजस स, सारे पेस मुट्ठी मे भीचे रहता हे। फिर गाठ बाधकर सिरहाने रख लेता हे। कहता हे, इस तरह ढेर सारे पैसे जुटाकर अगली पढाइ के लिए यू के जाऊगा ।

"या फटेहाल नग-धडग आवारा घूमने स बदनामी होती हे।" मृण्मयी समझाती ह तो वह विस्मय से उसकी आर देखता ह। फिर उल्टा उसी को उपदेश देना शुरू कर देता है–"घूमने-फिरने स एबिलिटी बढती है, भाभी। यू डोट ." कहकर अतिम शब्द 'नो' सिर हिलाकर, बिना कहे ही पूरा कर देता हे।

"पास-पडोस के लोग कानाफूसी करत हे। दिन-भर नगे-अधनगे बच्चो की तरह मुडेर पर बैठे रहना आपको अच्छा लगता ह? ओरत, बहुए होती है सबके घरो मे ।"

इस बार वह कुछ न कहकर निराधार शून्य मे ताकता है। फिर गूगा-सा कुछ टटोलता हुआ उठता हे ओर चला जाता हे।

बालकनी या सीढियो मे जहा भी रचमात्र ठौर मिली नही, गमछा बिछाकर बैठ जाता हे। कागजो को फाड-फाडकर आयताकार दो-तीन गड्डिया बनाता हे। पत्थर के पेपरवेट से बडे जतन से दबाता हे। एक चोडे-से टुकडे पर पहले मेरा नाम लिखता हे, फिर अपना और फिर उसके नीचे एक बडा-सा पीपल का पत्ता बनाता है। लिखता है–पुराण-पुरुष का जन्म इसी मे हुआ था...।

पढने-लिखने, घूमते-फिरने से जब थक जाता है, तो किसी खभे के सहारे,

बगल में बांहें मोड़ तनकर खड़ा हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द के-से गांभीर्य भाव से आसमान की ओर देखने लगता है...तपती भरी दुपहरी में, छत पर अकेला बैठा आकाश में उड़ती इक्की-दुक्की चीलों या हवा में तैरते ग्लाइडरों को गिना करता है...। मेरे मेहमान आते हैं तो कमरे से चुपचाप उठकर बाहर चला जाता है...चाहे कितनी भी भूख क्यों न लगी हो, कभी शिकायत नहीं करता।...बीड़ी पीता है तो मुझे देखते ही हथेली में मसल-मसलकर बुझा देता है...।

कभी-कभी एकान्त में बैठा अपनी घुटनों के पास फटी-मैली पैंट को अपलक देखता है तो एक विचित्र-सा तटस्थ भाव उसकी आबनूसी आंखों पर बिखर जाता है। लगता है, पानी में बहुत देर तक कुछ टटोलने के पश्चात् अपने रीते हाथों को देख रहा हो।

"तुम्हारी पैंट इतनी फट गई। पता नहीं कैसे पहनते हो...!"

वह कुछ नहीं कहता।

"कल गांव से बुआ आने वाली हैं। कुछ मेहमान और भी। क्या सोचेंगे!... नए कपड़े पहन लोगे, हां...!"

वह 'हां' का उत्तर नहीं दे पाता।

"तुम बाहर से आए मेहमानों की तरह क्यों रहते हो? जिस चीज़ की जरूरत अनुभव करते हो, अपनी भाभी से मांग क्यों नहीं लेते...?"

उसका मौन टूटता नहीं। मेरे बार-बार पूछने पर केवल इतना ही कहता है कि उसे जरूरत ही अनुभव नहीं होती कभी।

"मुझे लगता है, अब तुम धीरे-धीरे ठीक हो जाओगे। अगली जुलाई से फिर तुम्हें यूनिवर्सिटी में एडमीशन दिला देंगे—हां...?"

वह मेरी ओर देखता है।

"तुम्हारे कारण सब परेशान हैं। अम्मा को हम इस उम्र में आकर भी सुख नहीं दे पाते! कैसी ट्रेजिडी है...!"

छुट्टे की आकृति वैसी ही भावना-विहीन! मुझे अहसास होता है, संभवतः वह समझ नहीं पाता—ठीक-ठीक।

मैं पूछता हूं, "पिताजी का कल गांव से लैटर आया। तुमने पढ़ा? शायद अगले हफ्ते यहां पहुंचेंगे!"

इस बार भी वह पहले तो वैसा ही स्थिर रहता है...फिर होले-से उठता है और अविश्वास से मेरी ओर घूरकर देखता है—"नहीं! वे तो लास्ट ईयर ही गुजर गए। इम्पॉसिबल!...उंऽऽ...।" उठकर चला जाता है।

मैं अब कुछ भी कह सकने की सामर्थ्य जुटा नहीं पाता...।

दिन-भर का थका, पता नहीं कब किताबों पर खिंची अंकों की अचीन्ही आकृतियों के बीच माथा टिकाए गहरी निद्रा में डूब जाता हूं...।

रात को अजीब-से बहके-बहके सपनों के साथ एकाएक नींद टूटती है। कुहनी पर मुड़ा, गरदन के भार से दबा हाथ 'सो' जाता हे। देखता हूं, घड़ी की छोटी सुई दो या तीन अंक छूने वाली है। मृण्मयी की गरम-गरम सांसें मेरी पीठ झुलसा रही हैं...बब्बू उलटे मेंढक की तरह लेटा, नींद में ही होंठ इस तरह से हिलाता हे, जेसे मां का दूध चूस रहा हो।...पेट फूला है। या तो जरूरत से ज्यादा भरा अथवा वह अब पेशाब करने ही वाला हे..।

में स्लीपर घसीटे बाथरूम जाने लगता हू। खुले बरामदे से गुजरता हुआ देखता हू—छुट्टे का बिस्तर रीता हे। पलंग पर पानी-सा ढुलका, चादर बिखरी, तकिया दूर गिरा हुआ..।

मुडेर, गुसलखाने या आस-पास कही भी दीखता नही। मैं नीचे उतरता हू। गलियारे पर सोए फिरवा कुत्ते एक साथ भोंकते हुए दुम हिलाकर पीछे-पीछे चलने लगते हें। मे गुस्से से दो-चार ठेले फेकता मेन रोड पर निकल जाता हूं।

लगता हे, आने-जाने वाले सारे लोग अब मर गए हे। अपने-अपने घरों की चहारदीवारी के अन्दर भिंचे कितने ही मशान के शव की तरह पड़े है...।

थाडा आगे, धुधली अधेरी सडक पर हर कदम बच-बचकर इस तरह रखता हू, जेसे चोडे पाट की नदी पार कर रहा हू। तभी दूर पालम की ओर गुजरता कोई 'बोइग' मेरे सिर के ऊपर सन्नाटे की एक बहुत भारी परत तराशता निकल जाता हे।

उसके गुजरने के पश्चात् तराशी जगह के बीच पडी चोडी खाई फिर भर जाती हे। में चिन्तित-सा, उदास-सा कुछ कदम ओर चलता हू। इधर-उधर सशकित देखता हू। सूने चौराहे के पास 'वाई रिक्वेस्ट' के नीचे गठरी-सी थामे, कोई खूंटे की तरह खडा हे।

में लपककर पास पहुंचता हू.. "छुट्टेऽऽ...!"

छुट्टे वेसा ही खड़ा रहता हे। अचकचाता नही—जेसे उसने देखा ही न हो।

"कहां जा रहे हो इस आधी रात मे?"

उसकी पलकें कही निराधार टिकी हे।

"भाभी से झगड़ा हुआ.. ?"

"ना..."

"तो...?"

वह कुछ नहीं बोलता। मैं भी चुप रहता हूं—उसके अधनंगे शरीर पर टंगे,

तार-तार चीथड़ों को देखता हूं। सेंवार की तरह उलझे बालों को।

"छुट्टे, क्या हो गया?" बड़ी मुश्किल से कह पाता हू।

"सचमुच मैं पगला गया हूं...!" अपने सूखे होंठों को जीभ से भिगोता हुआ छुट्टे मेरी ओर देखता है—"आप लोगों को अधिक दुःख दू, अच्छा नहीं लगता। कहीं दूर अकेले में जाकर मर जाना चाहता हूं, दद्दा...!" छुट्टे की आवाज लड़खड़ाकर सूख जानी है। पहले-जैसा होता तो वह रोता। उसका गला गदरा जाता, लेकिन लगता है वह इस सबसे परे पहुच चुका हे।

"तुम्हारे यो मर जाने से हमे सुख मिल जाएगा, छुट्टेऽऽ?"

छुट्टे दांतों के बीच होंठ काट मेरी ओर देखता है, फिर अधियारे की ओर, फिर आंखें मिचमिचाता पता नहीं कब चीथडो की पोटली उठाता है। मर पीछे-पीछे आता है और होले से पहले की तरह चारपाई पर बिखर पड़ना हे...।

रात कुछ और आगे सरक गई होगी—जो स्वाभाविक हे। वह करवट पर करवट बदलता रहता है। और फिर पता नहीं क्या सोचकर धीरे से उठता हे। अंधेरी छत की मुडेर पर घुटनों पर ठोढ़ी टिकाए बेठ जाता हे और दूर कहीं स्टेशनरी-डिपो की टिमटिमाती पीली बत्तियां गिनने लगता है।



आंखें

बापू की याद अब नहीं, केवल धुंधली-सी रेखाएं उभरती हैं, फिर ओझल हो जाती हैं—बीते सपनों की तरह!

फिर भी एक अभाव तो अंत में खटकता ही है। लगता है कहीं कुछ खो गया है। अंधियारे में कुछ बिखर गया है। कुछ अनहोना हो गया—जो होना नहीं चाहिए था। एक टीस, एक पीड़ा उठती है—अभाव की, जो क्षण-भर में निरोहित हो जाती—जब बाबा की ओर देखते।

बाबा ने लू से झुलसते, हम सब अभागों को अपने बूढ़े पंखों की शीतल छांह में समेट लिया था। जब से बापू गए, बाबा ने उनकी जगह ले ली। कभी हमें कोई अभाव अखरने न दिया।

जब भी कोई दुःख हुआ, बाबा की गोद में मुंह छिपाकर रो दिए—बाबा ने स्नेह से सिर सहला दिया। प्यार से झिड़क दिया या समझा दिया या हंसा दिया अथवा स्वयं ही हंस पड़े, अनायास! बाबा जब हंसते या हंसने का प्रयास-भर करते, वातावरण कहकहों से गूंज उठता। लेकिन कहकहों के पीछे कितनी बेबसी, कितनी वेदना, कितना दुःख था, इसका हिसाब कभी किसी ने नहीं लगाया और न लगाने की आवश्यकता ही अनुभव की।

लम्बा-चौड़ा परिवार—बीस-पचीस जनों का! छोटे काका, मंझले काका, उनसे बड़े—सबसे बड़े काका! उस पर फूफाजी, जिज्जी और बच्चे-कच्चे। पूरी एक बरात-सी लगती—सुबह-सांझ! पर बाबा सबसे न्यारे थे। माला के बड़े मनके की तरह सबको गूंथे रहते। सभी के लिए उनके विशाल हृदय में स्नेह था, सौहार्द था, मोह-ममता थी। लेकिन हमारे लिए उनका हृदय और भी विशाल था।

घर में कभी बच्चों में छीना-झपटी, मार-पीट हुई तो बाबा हमारी ही तरफदारी

करते। काका घर में खाने-पीने की चीज़ लाए नहीं कि बाबा की सबसे पहली पुकार हमीं पर पड़ती। आई और काकी में झगड़ा हुआ नहीं कि बाबा आई को ही समझाते—"बहू, तू सबसे बड़ी है। सबसे सयानी। तुझे सबसे अधिक सहना चाहिए। जो सहता है, जीत उसी की रहती हे। हमारा परभान कैसा गऊ था!" बाबा की आवाज गले में ही भंवर खाकर रुक जाती।

तीस-पैंतीस साल की सरकारी नौकरी के बाद बाबा रिटायर हुए थे। मुश्किल से दो-ढाई बरस आराम से बैठे होंगे कि बापू के बैकुण्ठवास के दो-तीन ही महीने पश्चात् देखा—बाबा संदूक में छिपाया अपना बंद गले का ऊनी कोट पहन रहे हैं। पावो में सिलपट के जूते डालकर मेरी ओर इशारा करते हुए कह रहे हैं, "रिचा, लाठी तो निकाल बेटा! दालान के पिछवाड़े खूटी पर टगी होगी।"

"कहां जाना है, बाबा? मैं भी चलूं बाजार?"

बाबा ने उत्तर नहीं दिया, जैसे सुना ही न हो। कुछ क्षण खड़े रहे, किन्ही विचारों में डूबे। फिर लाठी थामे टक्-टक् चल पडे।

अब रोज ही बाबा का यह नियम हो गया।

मेरी समझ मे न आता। दादी से एक दिन पूछा तो बोलीं, "काम पर जाते हे। पिगयभेंट बंक में।"

"बाबा की नोकरी तो खत्म हो गई, फिर काम पर क्यों जाते है, दादी?" मेने फिर पूछा तो इस बार आई ने उत्तर दिया, जो पास ही मुगोडी भिगो रही थी, "अरी, क्यों जाते हैं! तुम्हारे खातिर और क्यों? ऐसे टूटे कपाल के पेदा न होते तो इस उम्र मे उन्हे सुख देने के बदले दुःख देते!"

समझी नहीं! आई यह टूटे कपाल की कोन-सी नई बात कह रही हैं। मेंने माथ पर हाथ लगाकर देखा, कहीं दरार दीखी नहीं! फिर हमने इस उम्र में बाबा को कोन-सा कष्ट दिया है? कष्ट तो काका देते हैं। बिना बात लडते-झगडते है। जो मन मे आया, कहते हैं। कुछ भी लिहाज सयानेपन का करते नहीं। फिर हमारा क्या दोष?

दोनों बड़े चाचाओं की नोकरी शहर में ही थी। दोनों का स्वभाव कुछ तीखा था। बात-बात मे हर किसी को झिडक देते। बच्चों को चांटे जड़ देते और इतने जोर से चिंघाड़ते कि शरीर में कंपकंपी छूट जाती। इसलिए उनके सामने जाने में भय लगता।

अतः किसी चीज की जरूरत पड़ी तो काकी से कहा। काकी ने हाथ नचाते हुए, मुंह बनाते हुए अनमना-सा उत्तर दे दिया और काका की ओर इंगित कर दिया। लेकिन काका के सामने जाए कौन—इसलिए होंठ सिए, चुप हो गए।

पर जरूरत तो दबाए दबती नहीं। चिंगारी की तरह उभरकर ऊपर आ ही जाती है। अब आई का आंचल खींचा—झुंझलाकर, झगड़कर! बेचारी आई के पास क्या था? कहां से देतीं वह? हमारे बहुत ज़िद करने पर दादी से कह देतीं और दादी बाबा से।

जितनी जरूरत हुई, जितना कहा—बाबा चुपचाप जेब से निकालकर सामने रख देते। उनके पास हों या न हों, फिर भी हमें तो मिल ही जाते। कभी भी उन्होंने क्यों और किसलिए नहीं पूछा। मन्नू स्लेटी और स्याही के पैसे लेकर सिनेमा देख आता। जिज्जी किताबों का बहाना बना ब्लाउज ले आतीं या चुन्नी खरीद लातीं या सहेलियों के साथ कॉलेज से आती-जाती खर्च कर डालतीं। बाबा सब जानते थे, पर चुप रहते।

एक दिन दादी ने कुछ सुनाकर कहा तो बाबा सदा की तरह शांत स्वर में बोले, "बिचारों का बाप होता तो कित्ता खरच करते! तू नहीं जानती, परभात की मां! बच्चों का मन कैसा होता है।"

संभवतः यही एक कारण था कि बाबा को इस उम्र में भी दूसरों की चाकरी करनी पड़ती। काका का स्वभाव बदल नहीं सकता, यह वे भलीभांति जानते थे। और यह भी उनसे छिपा नहीं था कि वे ही हमारा खयाल नहीं करेंगे तो दूसरा कौन करेगा! बाप का अभाव न अखरे, सब हमारे साथ परायों का-सा सलूक न करें—बाबा इसके लिए सब-कुछ करते।

घूमना कम कर दिया। पूजा-पाठ कम कर दिया। सुबह थोड़ा-सा समय बचता। बाबा खाया-अनखाया कर वैसे ही हड़बड़ाते हुए तैयार होने लगते। जल्दी में कभी टोपी भूल जाते, कभी छतरी भूल जाते, कभी कलम!

घर बैठे-बैठे भी बाबा की उंगलियां अपने आप चलती रहतीं, जैसे नोटों को गिन रहे हों! बातें कहीं करते, मन कहीं और होता। एकांत में बैठे-बैठे कभी अपने-आप बुदबुदाते रहते—एक सौ अस्सी!...नब्बे...दो सौ...पूरे...दो सौ...।

"बाबा, आप ये क्या करते हैं?" कभी पूछती तो बाबा उसी धुन में कहते, "कुछ नहीं! कुछ नहीं! अरी...अरी...पगली...!...च्च...!...तूने गड़बड़ कर दी।"

"क्या...बाबा! क्या?"

बाबा फिर खो जाते।

पुराना दमा था। मौसम के बदलाव से कुछ बढ़ आया तो बाबा चार-छह दिन काम पर न गए। एक रोज तनिक सुधार दीखा, फिर तैयार होने लगे। लाठी तक थामी न जाती, फिर भी रिक्शा पर बैठकर जाने पर तुले थे। बाबा सचमुच बहुत कमजोर हो गए थे अब। हाथों पर नसों के तार साफ झलकते।

खाल लटक आई थी। विषाद-भरा चेहरा झुर्रियों से ढंक गया था। बापू की मौत, बाबा के लिए हर तरह से असह्य हो आई थी।

आई, दीदी, जिज्जी—सब बैठी थीं। मैंने हठ करते हुए कहा, "बाबा, आप काम पर क्यों जाते हैं? अपने बदले जिज्जी को क्यों नहीं भेज देते? सब लड़कियां आजकल नौकरी करती हैं। जिज्जी भी करेंगी। खूब पैसे कमाकर लाएंगी। क्या हरज है?"

"चुप-चुप! बकरी की तरह मुंह बहुत फुरफुराती है।" आई कह रही थीं कि बाबा ने जोर से तमाचा मेरे गाल पर लगाया। पांचों अंगुलियों के पांच निशान पड़ गए, "अरे, अभी मैं मरा तो नहीं! मरा तो नहीं!" खांसते-खांसते बोले, "मेरी बहू-बेटियां मेरे होते हुए दूसरों की चाकरी करें! जिस दिन मैं मर जाऊं, उस दिन ऐसी-वैसी बातें मुंह से निकालना। समझे ! समझे!" बाबा का तिनके-सा शरीर आवेश में कांप रहा था। आवाज भर्रा आई थी। बाबा के मर्म पर शायद गहरी चोट पड़ी थी—बहुत गहरी।

बाबा की बुझी पलकें सहसा भीग आई।

फिर भी वह काम पर गए।

उसके बाद दो-तीन महीने न जा सके। फिर चार-छह दिन गए और फिर कभी भी नहीं!

•

जिन अभागों के जीवन में बचपन से ही हर तरह का अभाव रहता है, दुःख रहता है; अनवरत संघर्ष रहता है, उन्हें उम्र से पहले ही अक्ल आ जाती है। वही हाल हमारा था। प्रताड़नाओं ने बचपन में ही बड़े-बड़े सबक सिखला दिए थे।

धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समझ आती गई, बाबा को कम परेशान करने लगे। बाबा की आखें पहले से ही कमजोर थीं, जो धीरे-धीरे धुंधली होती चली गईं। अतः बाबा से पैसे के लिए जिद करना, रूठना-झगड़ना भी हमने छोड़ दिया था।

काका ने खर्चा देना एक तरह से बंद कर दिया। बाबा का कमाया धेला-टका पहले ही चुक गया था। नोन-नाज के लिए तिनकों के सहारे टिका, मिला-जुला परिवार था। बाबा के हुकूमत के दिन हमेशा के लिए ढल चुके थे।

पत्थर की तरह बाबा दिन-रात बिछौने पर पड़े रहते। पहले वे रोज उजले कपड़े पहनते थे, लेकिन अब हफ्तों में किसी ने बदल दिए और कभी वे भी नहीं। सोना, खाना—सब अनियमित चलता। हाथों से टटोल-टटोलकर कभी बाहर

आते और सर्दियों में धूप में बैठे-बैठे वक्त गुजार देते।

दादी अपनी असमर्थता प्रकट करतीं। होंठों-ही-होंठों में बुदबुदातीं, "क्या करूं। बच्चे रार मचाते हैं। सुबह से सांझ तक घसीटते फिरते हैं। उनकी ही चाकरी में सारा समय बीत जाता है।"

प्रत्युत्तर में बाबा अबोध बालक की तरह देखते रहते, कुछ कह न पाते। घर में जगह कम थी। काका ने कहा, "मिलने-जुलने वाले आते रहते हैं। बैठने-बिठाने की भी तंगी रहती है।...जगह-जगह खंखारना-खांसना अच्छा नहीं लगता...पीकदान गले-गले तक भरी रहती है। मक्खियां भिनभिनाती हैं। बदबू के मारे बैठना बेहाल हो जाता है।"

बाबा ने चुपके से जगह खाली कर दी। अब वे पिछवाड़े के बरामदे में ही पड़े रहते—जाड़ों की किटकिटाती भयंकर ठंड, गर्मी की तपन और बरखा की बौछारों में भी। जब तक आई-दादी उठातीं नहीं, वे वैसे ही पड़े रहते।

पिछवाड़े के बरामदे में दिन में भी रात रहती है। सीलन ओर मच्छरों की भिन-भिन अलग। पर किसी के पास इतना समय न था जो यह सब ठीक कर देता। शायद ही कोई उधर झांकता हो। बच्चे भी पास फटकते न थे। पता नहीं क्यों डरते थे।

जब भी मैं खाली होती, बाबा की चारपाई की पाटी पर बिल्ली की तरह बैठ जाती। बाबा पूछते—"अब सांझ है या सवेरा? पता नहीं सूरज कब उगता है, कब छिपता है। इन अंधी आंखों ने कहीं का भी नहीं रख छोड़ा। मुंहजली मौत भी तो आती नहीं।"

बाबा की मुरझाई आकृति और उदास हो आती।

लेकिन मैं तान अलापे रहती, "बाबा, आज बरखा हुई—इत्ती-इत्ती बरखा, बाबा इत्ती...ई"...दोनों बोनी बांहें फैला देती, "आज भालू का नाच देखा, बाबा! भालू का मालिक उसे पीटता है, लेकिन वह उसे काटता तक नहीं। रमन्ना कहता है—भालू अपने मालिक को बहुत प्यार करता है। जानवर भी प्यार करते हैं, बाबा! उसके भी बच्चे होते हैं!"

बाबा का ध्यान मेरी बातों की ओर न रहता। वे केवल अपना सिर हिला देते। मेरे नन्हे हाथों को थामे सहलाते रहते। फिर होंठों पर लगी पपड़ी पर जीभ फेरते हुए कहते, "तुझे दूध मिलता है, रिचा?"

"हां, बाबा!"

"कित्ता?"

"कांच की कटोरी भर!"

"पर तू तो बहुत कमजोर लगती है आजकल!"

"नहीं बाबा, मैं तो मोटी हो गई हूं--बैलून की तरह।" कहकर खिल-खिल हंस पड़ती। बाबा के मुंह की ओर ताकती, "आपको तो बाबा दीखता नहीं! फिर कैसे कहते हैं कि मैं कमजोर हो गई?"

"कौन कहता है, मुझे दीखता नहीं!" बाबा मेरे बिखरे बालों को सहलाते, "तेरी अंग्रेजी की किताब खो गई थी न उस दिन...!"

"हां, बाबा! आपको कैसे पता? आपने कहां देखी?" अचरज से कहती। पर दूसरे ही पल मुरझा जाती। क्योंकि किताब न होने के कारण पिछले कुछ दिनों से उसे कितनी परेशानियां उठानी पड़ रही थीं, बाबा को क्या मालूम! रोज बहनजी की डांट पडती। सबके सामने कुर्सी पर खड़ा करतीं, फिर बाहर निकाल देतीं। लेकिन क्या करती। बाबा से कहने का कितनी बार निश्चय किया, सामने कितनी बार इसी इरादे से जाती, पर लौट आती। गले से आवाज ही न फूटती थी।

"तो तू कैसे काम चलाती है?"

"कभी सत्तू से मांग लेती हू, कभी रोजा से। पर वे भी मना कर देती हैं, बाबा!"

"तो तूने मुझसे क्यो नहीं कहा?"

मैं कुछ उत्तर न दे सकी।

"बोल न, तूने मुझसे क्यो नहीं कहा?"

मे फिर चुप।

"बोलती क्यो नहीं? तूने मुझसे क्यो नही कहा? मे मर तो नही गया था।" बाबा ने प्यार से डपटकर कहा तो उनकी गोदी मे मुह छिपाकर रो दी।

बाबा से पूछ बिना तिनका तक न हिलता था कभी। लेकिन अब सब सुनी-अनसुनी कर देते। बड़े काका तो बिना बात उलझ पड़ते, "आप हर चीज में दखल क्यों देते हैं? चुपचाप खाइए और आराम से पड़े रहिए।"

बाबा का चेहरा सूख खजूर के बराबर हो जाता।

दादी किसी को नाखुश न करतीं। काका-काकी का ही पक्ष लेतीं। फिर बाबा के पास आकर कहती, "आप भी निरे नादान हो जाते हैं कभी-कभी! क्यो ज़िद करते हैं? झगड़ने से भी क्या कोई बात बनती है! वे जैसा करते है, सब सह क्यों नहीं लेते? अरे, मेमने ढके जा सकते हैं, मोने (बकरी के बड़े बच्चे) तो नहीं।"

इधर-उधर से, चारों ओर से निराश होकर, छोटे काका पर ही बाबा की सारी आशाएं अटकी थीं। जो कोई भी घर आता, उन्हीं का बखान करते। दादी से पैसे लेकर मुझसे चिट्ठी लिखवाते। दो-चार अक्षर ही बोल पाते कि अटक पड़ते। सिर खुजाते, रूखी घास की तरह उगी दाढ़ी पर हाथ फेरते या अंगुलियां चटकाते। फिर भी सूझता नहीं तो कह पड़ते, "अच्छा, अब घर की कुशल-बात तू अपने मन से लिख दे और लाल लेटर बॉक्स में गेर दे।" चिट्ठी गिरवाने के बाद कहते, "च्चऽ! पता लिखवाना तो रह ही गया, रिचा!"

इस बुढ़ापे में जब सारे पंख कट गए, आशाओं की डोर शिथिल हो गई, तो एक तिनके के सहारे बाबा के प्राण अटके थे।

लम्बे अरसे के बाद छोटे काका आए। बाबा का कुम्हलाया चेहरा चमक उठा। शायद बाबा उनसे जी भरकर बातें करना चाहते थे। कुछ कहना चाहते थे। कुछ सुनना चाहते थे। पर बाबा एक बार भी भलीभांति मिल न पाए। काका केवल दो दिन रहे, फिर चले गए। बाबा से जाड़ों में कभी उधर आने को कह गए और सौ रुपए सबकी निगाहें बचाकर उनके हाथों में रख गए।

बाबा देखते रहे—मुट्ठी में भिंचे नोटों की ओर—अंधी आंखों से!

एकादशी, दशमी आदि तीज-त्योहारों को देहरी पर बामन आते। बहू-बेटियां आतीं। बाबा ने जीवन-भर सबको समझा और दिया। पर अब कहां से देते?

बाबा के हाथ में कुछ भी न था। फिर भी आई, दादी से कपड़े-लत्तों के बारे में पूछते रहते। न होने पर भी वे कह देतीं—उनके पास सब-कुछ है। उन्हें किसी भी चीज़ की तंगी नहीं।

आई काकी या जिज्जी की फटी धोतियों से तन ढांपती हैं। फिर भी कहती हैं, सब-कुछ है। यों झूठ बोलकर उन्हें क्या मिलता होगा! समझ में आता न था तब।

बरसात बीती। जाड़ों के दिन आए। बाबा को सूझता न था, क्या करें? किधर जाएं? वास्तव में घर की घुटन-भरी जिंदगी से बुरी तरह ऊब चुके थे। त्राण पाने के लिए कहीं दूर—बहुत दूर चले जाना चाहते थे। लेकिन कहां?

तभी छोटे काका की चिट्ठी आई। बाबा को जैसे मनचाही राह मिल गई।

वे तैयारी में जुट गए। जरूरत के सारे कपड़े ले गए। कौन जाने वहां से कब लौटना हो! मन लग गया तो साल-छह महीने वहीं बरेली में ही रह लेंगे।

कपड़े लिए। लाठी ली और मुझे भी साथ ले जाना न भूले, ताकि

बाहर-भीतर जाने में दिक्कत न हो।

छोटे काका की अच्छी नौकरी थी। उनके सब बच्चे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते थे। अच्छे स्कूलों में पढ़ते थे। उनके पास ढेर सारे अच्छे खिलौने थे। तीन पहिए वाली साइकिल थी। काकी भी हमारे स्कूल की बहनजी की तरह ठसके से रहतीं। बाप रे बाप, तीन-तीन ट्रंक साड़ियों से भरे थे। होटलों की तरह मेज पर बैठकर खाना खाते थे। मुझसे खाते समय मेज पर, लाख बचाव करने पर भी जूठा छूट ही जाता तो काकी वहीं पर झिड़क देतीं। तब बाबा मेरी तरफदारी करते, "लड़की बड़ी अक्ल वाली है, बहू! यहां रहते-रहते सब सीख जाएगी। पहाड़ के छोटे कस्बों में बच्चे क्या सीखते हैं! तभी तो यहां लाया हूं। अब यहीं छोड़ जाऊंगा। तुम लोग ही इसे कुछ सिखा देना। वहां तो डांट-फटकार की ही हो जाती है बेचारी!"

बाबा अपनी आदत से मजबूर, देर तक कहते रहते। काकी मुह बिचकातीं, हाथ नचातीं, पर बाबा को तो दीखता ही न था।

थोड़े ही दिनों में बाबा का दम यहां भी घुटने लगा। जी भर गया। बात असल में यह थी कि घर मं काका की बनिस्बत काकी की अधिक चलती थी। उनके मेके वाले अच्छे खाते-पीते घर के थे। बरेली में ही एक-दो मकान थे, दुकानें थीं। वह मकान भी उन्हीं का था। उन्हीं के साथ एक हिस्से में काका भी रहते थे।

नानाजी (काकी के पिता) बात-बात पर बाबा की खिल्लियां उड़ाते, मुंह बनाया करते। उनकी देखा-देखी बच्चों ने भी यही सीख लिया। बाबा को दमा था। बार-बार खांसी आती। बच्चे भी उनके मुंह के सामने मुंह ले जाकर खौं-खौं खांसने लगते। बाबा को डकारें आतीं। वे भी बिना बात डकारते। बाबा कुछ झुककर चलते। वे भी वैसे ही झुका करते। बाबा 'हमारे जमाने में ऐसा होता था, हमारे जमाने में वेसा होता था, हम ऐसा करते थे...' ऐसी पुरानी बातें सुनाया करते थे। नाना को यह भला न लगता। उन्होंने बाबा का नाम 'हमारे जमाने में' रख दिया। उनके घर के सब लोग उन्हें 'हमारे जमाने में' ही कहा करते—काका-काकी के सामने ही। पर वे गुस्सा न होते। उल्टे उनकी हंसी में हंसी मिलाकर, खिलखिलाकर हंस देते।

नाना अक्सर मुझसे पूछा करते, "तेरे बाबा का एक बाजार बन्द है या दोनों।"

मुझे गुस्सा आता, बहुत गुस्सा। लेकिन पराए घर में कर क्या सकती थी।

बाबा स्वभाव से ही सरल थे। छल-प्रपंच आता-जाता न था। जिसने जो

कहा, सब सच मान लेते।

जाड़ा उस साल अधिक था। उस पर पिछली रात से झमाझम पानी गिर रहा था। टिन की छत पर तड़ातड़ बौछारों के अतिरिक्त कुछ सुनाई न देता था।

हम लोग नीचे की मंजिल में बैठे थे—नाना के कमरे में।

बाबा तमाखू पी रहे थे। नाना को सुना रहे थे—उन्होंने अपनी छोटी-सी कमाई के बल-बूते पर इतने लड़के कैसे पढ़ाए। इतने बड़े परिवार का भरण-पोषण कैसे किया। कैसे मकान खड़ा किया। भाई-बिरादरी में नाक ऊंची कैसे रखी।

नाना इन बातों से उकता गए थे। ध्यान कहीं और था। बाहर बौछारों की ओर देख रहे थे। तभी उन्हें क्या सूझा, बात काटते हुए सहज चिन्ता से बोले, "अरे राम...सड़क का पानी कमरे की ओर आ रहा है, जोशीजी!"

"क्या कहा? कमरे की ओर पानी आ रहा है!" विस्मय से बाबा के होंठ खुले।

"हां, जोशीजी, जमीन जलमयी हो गई है। सड़कें, नहरों की तरह लबालब भर गई हैं। इतना पानी भला कहां जाएगा?"

इस अप्रत्याशित दुर्घटना से बाबा भयभीत हो उठे। दीखता तो था नहीं, चेहरे पर वैसे ही हवाइयां उड़ने लगीं।

"तिवारीजी, अब कहां-कहां तक आ गया पानी?" थोड़ी देर बाद पूछा बाबा ने।

"बस, कमरे में एक इंच भर गया...।"

धीरे-धीरे दो इंच, तीन इंच, तेरह इंच भर गया।

बाबा की आकृति का रंग उतरने लगा, "अब कित्ता, तिवारीजी?"

"यही कोई तेरह-चौदह इंच!"

"और अब?"

"अरे, बाप रे! चारपाई तक...।" नाना कह ही रहे थे कि बाबा ने हड़बड़ाकर पानी की थाह लेने के लिए नीचे हाथ बढ़ाया, पर नाना ने रोक दिया, "बौरा गए क्या? पानी में डूबेंगे ?"

बाबा का बूढ़ा शरीर तिनके की तरह कांपने लगा।

"लो जोशीजी, अब चारपाई तक ही पहुंच गया। चारपाई बहने ही वाली है...।"

"मुझे बचाओ! हाय राम...मैं डूब गया!" बाबा हवा में हाथ-पांव छटपटाते हुए जोर से चिल्लाए।

सब हंस पड़े।

भागते-भागते ऊपर से काका आए...काकी आईं। सब आए और खिलखिलाकर मुंह फाड़े हंसने लगे।

हंसी देर बाद थमी। सबने बाबा को आश्वासन दिया कि पानी कहीं भी नहीं आया। यों ही केवल हंसी कर रहे थे। तब भी बाबा का हृदय धड़कता रहा। शरीर रह-रहकर कांपता रहा। चेहरे पर अजीब-से आतंक का भाव छा गया।

इस घटना ने बाबा को बुरी तरह झकझोर दिया।

उस रात वे सोए नहीं। तमाखू फूंकते रहे। दूसरे दिन सुबह उठते ही मेरा हाथ थामे गाड़ी में जा बैठे। काका ने कितना मना किया, पर माने नहीं।

रास्ते में हल्द्वानी पड़ता था। वहां मेरी सबसे बड़ी जिज्जी सुदर्शना ब्याही थीं। बाबा इस दयनीय दशा में वहां न रुकते, फिर भी रुके।

जीजाजी डॉक्टर थे। अच्छी-खासी आमदनी थी। ऊचा घर था। बडी आवभगत हुई हमारी।

बाबा ने अपनी आंखों की जांच करवाई।

जीजाजी बड़ी मेहनत से देखने लगे।

"क्या ये अच्छी नहीं हो सकतीं, पडतजी?"

जीजाजी बड़े ध्यान से देखते रहे। अत में बोले—डॉक्टरी लहजे मे, "लगता हे, कतई बेकार हो गई हैं। इलाज-विलाज से कुछ होने वाला दीखता नही।"

"किसी भी चीज से नहीं?"

"ना! इलाज हो ही नहीं सकता।"

"तो क्या हो सकता है?" माथा दबाते हुए एक गहरी सास भरकर बावा ने कहा, "मेरी आंखें मिल जातीं तो...।" इससे अधिक कुछ कह न सके।

रात को खाते समय बाबा ने फिर यही चर्चा छेड़ी। न जाने वे किस धुन में थे। जीजाजी ने विस्तार में बताया, "इलाज हो ही नहीं सकता। हा, आख बदली जरूर जा सकती हैं। किसी और की पुतली चढ़ाई जा सकती हैं, लेकिन वह सब-कुछ महगा पड़ेगा, हम जैसे लोगों के वश की बात नहीं।"

बाबा चुप हो गए, पर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। घर लोटने पर भी उनकी वही दशा रही। जो कोई भी टकराता, आंखों का ही जिक्र करते। लोग हंसते। तरह-तरह की बातें करते। बाबा सब मान लेते।

उस दिन सोनी, मन्नू, रावी सब बाहर मैदान में खेल रहे थे। आई काकी के साथ मदिर में गई थीं, जिज्जी सहेली के घर। काका अभी तक लौटे नही थे। मैं टटोलती-टटोलती बाबा के कमरे की ओर बढ़ी। खिड़की से झांका...बावा की चारपाई पर दादी बैठी थीं। बाबा बच्चों की तरह सिसक-सिसककर रो रहे थे। कह रहे थे, "मुझे आंखें मिल जाएं तो परभात की मां, मैं इस नरक से

उवर जाऊं। अपने लिए चाहे न भी कर सकूं, तो भी उन अनाथ बच्चों के लिए तो कर ही सकूंगा। मेरे जीते-जी उनका यह हाल है तो आगे क्या होगा। ढेले की तरह पड़ा-पड़ा मैं अब अधिक जी ही नहीं सकता।"

"तो क्या करूं?" दादी के रुंधे कंठ का भीगा स्वर था, "ये मेरे गहने ले लो। टूटा-फूटा जो कुछ बचा है—वह सब ले लो। अपना इलाज करवा लो। मेरी आंखें लेकर, मेरे परान लेकर भी तुम्हें सुख पहुंचे तो वह भी ले लो। पर बच्चों की तरह यों न रोओ। तुम्हारा दुःख अब देखा नहीं जाता।" दादी भी उन्हीं की तरह सिसक-सिसककर रोने लगीं।

"अब क्या देखना है, जिसकी इत्ती लालसा है। एक पांव मसान में, दूसरा घर पर। इस बुढ़ापे में भी क्या कहीं आंखें लौटती हैं। न जाने किसने बहका दिया। जिसने जो कहा, सब सच मान लेते हैं।" काका ने झिड़ककर कहा।

बाबा सहम गए, लेकिन मन में उधेड़-बुन लगी रही।

खर्चे के लिए कहा तो काका ने दांत दिखला दिए। मंझले काका से पूछा, तो उन्होंने कहा, "औरत का इलाज करवाना पैसे के बिना रुका हुआ है। बाबा की उमर तो पूरी हो गई, लेकिन उस बेचारी ने अभी क्या देखा है?"

गहने बेचकर, दादी को साथ लेकर एक दिन बाबा घर से निकल पड़े। जाते समय रोष में बोले—"इस घर में अब बिना आंखों के पांव नहीं धरूंगा, नहीं तो लौटकर ही नहीं आऊंगा।"

बाबा चले गए। उनके बिना हमें सूना-सूना लगता। बाप का अभाव असल में अब अखरने लगा था। आई को कुछ सूझना नहीं था। दिन में ही तारे छिटक आए थे। बाबा लौटकर नहीं आए तो क्या होगा?

तभी सुना, बाबा बड़ी जिज्जी के घर चले गए।

एक-दो महीने बाद सुना—जीजाजी के साथ बम्बई चले गए। जीजाजी ने इलाज का जिम्मा ले लिया है।

फिर सुना, दादी की एक आंख उन्हें पहना दी गई है और बाबा अब फिर पहले की तरह देखने लगे हैं।

बाबा आने वाले थे आज। मैं मन्नू और सोनी को लेकर सुबह से ही बस के अड्डे पर धरना देकर बैठ गई। जो भी बस आती, उसी की ओर लपकती।

दिन ढले बाबा की बस आई।

बाबा धीरे-से लाठी के सहारे उतरे।

"बाबा...बाबा!" कहते हुए हम उनसे लिपट पड़े, जैसे बाबा भागे जा रहे हों।

बाबा ने पहचाना नहीं। आंखें मलते, हाथ से टटोलते हुए बोले, "कौन

रि...चा...है...तू? अरी, तू तो पहचानी नहीं जाती! अरे मन्नू...तुझे क्या हुआ! बीमार पड़ा था क्या? तेरा तो चेहरा ही बदल गया। कैसे लोफरों जैसे गंदे बाल बना रखे हैं। फटी हुई गंदी निकर! तेरा काका क्या तुझे दो आने भी नहीं देता?"

बाबा के खिले चेहरे का उत्साह धीरे-धीरे फीका पड़ने लगा। घर में पांव धरते ही मानो एकाएक बदल गए। अथाह पानी में डूब गए।

खुली-खुली आंखों से वे सब देखते रहे, जैसे भूल से अनजानी जगह पर आ गए हों, जो जीवन में पहले कभी देखी न हो।

"बहू, बच्चों के ये क्या हाल कर रखे हैं? उस अभागे की आत्मा क्या कहती होगी!...अरी, तू तो अपनी सास से भी बूढ़ी हो गई! दो-तीन ही साल में सारे बालों पर सफेदी?"

आई की आंखें डबडबा आईं।

पर बाबा उसी गति से कहते रहे, "रोज हमारा परभात आता है। कहता कुछ नहीं, केवल 'बाबा' कहकर चुप हो जाता है। परसों सफेद कपड़े पहने, रीता लोटा थामे खड़ा था। कहता था, प्यास लगी है, बाबा! जल सूख गया है।"

आई की आंखें और जोर से बहने लगीं तो बात की दिशा बदल दी, "घबरा नहीं, बहू! भगवान सबकी सुनते हैं। देखना, मेरे परभात की औलाद सबसे अधिक फलेगी-फूलेगी!...दो टुकड़ों का अभाव तुम्हें कभी भी न रहेगा...।"

"अरे, मेरी चादर दो बरस से बदली नहीं! कैसी कोयले की तरह काली हो रही है! क्या मैं इसी सीलन-भरी गंदी जगह में रहता था! सूंघो तो...सूंघो तो...सूंघो तो...कैसी भिन-भिन बदबू आ रही है!"

"मन्नू बिल्कुल लोफरों जैसा हो गया है। रिचा कहती है—वह पढ़ता नहीं, ताश फेंटता है। बीड़ी सुलगाता है। गुंडा हो गया है—आवारा! क्या घर में कोई भी इसकी देख-रेख नहीं करता? किस तरह बिगड़ गया है!"

"रिचा, तू कपड़े बदल, बेटा! देखती क्या है? क्या तेरे पास बदलने को और कपड़े नहीं?"

"बहू, इस फटी जीरन धोती में तू लाज कैसे ढंकती है? तेरी सास के पास भी क्या ये ही चीथड़े हैं? तुम सब कैसे गुजारा करते थे आज तक? क्या मेरे सारे लड़के एक परभात के साथ ही मर गए। सच, मैं क्या निपूता हो गया?" बाबा का चेहरा तमतमा आया, "रिचा, कल से मैं फिर काम पर जाऊंगा, बिट्टो! तू मुझे लाठी पकड़ा देगी—हां! सुबह जरा जल्दी उठ सकेगी? मेरा कोट निकाले रखना। चाय जरा जल्दी बनाना। जल्दी जगाना।"

बाबा का बूढ़ा दिल सारी दयनीय दशा ने बुरी तरह दहला दिया था। धुंधली

आंखें धधकने लगीं—अंगारे की तरह! इतना आवेश, इतना आक्रोश, इतनी गहरी व्यथा का भाव, इतना आतंक—उनकी प्रशांत आकृति में कभी भी झलका नहीं। उनका रोम-रोम जल रहा था।

शाम को काका आए, पर बाबा बोले नहीं।

उस रात उनसे खाना नहीं खाया गया। पानी पीकर औंधे मुंह बिस्तर पर ढुलक गए।

मैं दो-तीन बार दूध लेकर गई। जगाया, पर जागे नहीं। आई ने जगाया। मन्नू ने जगाया। सरोज उनके तपते पांवों को सहलाने लगी, लेकिन बाबा हिले-डुले तक नहीं। काठ की तरह लेटे रहे, छत की ओर अपलक ताकते रहे।

अंत में हाथों से रास्ता टटोल-टटोलकर दादी पहुंचीं, "ये बच्चों का-सा क्या करते हो? खाना ठंडा हो गया। बहू चूल्हे पर बैठी है।"

बाबा ने सुना नहीं। वैसे ही बहके-बहके बोले, "परभात की अम्मा, मेरे होते हुए मेरे परभात के बच्चे अनाथ हो गए। परभात की मां...इन आंखों से क्या यह भी देखना था...सचमुच, आंख कम देखती है...परभात की मां...अच्छा हुआ! सारा जग बौरा गया है! अंधा हो गया है!"

दादी पलकें भींचे रो पड़ीं।

बाबा छत की ओर ताकते रहे।

दूध का गिलास पानी हो गया।

सुबह लाठी लिए, कोट लिए, जूते लिए बाबा के कमरे की ओर बढ़ी। देखा, बाबा अभी तक सोए हैं।

"बाबा! बाबा!"

हिले-डुले नहीं बाबा। रिचा कहकर उन्होंने पुकारा नही।

बाबा के मुंह से चादर हटाई।

बाबा का शरीर बर्फ की तरह ठंडा था। मुंह खुला हुआ, आंखों की सफेद चमकीली पुतलियां खुली हुई।

कौन जाने, वह चमक किस चीज़ की थी! उसमें उनके कौन-से सपने, कौन-सी आशाएं, कौन-सी आकांक्षाएं थीं!...बाबा को यदि आंखें नहीं मिलतीं तो शायद वे इतनी जल्दी हमें यों मझधार में छोड़कर न जाते!

□

तलाश

वह चुपके-से मेरे पास आता है। कहता है, "आपको पता है...?" और रहस्यमय ढंग से अजीब-सा मुंह बनाकर मेरी ओर देखता है।

मैं गर्दन लम्बी कर उसके चेहरे की ओर झुकता हूं। आशंका से उसकी आंखों में कुछ टटोलने लगता हूं। इस तरह घबराया देखकर सहज ही मुझे आश्चर्य होता है।

"किसी से कहोगे तो नहीं...।" इतनी धीमी आवाज में कहता है कि मुझे अपने कान उसके मुंह के समीप ले जाने पड़ते हैं।

"नहीं," की मुद्रा में मैं सिर हिलाता हूं, "कुछ कहो भी तो...।" तनिक अधीरता से कहता हूं।

उसके रक्तिम नेत्र माथे पर चढ़े हैं। रूखे बाल बिखरे हुए हैं। मैले, पीले दांतों से बदबू-सी आ रही है। वह हांफ रहा है। वैसे ही हांफता हुआ फुसफुसाता है, "इस शहर के पानी में मैं ज़हर मिलाने जा रहा हूं।"

"क्या कहा ..?" मैं चौंक पड़ता हूं। अपने कानों पर मुझे विश्वास नही होता। उसके खुरदरे, मैले, मजबूत हाथों को जोर से जकड़ लेता हूं, "यह क्या कह रहे हो? होश में तो हो न?" मैं चीख-सा पड़ता हूं।

"हा...हा...हा!" वह अट्टहास कर उठता है, "मैं बिल्कुल होश में हूं। मुझे कुछ भी नहीं हुआ है। जो मैंने कहा, सच है—मैं उसे करके रहूंगा।" वह अपनी बात पर तूल देते हुए कहता है।

"पानी में ज़हर मिलाकर तुम्हें क्या मिलेगा?" मैं पसीना-पसीना हो जाता हूं।

मेरी स्थिति देखकर वह फिर हंसने लगता है, "आप वास्तव में बहुत भोले

हैं। अरे कुछ तो मिलेगा...मैं यों ही थोड़े कुछ कर रहा हूं...इतना कुछ मिलेगा कि फिर जिन्दगी में कुछ और करने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।"

लाल-लाल अंगारे जैसी आंखों तथा भिंचे हुए पतले होंठों की ओर देखता हूं। उसके भीतर का हिंसक पशु बाहर झांकने लगता है।

अब तक भी मुझे यह सच नहीं लगता। केवल कुछ निहित स्वार्थ के लिए कोई आदमी ऐसा जघन्य अपराध कर सकता है।

पता नहीं, वह कब चला जाता है और मैं देर तक सोचता रहता हूं–एक आदमी थोड़े-से लाभ के लिए इस हद तक जा सकता है? लाखों लोगों को कीड़ों-मकोड़ों की तरह मरने के लिए विवश कर सकता है? हो सकता है इस षड्यन्त्र के पीछे कुछ विदेशी तत्त्वों का हाथ हो! हो सकता है, चन्द स्वार्थों के लिए किसी ने इसे भड़का दिया हो! हो सकता है, धन के लालच ने इसे अंधा बना दिया हो! हो सकता है, सचमुच यह पागल हो गया हो! भले-बुरे का इसे अब तनिक भी भान न रहा हो!

मैं शाम को उस मुहल्ले की ओर निकल पड़ता हूं, जहां वह रहता था। एक आदमी उसके घर के पास से निकलकर आता है। बतलाता है कि वह तो लम्बे समय से लापता है। उसकी पत्नी रो-रोकर अंधी हो गई है। दो बच्चे भूख से दम तोड़ रहे हैं।

मेरी उद्विग्नता अब कुछ और बढ़ जाती है। यह सब क्या हो रहा है, मेरी समझ में नहीं आता।

भूख ही नहीं, मेरी प्यास भी अब खो गई है। जब भी पानी पीने के लिए हाथ बढ़ाता हूं, हाथ कांप-कांप जाता है–कहीं सचमुच ही उसने ज़हर न मिला दिया हो! सुबह अखबारों में लोगों को पढ़ने को मिले कि पूरा-का-पूरा एक शहर हमेशा के लिए गहरी नींद में सो गया है।

मैं मरने से डरता हूं–ऐसी बात नहीं। हां, इतना अवश्य चाहता हूं कि किसी उद्देश्य के लिए मरूं! चूहे की मौत मरना भी कोई मरना है।

अपने एक मित्र के पास जाता हूं। सारी स्थिति विस्तार से समझाता हूं। वह चुपचाप सुनता रहता है, परन्तु प्रत्युत्तर में देर तक कुछ बोलता नहीं।

"आज सुबह चाय पीने के बाद से मेरा सिर चकरा रहा है। कम्बख्त ने कहीं कुछ मिला न दिया हो!" वह मरने की-सी मुद्रा बनाकर मेरी ओर देखता है–सन्नाटा तोड़ता हुआ।

वह वहमी है। मुझे लगता है–अभी देखते-देखते हाथ-पांव छोड़ दे तो

आश्चर्य नहीं।

"पानी तो मैंने भी पिया।" मैं उसे सान्त्वना देता हुआ कहता हूं, "फिर मेरा सिर क्यों नहीं घूम रहा है? यह मात्र वहम है तुम्हारा।"

मेरी बात का उस पर रंचमात्र प्रभाव नहीं पड़ता। उसी तरह निढाल पड़ा रहता है। कुछ क्षण बाद चुपचाप उठकर बाहर निकल पड़ता है। कमरे में बैठे-बैठे मैं सुनता हूं। वह पड़ोसी से कह रहा है—"पानी पीकर आपका सिर तो नहीं चकरा रहा?"

पड़ोसी विस्मय से उसकी ओर देखता है, "लगता है, आज दिन में भी आपने पी ली है। पीने के बाद कभी-कभी पानी भी नशा देने लगता है...।" कहते-कहते पड़ोसी हंस पड़ता है।

उदास होकर वह फिर कमरे में लौट आता है। कहता है, "में सच कह रहा हू। मेरा सिर अब तक घूम रहा है। पहले मे बिल्कुल ठीक था, पर पानी पीते ही न जाने क्या हो गया है?"

मुर्दे की तरह वह बिस्तर पर गिर पड़ता है। फिर तकिए के सहारे बेठा-बैठा, गुस्से से मेरी ओर देखता हुआ कहता है, "देख क्या रहे हो? पुलिस मे रपट दर्ज करा दो न! हो सकता है, बचाव का कोई रास्ता अभी भी निकल आए।"

पुलिस मे रपट दर्ज कराई जाए या अखबारो मे समाचार दे दिया जाए—मैं निश्चय नहीं कर पाता।

रात को मित्र घर आता हे। वकालत पास कर चुका है, पर प्रेक्टिस नहीं करता। किसी सरकारी कार्यालय में वर्षो से अच्छे ओहदे पर हे। घुमा-फिराकर में सारी बातें उसे बतला देता हू। क्षण-भर स्तब्ध-सा वह सोचता रहा, फिर कुछ सचेत होकर कहा, "इसका क्या प्रमाण है? तुम थाने में गए तो थानेदार तुम्हें वहीं बिठला लेगा। पुलिस को तो कोई चाहिए, बिठलाने के लिए। मुलजिम नहीं मिला तो तुमको ही असली मुजरिम करार देकर फासी पर लटका दिया जाएगा।"

मित्र की बात गलत नही। आज की दुनिया में कुछ भी असंभव नहीं। ऐसे कई अपराधियों को में जानता हूं जिन्होंने कोई अपराध नही किया, फिर भी जिन्दगी-भर चक्की चलाते रहे या फांसी के तख्ते पर झुला दिए गए।

"तो फिर...?" मे जेसे हताश होकर कहता हूं।

"तुमने दुनिया-भर की भलाई का ठेका ले रखा है? सारा बवाल तुम अपने सिर पर क्यों लिये फिरते हो? हो सकता है कोई तुम्हें यों ही डरा रहा हो! क्या यह नहीं हो सकता कि वह व्यक्ति स्वयं विक्षिप्त हो?"

"नहीं-नहीं, मैं उसे अच्छी तरह जानता हूं।" में जैसे चीख पड़ता हूं, "वह

जो भी कहता है, करके रहता है। आश्चर्य नहीं कि एक-दो दिन में कोई भयंकर दुर्घटना घटित हो जाए!"

"तुम व्यर्थ में परेशान हो रहे हो!" वह बड़े हल्के ढंग से कहता है, "पानी में ज़हर मिलाना इतना आसान नहीं होता।"

"इस बीसवीं शताब्दी में तुम्हें कुछ असंभव लगता है?" उसकी ओर देखता हुआ मैं व्यंग्य से हंस पड़ता हूं तो वह उबल पड़ता है, "संभव-असंभव का तुमने ठेका लिया है? तुम्हारे घर के सामने हैंड-पम्प है। तुम उसी का पानी पियो और आराम से पड़े रहो...।"

उसके तर्कों से समाधान मिला हो, ऐसा लगता नहीं। मैं परेशान हो उठता हूं, बेहद परेशान। इस मुल्क में यह सब भी हो सकता है, मुझे विश्वास नहीं हो पाता।

सारी रात इसी उधेड़बुन में बीत जाती है। सुबह कुछ सूझता नहीं तो सीधा पुलिस स्टेशन चला जाता हूं। इंचार्ज से सारी बातें साफ-साफ बतला देता हूं।

कुछ क्षण तो वह ध्यान से सुनता है फिर मेरी ओर देखता हुआ जोर से हंस पड़ता है, "आप सचमुच बहुत भोले हैं। जिसने जो कहा, सच मान लेते हैं। जिस आदमी का आप ज़िक्र कर रहे हैं, उसे तो कब की फांसी भी हो गई!"

भीतर जाकर पुराने कागजों के ढेर में से वह एक पीला-सा फोटो निकालकर लाता है, "इसी की बातें कर रहे हैं न!"

मैं ध्यान से चित्र देखता हूं—"हू-ब-हू वही आकृति है...।"

"हू-ब-हू नहीं, वही है, वही...।" वह जोर देकर कहता है।

मैं अपने भीतर कुछ टटोलने लगता हूं, "उसके दाएं गाल पर हल्का-सा भूरा तिल था!"

मेरे हाथ से फोटो छीनकर वह स्वयं देखने लगता है, "यह देखिए तिल! अब तो संदेह नहीं रहा न!"

अपना-सा मुंह लेकर मैं लौटने लगता हूं। स्वयं पर ही मुझे संदेह होने लगता है। अभी दो-तीन दिन पहले तो वह मिला था, और आज यह कहता है, उसे कब की फांसी हो गई! तो क्या इसी की शक्ल का कोई और व्यक्ति था वह? या...या...

इसके कुछ ही दिन बाद।

रात को दरवाजे पर खट-खट की आवाज से जागता हूं। विस्फारित नेत्रों से देखता हूं—वही आदमी सामने खड़ा है! कह रहा है, "आपने यह गुप्त बात

सब जगह फैला ही दी न! मैं जानता था, आप कितने अविश्वसनीय हैं, घिनौने। आप मित्र से मिले न! मेरे घर भी गए। रपट दर्ज कराने के लिए पुलिस स्टेशन जाना भी न भूले! आप चाहते हैं न कि पुलिस मुझे पकड़ ले और यह दुर्घटना होने से रह जाए?" वह निर्विकार-भाव से हंस पड़ता है, "आप जानते नहीं कि यह सारी 'ऐतिहासिक' घटना होकर रहेगी। जिनके पास रपट दर्ज कराने गए थे, उन्होंने मुझे सारी बातें बतला दीं...।"

"पुलिस का तो कहना था कि तुम्हें फांसी हो गई है!"

मेरी बात काटता हुआ वह हंस पड़ता है, "आपको क्या पता मुझे कितनी वार फांसी हुई ओर कितनी वार मैं फिर जी उठा हूं! आप भी निरे भोले हैं। अरे भाई, यदि फांसी हो गई होती तो यहां आपसे बातें करता? भले आदमी, पुलिस जो कहती हे, वह क्या हमेशा सच होता है? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इस काम में मैंने पुलिस को भी साथ लिया हो! हो सकता है मेरे बदले उन्होंने किसी और को फांसी पर लटका दिया हो! हो सकता है किसी राजनीतिक नेता का भी मुझे संरक्षण प्राप्त हो...!"

मेरा माथा ठनकता है।

वह दरवाजा बन्द कर, भीतर सोफे में धंस पड़ता हे, "आप समझते होंगे कि में कोई भयकर अपराध करने जा रहा हूं—यही कुछ! ऐसा ही न...!"

में प्रश्न-चिह्न की तरह उसकी ओर देखता हूं—अवाक्-सा।

"मैं कोई पाप नहीं कर रहा!" वह आश्वस्त होते हुए उत्तर देता है, "जो लोग नारकीय यातनाएं सह रहे हैं—कीड़ों से भी बदतर जिन्दगी जी रहे है, उन्हें यातनाओं से मुक्ति दिलाना चाहता हूं। मैं तो सोचता हूं कि हर कुएं में ज़हर डाल देना चाहिए। जिन्हें हम जिन्दगी नहीं दे सकते, उन्हें तिल-तिल जलाकर मारना कहां की इंसानियत हे।"

"पर मैं इस तरह की मुक्ति के पक्ष में नहीं हूं। यह अमानवीय है—घोर अपराध! इससे बड़ी कायरता, अदूरदर्शिता और क्या हो सकती है?"

"दूरदर्शिता या अदूरदर्शिता क्या है, इसका निर्णय लेने वाले आप कौन होते हैं? आपको अपनी ही स्थिति का पता नहीं तो फिर दूसरों की चिन्ता में क्यों घुलते हैं?"

वह उठकर मेरे समीप खड़ा हो जाता है, "आप में अपनी ही लाश को दूर से देख सकने की सामर्थ्य है? इतना साहस है?"

मैं कोई भी उत्तर देने की स्थिति में नहीं हूं। "तुम कुछ भी कहो, मैं इस पक्ष में नहीं। लोगों को यंत्रणाओं से मुक्ति दिलाने का यह दानवीय मार्ग मुझे

कतई पसन्द नहीं!" दो-टूक उत्तर देकर मैं चुप हो जाता हूं।

वह शायद इसे अपनी पराजय समझता है। अतः बुरी तरह खीझ उठता है, "जो अपना भला खुद नहीं कर सकते, जो अपना हक खुद नहीं ले सकते, वे बुजदिल हैं, कायर! और कायर को जीवित रहने का क्या अधिकार?"

"उन्हें कायर किसने बनाया?" मैं तनिक रुककर बुदबुदाता हुआ पूछता हूं।

"जिसने भी बनाया हो, लेकिन उन्हें नारकीय यंत्रणा देने, देते रहने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। और न उन्हें यह यंत्रणा भोगने, भोगते रहने का ही...।" धूप-छांह की तरह उसके चेहरे पर अनेक भाव उभरते हैं और ओझल हो जाते हैं।

कुछ देर बैठने के पश्चात वह बाहर निकल पड़ता है, और मुझे भी साथ ले जाना नहीं भूलता।

रात का अंधियारा है—दबा हुआ सन्नाटा। हम दोनों चुपचाप चलते रहते हैं।

"ये कोठियां किनकी हैं?" अजनबी की तरह देखता हुआ, सड़क के उस पार इंगित करता हुआ, वह पूछता है।

मैं अनुमान लगाता हूं, "संसद सदस्यों की जैसी लगती हैं।"

वह हंस पड़ता है, "इनका भी कोई अर्थ रह गया है अब? क्या आपको लगता है ये सही नुमाइंदे हैं? सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं?"

मैं चुपचाप चलता जाता हूं। उत्तर नहीं देता।

"सड़क के आर-पार ये जो विशाल कोठियां हैं, आप जानते हैं, यहां फाइलों की खेती होती है, आंकड़ों की फसल उगती है।" कहता-कहता वह स्वयं ठिठक जाता है।

"..."

"मैं पूछता हूं—आखिर यह खिलवाड़ कब तक चलेगा?" वह जैसे स्वयं को सुनाकर आवेश में कहता है।

"..."

तनिक मुड़कर फिर देखता है, "यह जो गोल इमारत देख रहे हो, जानते हो यहां क्या होता ? इसे मैं सबसे बड़ा षड्यंत्र का अड्डा मानता हूं। आप मुझे पागल कह सकते हैं, किन्तु मैं पागल नहीं हूं।"

कहते-कहते वह एकाएक बहुत गंभीर हो जाता है। कई बार उसके होंठ

कुछ कहने के लिए फड़कते हैं, किन्तु सहसा फिर भींच लेता है।

एक विशाल समाधि के पास पहुंचकर वह रुक जाता है, "जानते हो, गांधी की हत्या किसने की थी?"

"..."

"इन घिनौने लोगों के बीच वह जी ही नहीं सकता था। इसलिए जान-बूझकर उसने आत्महत्या की थी। मालूम है, क्राइस्ट अपना सलीब खुद लेकर गया था। अपने हाथों स्वयं उसने अपने शरीर पर कीलें ठोंकी थीं। सुकरात ने ज़हर का प्याला स्वेच्छा से पिया था...। जिस व्यक्ति में तनिक भी संवेदना होगी, वह इस दुनिया में जी नहीं सकता।" वह मेरा कंधा पकड़कर झकझोरता है, "आपको मालूम है, ताल्स्ताय मरने के लिए उस बर्फीली रात में क्यों घर से बाहर निकला था...? यह दुनिया इस योग्य भी नहीं है कि इसे ज़हर दिया जा सके—इस पर इतना भी रहम किया जाए...इस पर इतना ज़हर भी बेकार हो...! इसलिए मैंने अब इरादा ही बदल दिया है। इन मरे हुओं को मारना भी नपुंसकता है!"

अंधेरे में छिटककर वह दूर चला जाता है—ओझल होता हुआ।

मैं अकेला रह जाता हूं—उस अंधियारे में। कुछ क्षण काठ-सा खड़ा रहकर, चुपचाप घर की राह लेता हूं।

•

घर पहुंचकर भी नींद नहीं आती। तरह-तरह के सपने, तरह-तरह के विचार उमड़ते रहते हैं। हर प्रश्न-चिह्न मुझे एक मीनार-सा नजर आता है। उसने अजीब-सी हिकारत से मेरी ओर क्यों देखा था? उसकी धधकती आंखें क्यों मेरी नंगी पीठ पर अंगारे की तरह चिपक गई थीं? क्यों मैं अब तक उनसे झुलस रहा हूं?

दूसरे दिन मैं फिर उसके घर की तरफ मुड़ता हूं। वहां ताला लटका मिलता है। पता चलता है कि वहां कोई दूसरा आदमी अब रह रहा है। जिस व्यक्ति से मैं मिलना चाहता हूं, वह अब तक लापता है—उसके भूखे बच्चों को दम तोड़े आज तीसरा दिन है।



जो घटित हुआ

देह पर जगह-जगह नीले निशान पड़ गए हैं। घावों में से अब तक निरन्तर लहू बह रहा है। मुझे लगता है—मेरे पांवों के पास वही क्रुद्ध घायल नाग जमीन पर फन पटक-पटककर फुंफकारता हुआ रेंग रहा है, जो साझ ढलने से पहले, प्रायः प्रतिदिन मुझे एक बार अवश्य डंसता है...।

लोग कहते है—यह मात्र मेरा भ्रम है। हां, पिछली गर्मियों में किसी सांप ने मेरे बाएं पांव पर अवश्य डंक मारा था...किन्तु इसके बाद वह फिर कहीं दिखलाई नहीं दिया...।

पर कल रात...चावल निकालने के लिए पत्नी ने बोरे में हाथ डाला ही था कि एक हथेली से भी चौड़ा कुरबुरैला फन अंधियारे में काटने को लपका...।

कोट के कॉलर के ऊपर हैंगर में लटकी टाई, कल अपने-आप इधर-उधर मरक रही थी...चमड़े की जिस पेटी को मैं पैंट बांधने के लिए इस्तेमाल करता हू—आज उसकी जगह केवल एक पतली-सी पारदर्शी सफेद केंचुल पड़ी हुई मिली।

जूते पहनते समय फीता टूट गया था। टूटा टुकड़ा मैंने जमीन पर फेंका तो वह कटे केंचुए की तरह धूल में अंगड़ाई लेने लगा। जहां पर से टुकड़ा टूटा था, वहां खून का छोटा-सा धब्बा दीख रहा था।

सामने रखे ग्लोब में नदियों को आसमानी रंग की दुहरी लकीरों में दिखलाया गया है। मैं देख रहा हूं—एक भी नीली लकीर अब ग्लोब मे नहीं है। सब-की-सब नीचे एकत्र होकर उलझे तागों की तरह सटी हैं और एक-दूसरे को निगल रही हैं.. ।

राशन की दुकानों पर अनाज के बदले ढेले बिकते देख मुझे आश्चर्य नहीं

होता...।

कहते हैं—अनुसंधान के क्षेत्र में हमने अद्‌भुत प्रगति की है...डॉक्टर बसु की वनस्पति सम्बन्धी खोजों का अगला चरण डॉक्टर बागची ने प्रस्तुत किया है—उनके अनुसार वनस्पतियों में ही नहीं, पत्थर, सूखी लकड़ी, ईंट और चट्टान में भी जीवन होता है और भोजन के पूरे पोषक तत्त्व भी...। अतः सरकार ने निश्चित किया है कि अकालग्रस्त इलाकों में अब अन्न के बदले पत्थर वितरित किए जाएंगे...।

छोटे-छोटे दुधमुंहे बच्चे रोटी के बदले ढेला खा रहे हैं। मैं देख रहा हूं—ट्रेनें लद-लदकर रायपुर, बस्तर और बिहार की ओर धूल उड़ाती, चिंघाड़ती भाग रही हैं...। कहते है—पंजाब, उत्तर प्रदेश और दिल्ली ने अपने-अपने प्रदेशों से पत्थरो के निर्यात पर रोक लगा दी है...एक ही रात में अनाज के व्यापारियों ने बड़े-बड़े पत्थरों के स्टॉक इकट्ठे कर लिए हैं। इसलिए अब केवल ऊंची कीमतों पर ही चोर-बाजारी में पत्थर बिक सकेंगे। पत्थरों का भी इस देश में अकाल पड़ गया है।

दूर तक फैली, फटी हुई रूखी धरती पर नहर जैसी चौड़ी दरारे पड़ गई हैं। बस्तियां खण्डहरों में बदल रही हैं। जनशून्य पृथ्वी पर कहीं एक भी प्राणी नहीं—चारों ओर केवल हड्डियां-ही-हड्डियां बिखरी पड़ी हैं...।

कुछ लोग हड्डियां बटोर-बटोरकर ट्रकों मे भर रहे हैं, कहते हैं—इन्हें विदेश भेजेंगे। इनसे फॉरेन-एक्सचेंज मिलेगा...।

विना सिर और धड़ के, कटे आदमी, शहरों की भीड़-भरी सड़कों पर चीखते-चिल्लाते दौड़ रहे हैं।...दूर कहीं कारखानों की ऊंची-ऊंची चिमनियां दिन-रात धुआं उगल रही है। कहते हैं—ये सव कपड़े की मिलें हैं। इनमें अब कफन बन रहा है...।

मकानों के भीतर अब किराये पर मकान रहा करते हैं। सड़कों पर पैदल सड़कें चला करती हैं। नदियां अपना जल स्वयं पीकर सूख रही हैं।

छोटे-छोटे वच्चो ने कल अपने स्कूल की इमारत अपने ही हाथों फूंक डाली है। अध्यापकों को छेद-छेदकर क्रास पर लटकाकर ईसा बना दिया है...।

ऋतु के कपड़े तार-तार फटे हैं। अपनी तमाम पुस्तकों के साथ-साथ वह स्कूल से नए एटलस को भी फाड़ लाया है...।

उसकी वीमार मां आज सारा दिन बाहर धूप में बैठी उसके कपड़े सिल रही है। फटे नक्शे को गोंद से चिपका रही है।

वह आंखों से कम देखती है। मुझे लगता है—उसने सारे टुकड़े गलत चिपका दिए हैं। केरल का हिस्सा पश्चिमी बंगाल से जोड़ दिया है। कश्मीर का कच्छ से। नागालैण्ड की जगह केवल पुराने अखबार का फटा चीथड़ा लटक रहा है—और अक्षयचिन समेत समूचा लद्दाख उसने हिंद महासागर की नीली लहरों में कहीं डुबो दिया है...लंका से भी दूर।

सोचता हूं—समुद्र में डूबी धरती अब कैसे ऊपर निकलेगी, इतनी बड़ी क्रेन कहां से आएगी, जो इस विशाल भू-भाग को पानी से निकालकर, उसे अपनी जगह बिठला सके!

हां, भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर का सारा इस्पात अगर लगा दिया जाए तो...।

किन्तु विशेपज्ञों की राय कुछ दूसरी है। वे कहते हैं कि इतनी बड़ी क्रेन भी अब पर्याप्त न हागी। इस देश की जमीन इतनी खोखली हो गई है कि कोई भी क्रेन, किसी भी तरह अब धरातल पर खड़ी हो नहीं सकती। इस सारे देश को सागर में डूबने से अब कोई भी बचा नहीं सकता।

बर्फीले पहाड़, रेतीले मैदान, गहरी नदियां, सागर—सब जल रहे हैं। सारी सीमाओं पर विषेला बारूद धधक रहा है।

आग की लपटों के बीच, स्थितप्रज्ञ की-सी मुद्रा में, पहाड़ की तरह एक अस्थिपिंजर खड़ा है—कन्धे पर बन्दूक उठाए—जिसकी खाल और हड्डियों के बीच मात्र सूखी नसों का जाल बिछा है।

पिछले बीस साल से वह इसी तरह अचल खड़ा है।

कहते हैं—उसकी बूढ़ी मां है। अपने इकलौते जवान बेटे का मुंह देखने के लिए, जिसके प्राण वर्षों से अधरों पर अटके हैं।

कहते हैं—उसके छोटे-छोटे बच्चे हैं, जो अब अपने बाप की शक्ल तक भूल गए हैं...।

कहते हैं—उसकी पत्नी जवान है, जिसके सारे बाल अब सन की तरह सफेद हो गए हैं...।

अपने फटे चीथड़े के बीच रूखी रोटी के साथ उसने एक फटी पोटली छिपा रखी है। वह बतलाता है—इसमें सिन्दूर बंधा है उन विधवाओं का, जिनके जवान पति यहां आए दिन बकरे जैसी मौतें मरते रहते हैं।. जिनके लिए इकट्ठे किए गए गरम कपड़े, कलकत्ता के बाजारों में सरेआम चोर-बाजारी में बिकते हैं। जिनकी बन्दूकों के लिए चन्दे से एकत्र किया गया धन, किसी 'देशभक्त'

की नई इमारत की नींव भरने के काम आता है। जिनके लिए केवल नक्शों पर सड़कें बनती हैं, नक्शों पर विशाल पुलों का निर्माण होता है।

कुछ नपुंसक झंडे लिए खड़े हैं। सेनाएं बहादुरी से पीछे हट रही हैं—खून का दरिया सूखी धरती सींच रहा है और लाशों के पहाड़-पर-पहाड़ खड़े हो गए हैं।

वह कहता है—उसे नींद नहीं आती। इन बर्फीली वादियों से हर रोज़ मुर्दों के रोने की आवाज आती है।

बिना पूंछ और सींग वाले कुछ पशु एक ऊचे मच पर बैटे हैं। कहते हैं—इंसानियत का भार अब हमारे कधों पर है।

एक अंधा ज्योतिषी चौराहे पर चादर बिछाए बेठा है और रो रहा हे। कहता हे—अब सपाट हथेलियों वाले लोग पैदा हो रहे हैं—बिना माथे के मनुष्य।

इंडिया गेट से संसद-भवन तक के सारे हरे-भरे मेदान रंग-बिरगी भेड़ों से भरे पड़े हैं...भेड़ें घास कम और गीली मिट्टी अधिक आसानी से खा रही हैं...।

लोग कहते हैं—यह घास प्लास्टिक की है। भेड़ों को बहलाने के लिए विदेश से मंगाई गई है और मैदानों में बिखेर दी गई है।

भेड़ों के हर झुण्ड के पीछे लाठी उठाए एक भेड़िया खड़ा है। कानून की भाषा में जो 'गड़रिया' भी कहलाता है। गड़रिए मरी हुई भेड़ों का ही नहीं, जिन्दा भेड़ों का मांस भी काट-काटकर बेचते हैं...।

मैं हिसाब लगाता हूं—इस देश में अब कुल कितनी भेड़ें होंगी और उन्हें पालने के लिए कुल कितने भेड़िए।

कहते हैं सन् 1947 में भेड़ों के बाड़े का विभाजन हुआ था, जिनमें इन्हीं भूखे भेड़ियों ने आठ लाख भेड़ें दिन-दहाड़े कत्ल करवा दी थी...।

दो कसाइयों ने अपनी मां की जीवित लाश दो टुकड़ों में विभाजित की और थोड़े पेसों के बदले बूचड़खाने में रखकर काट-काटकर बेच डाली।

चिड़ियाघर के सारे जीव-जन्तुओं को हटाकर, उनके स्थान पर प्रत्येक पिंजड़े में कुछ आदमियों को रख छोड़ा गया है।

उस नस्ल के आदमियों को—जो इस देश में दिन-पर-दिन दुर्लभ होते चले जा रहे हैं, जिनके भीतर इस यांत्रिक-युग में भी मनुष्यत्त्व के अंकुर हैं।

चिड़ियाघर से सटा हुआ बन्दियों के लिए बना नया बाड़ा है—एक बहुत ऊंची लोहे की इमारत, जिसमें हजारों लोग तरह-तरह की यातनाएं सह रहे हैं...।

"तुम्हारा क्या अपराध है?" उनसे पूछता हूं तो सब गूंगे पशु की तरह मेरा मुंह ताकने लगते हैं।

जेलर के पास एक रजिस्टर है, जिसमें हर कैदी के इतिहास के विषय में कुछ लिखा है।

कैदी संख्या चार के सामने लिखा है—इस अपराधी को घूस न लेने तथा राष्ट्र के प्रति गद्दारी न करने के अपराध में, सात साल के कठोर कारावास का दण्ड मिला है...।

कैदी संख्या सत्रह—सत्य बोलने का उपदेश देकर इसने देश की होनहार नई युवा पीढ़ी को गुमराह करने की कुचेष्टा की है...।

कैदी संख्या इक्कीस—जातीयता एवं प्रांतीयता पर आस्था रखने से इस कैदी ने सरासर अस्वीकार कर दिया था। अपना अमूल्य जीवन इसने देश-सेवा में लगाकर व्यर्थ किया। देशभक्ति एक मानसिक विकार है, भयंकर संक्रामक रोग। सरकार के पास इस बात के प्रमाण सुरक्षित हैं कि इसने जीवन-भर देश-प्रेम के इन्हीं दूषित विचारों का प्रचार किया था...।

कैदी संख्या तीस—इसने सच बोलकर, अपने समाज की प्रतिष्ठा को जान-बूझकर आघात पहुंचाने का प्रयत्न किया...। बन्दी संख्या इक्कीस की भांति यह भी हर समय राष्ट्र के ऐक्य की बड़ी-बड़ी बातें किया करता था और देश की प्रगति के लिए व्यर्थ में चिन्तित रहता था। देश का विभाजन अस्वीकार कर इसने कानून का अपमान किया था...जब-जब देश में संकट आया इसने अपनी सम्पत्ति ही देश के लिए नहीं लुटाई, बल्कि अपना रक्त तक देने की भूल की थी।

इस मानसिक रोगी ने कई विचित्र धारणाएं पाल रखी थीं। कहता था—गरीबों को जीने का हक मिलना चाहिए। जबकि गरीबों को जिन्दा रहने का हक क्यों मिलना चाहिए, इसके पास इस तर्क का कोई भी ठोस उत्तर न था।

भावुक होना एक कमजोरी है। यह व्यक्ति बेहद भावुक था। समय के साथ न चल सकने के अपराध की इसे जितनी सजा दी जाए, कम है...।

कैदी संख्या चालीस, पैंसठ और एक सौ दो को आज प्रातः मृत्युदंड दिया गया। उन्होंने गांधी, अरविंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और परमहंस को राष्ट्र का शत्रु घोषित करने से इंकार किया था...और इस देश का अब और अधिक विभाजन न हो, इसके लिए आमरण उपवास भी।

सतलुज की रेत अब तक गरम है...उस काल-कोठरी के पास से हर रात रोने की आवाज आती है—जहां भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी पर

चढ़ाया गया था...। ज़लियांवाला बाग में आज भी गोलियां चलती दिखलाई देती हैं।

वन्देमातरम् की आवाज से गूंजता अण्डमान अब निर्वासितों से भर गया है—कहीं तिल रखने को भी जगह नहीं।

इम्फाल की सरहद पर, लोग कहते हैं, उन्होंने अभी कुछ दिन पहले, नेताजी को जंगलों में भटकते देखा है। पुकार-पुकारकर यह कहते सुना है—तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा...।

पेरिस के बाजारों में भिक्षा-पात्र लिए, फटे चीवर और नंगे पांव भीख मांगते बूढ़े बुद्ध का रंगीन चित्र कल एक विदेशी समाचार एजेंसी ने छापा है...डेनमार्क के बच्चे हिन्दुस्तान के गरीब बच्चों के दूध के लिए अपने जेबखर्च का पैसा इकट्ठा कर भेज रहे हैं...।

विवेकानन्द का माथा धरती से भी नीचे झुक गया है—वे पागलो की तरह चीख-चीखकर कह रहे हैं, "भूखे मनुष्य को दर्शन की दीक्षा देना पाप है...।"

शायद मेरी आंखें धुंधला गई हैं, चारों ओर अधेरा छा रहा है।

कल शाम कनॉट-प्लेस की भीड़ मे खड़ा एक विदेशी मुंह बिचकाकर कह रहा था—"बुद्ध और गांधी को बेचकर भी तुम अब अधिक नही जी सकते...विदेशी सहायता पर पलने वाला राष्ट्र मुर्दा राष्ट्र कहलाता है। जिस देश ने अपने चरित्र को बेच डाला, वह स्वाधीन नहीं रह सकता। उसे जीवित रहने का कोई हक भी नहीं...।

लगता है मेरे हाथ बंधे हैं, मुंह बधा है—आर नंगी पीठ पर कोई कोड लगा रहा है...।

रात को भोजन करने बेठता हूं तो लगता हे—अपना मास खुद परोसकर खा रहा हूं। पानी के बदले अपने दुधमुंहे बच्चों का रक्त निचोड़कर पी रहा हू—और इतने कपड़े पहनने के बावजूद निपट नगा हू।

बेठा-बेठा में कुछ टटोल रहा हूं। बच्चों के पाठ्यक्रम की एक नई पुस्तक हाथ आती है, जिसके पहले अध्याय में लिखा हे—

'30 जनवरी, 1948 को गांधी ने गोडसे की हत्या की थी...इंग्लैण्ड पर भारत ने दो सो साल तक राज्य किया था...बड़ी जंगली और क्रूर कौमें है अफ्रीकियों की। वे भोले-भाले यूरोपियनों को गुलाम बनाकर, जहाजों में भर-भरकर अफ्रीका लाते थे और वहां उनके साथ पशुवत् व्यवहार करते थे...काली कौमों ने गरीब गोरी कौमों पर जो अमानवीय अत्याचार किए हैं इतिहास उनके लिए कभी भी उन्हें क्षमा नहीं करेगा।'

मुझे लगता हे—यह सब सच लिखा हे। इसे मैंने स्वयं अपनी आंखों के आगे होता हुआ देखा है।

मुझे अब तक भलीभाति याद हे—पहले ओर दूसरे, दोनों महायुद्धों में जीत हिटलर की ही हुई थी। जापान ने दुनिया में सबसे पहले परमाणु बम बनाया था, जिसका प्रयोग लन्दन ओर वाशिंगटन में किया था। और इतिहास में दूसरी वार 15 अगस्त, 1947 को भारत गुलाम बना था। जाते-जाते धूर्त गोरों ने अपनी बिगदरी के कुछ कालो के हाथ में इस देश की सत्ता सदा के लिए सौंप दी थी।



स्मृति-चित्र

चलते-चलते हम सहसा रुक जाते हैं। अन्नपूर्णा के गेट की ओर मुड़ते हुए मैं पूछता हूं, "चाय तो पियोगी न?"

इस बार वह कुछ कहती नहीं, बस हौले-से हंस देती है।

कॉफी के लिए वह पहले मना कर चुकी है, उसे आदत नहीं है। उसी तरह 'कोल्ड-ड्रिंक्स' के लिए भी, क्योंकि उसका गला खराब है। अभी कुछ ही दिन पहले उसे फ्लू हुआ है।

मैं काउण्टर से कूपन खरीदकर दो प्याले चाय लाता हूं। जब तक मैं पीने के लिए नहीं कहता, वह पीती नहीं। बच्चों की-सी जिज्ञासा से इधर-उधर देखती रहती है। उसकी सीपी जैसी बड़ी-बड़ी आंखों में कुतूहल का अजीब-सा भाव है।

"दिल्ली पहले भी आई थी कभी?"

"जी हां, पिताजी के साथ, एक बार।"

"कब?"

"यहीं, जब बहुत छोटी थी।"

"क्यों, अब बहुत बड़ी हो गई हो क्या?" मैं हंस पड़ता हूं, तो वह झेंप-सी जाती है, "जीईऽऽ नहीं। अब्ब भी तो...।"

उसका स्वभाव निरीह लगता है, बेहद सरल। आज की दुनिया में ऐसे आदमी का गुजारा किस तरह हो सकता है।

"हां, मोदीनगर कब से हो?" मुझे सहसा कुछ याद आता है।

"जी, इसी 'मे' से।"

"पे-स्केल तो..।"

"जी, सब जगह करीब-करीब यही है, पूरे यू.पी. में।"

इलाहाबाद से एम.ए. करने के बाद, उसने बी.एड. किया था। पहले बुलन्दशहर के किसी गर्ल्स कॉलेज में थी, फिर चन्द दिन खुरजा में।

"रहती होस्टल में ही हो?"

"जी, स्टाफ-क्वार्टर्स में अभी एक कमरा मिला है। शायद दो-तीन महीने बाद पूरा फ्लैट मिल जाएगा।"

दोनों मौन भाव से कुछ सोचते रहते हैं। कहीं शून्य में एक भंवर-सा बनता है, बिगड़ जाता है। मैं क्षण-भर का सन्नाटा तोड़ता हुआ पूछता हूं, "मोदीनगर कितनी दूर होगा यहां से?"

"यहीं तो है—यहीं, मेरठ से इधर।"

मुझे दिल्ली में रहते लगभग बारह-तेरह साल हो गए हैं, पर अब तक मैंने मेरठ-मोदीनगर नहीं देखा। हां, गाजियाबाद एक-दो बार अवश्य गया हूं, वह भी बहुत जरूरी काम से। मुझे अक्सर सैनी की बात याद आती है। विभाजन के बाद से वह दिल्ली में रह रहा है, किन्तु उसने अब तक कुतुबमीनार नहीं देखी।

चाय ठंडी है, फीकी। न मीठा, न दूध, न पत्ती—कुछ भी तो नहीं। ऐसी चाय अक्सर रेलवे-प्लेटफार्म पर ही देखने को मिलती है। केवल दो घूंट पीकर प्याला अलग रख देता हूं। पर, वह उसी तरह अटूट आस्था के साथ पीती चली जाती है।

"चाय और मंगाई जाय?"

"अभी तो पहला ही प्याला खत्म नहीं हुआ!" वह हंस देती है, "लगता है, आप बहुत चाय पीते हैं।"

मुझे अब याद नहीं, मैं क्या उत्तर देता हूं। उत्तर देता भी हूं या नहीं।

चाय समाप्त कर हम बाहर मेन गेट के पास आते हैं। मैं देखता हूं—चाय पीने के बाद उसका चेहरा कुछ और ताजा लग रहा है। उसके व्यवहार में भी अब उतनी झिझक नहीं।

"मोदीनगर से जब बस में बैठी तो सच बड़ी धुकर-पुकर हो रही थी मन में।" वह मुस्कराती हुई कहती है, "मेरी दिल्ली से आने वाली कुलीग्ज़ भी आज छुट्टी पर थीं, नहीं तो उनके साथ आ जाती। सच, भीड़-भाड़ से मुझे डर लगता है। मैं सोच रही थी, कहीं आप स्टेशन पर न मिले तो फिर कहां जाऊंगी!"

मैं उसकी बातें सुनता रहता हूं। जनपथ की रंगीन दुकानें आज बहुत आकर्षक लग रही हैं। लगता नहीं कि यह भारत के किसी शहर का कोई हिस्सा है। आधे से भी अधिक लोग विदेशी हैं।

कॉटेज-एम्पोरियम का बड़ा-सा बोर्ड देखकर वह ठिठक पड़ती है। अंगुली से इशारा करती हुई पूछती है, "इस एम्पोरियम में मिसेज किसिंजर ने अभी शॉल खरीदा था न! अभी कुछ ही दिन पहले तो...!"

"हां, पर तुम्हें कैसे पता?"

"मैंने अखबार में फोटो देखा था। मिसेज टीटो का भी एक बार इसी एम्पोरियम में चित्र छपा था।" उसके चेहरे पर अजीब-सा कुतूहल है।

"यह लुफ्तहांसा क्या होता है?" दूर सड़क के उस पार एक बड़ा-सा नीला साइनबोर्ड देखकर वह पूछती है।

"जर्मन एयर-सर्विस, एयर इंडिया की तरह।"

"आप भी तो कभी बाहर जाने की योजना बना रहे थे? शायद कनाडा की तरफ कहीं। एक पत्र में आपने लिखा था।"

मैं कुछ देर तक सोचता रहता हूं, "हां!" मात्र 'हां' कहकर फिर चुप हो जाता हूं।

एक यूरोपियन महिला अपने गले में गेंदे के बड़े-बड़े फूलों की माला डाले, तेजी से सामने से निकल जाती है। बहुत-सी विदेशी महिलाएं शाम को लक्ष्मीनारायण मन्दिर जाती हैं। वहां से गेरुआ टीका माथे पर लगँवाने के बाद, बाहर गेट पर से फूलों की मालाएं खरीदकर स्वयं अपने गले में डाले, बाज़ारों में इधर-उधर घूमती दिखती हैं।

हमारे पांव फिर ईस्टर्न कोर्ट की ओर बढ़ते हैं। इम्पीरियल होटल के सामने, फुटपाथ पर लद्दाखियों की छोटी-छोटी दुकानें हैं—छोलदारियों की शक्ल में। इन्हें देखकर उसे बहुत आश्चर्य होता है, "ये लोग ठीक भोटियों जैसे नहीं हैं!" वह मेरी ओर देखती है।

कांसे की, पीतल की, संगमरमर की प्राचीन बुद्ध-प्रतिमाएं, मुंह फाड़े खड़े तांबे के तिब्बती शेर, पारदर्शी पत्थरों की मालाएं, हाथीदांत के ताजमहल। लोग कहते हैं—ये 'सदियों पुरानी' अधिकांश प्राचीन मूर्तियां यहीं दिल्ली में, दरियागंज के पिछवाड़े कहीं बनती हैं, विदेशी यात्री जिन्हें मुंहमांगी कीमत पर खरीदकर अपने देश ले जाते हैं।

इसी पिछले शनिवार को इवाना सान घूमता-घामता यहां तक मेरे साथ आया था। मुझे याद आता है—तथागत की एक छोटी-सी काली मूर्ति के इसी दुकानदार महिला ने उसे सवा दो सौ रुपए बतलाए थे।

जापानी इवाना सान ने विस्मय से मेरी ओर कम-से-कम दो बार देखा था।

वह एक ऊंची, बहुत ऊंची, आसमान को छूती हुई, निर्माणाधीन नई इमारत

की ओर विस्फारित नेत्रों से देख रही थी। यह इमारत शायद 'योजना आयोग' या किसी और मंत्रालय की है।

आगे पेट्रोल-पम्प के बाद, दुकानों का सिलसिला समाप्त हो जाता हे और एक अंधेरा, उजाड़-सा क्षेत्र शुरू होता ह।

में उससे लौटने के लिए कहूं, इससे पहले ही वह मुड़ पड़ती है।

"मोदीनगर कितना बड़ा शहर है?" कुछ बोलना है, इसलिए यों ही बोल पड़ता हूं। ऐसे मौकों पर चुप रहना बहुत भारी लगता है।

"जी, छोटा-सा टाउन हे, इंडस्ट्रियल।"

"हल्द्वानी के बराबर?"

"जी नहीं, उमसे छोटा।"

"रानीखेत के बराबर?"

"जी नहीं, उससे भी छोटा।"

"तो क्या फिर गेठिया के बराबर!"

प्रत्युत्तर में वह जोर से हस देती हे।

मुझे स्वय आश्चर्य होता हे। गेठिया का नाम आज न जाने कितने वर्षो बाद अकस्मात् याद आ गया। जाडो में, छुट्टी के दिन उधर माल्टा खरीदने जाते थे। लोटने समय सेनिटोरियम के बाद बडी अजीब-सी घुटनातोड़ चढ़ाई पड़ती थी। ननीताल की अपेक्षा वहा माल्टा सस्ते मिलते हो, कोई ऐसी बात न थी, परन्तु कभी-कभी यो ही घूमने में बडा मजा आता था। वह उम्र ही ऐसी थी।

"नेनीताल कब से नहीं गई?" में पूछता हू।

"यही कोई तीनेक साल से।" वह मेरी ओर देखती हे, "आ...प?"

"म...में...बहुत अर्से से।"

इतना बड़ा हो गया हू, एक अर्थ में दुनिया दख चुका हूं, परन्तु आज भी जब कभी नेनीताल का नाम याद आता हे, मे अजीब-सा अनुभव करता हूं। चेखव की कहानियो और बर्फ से ढके नेनीताल में मुझे एक विचित्र साम्य लगता है।

जनपथ की भीड़ को चीरकर आगे निकलना बड़ा मुश्किल हे। क्रासिंग पर आकर कुछ राहत-सी मिलती है। कुछ खुली हवा-सी भी।

बड़ी देर बाद हरी रोशनी की बारी आती है। सड़क पार करते समय उसकी आकृति देखने लायक होती हे। लगता है इस भीड़-भाड़ को देखकर वह काफी परेशान हो गई है।

अपने लिए उसे कुछ ऑयल-पेंट्स खरीदने हैं। दो-तीन दुकानें देखने के

बाद वह खरीद लेती है। पैसे चुकाते समय मेरे मुंह की ओर देखती है, "यह हॉबी भी अब महंगी पड़ने लगी है।"

उसे चित्र बनाने का शौक है। अधिक अभ्यास न होने के बावजूद वह बहुत अच्छे चित्र बना लेती है। मैंने एक बार कभी उसे लिखा था कि वह कुछ और चित्र बना ले तो कभी दिल्ली में प्रदर्शनी लगाएंगे। यह बात पढ़कर वह शायद बहुत देर तक खिलखिलाकर हंसती रही थी। उसने लिखा था—उसे इतनी बड़ी आर्टिस्ट समझने की भूल मैंने कैसे कर ली। उसे तो अभी सीधी रेखा तक खींचनी नहीं आती।

केवल पिछले दो-तीन वर्षों से ही उससे पत्र-व्यवहार है। उसी ने पहले पत्र भेजा था। और फिर एक तरह से, यह परिचय और पत्र का सिलसिला कुछ-कुछ चलता रहा था। पर आज पहली बार उससे मिलने पर मुझे कुछ भी अजनबीपन नहीं लगा, जैसे रोज की तरह आज भी मिल रहे हो, वैसा ही सहज भाव था।

सामने सड़क के किनारे भीड़ लगी है। एक पकी हुई उम्र का आदमी, छोटी-सी बासुरी—जैसी नली में, रंगीन पाउडर भरकर फर्श पर बेलन की तरह घुमाता है, तो एक डिजाइन-सी बनती चली जाती है।

'पी.आर.आर.एम.' के पास आकर हम रुक जाते है। 'अन्नपूर्णा' की चाय पानी—जैसी थी। अब तक मुंह का जायका खराब है।

"यहा कॉफी बहुत अच्छी मिलती है, बेहद गर्म।" मै उसके चेहरे पर उभरती हुई प्रतिक्रिया पढ़ने की चेष्टा करता हू—"एक प्याला पी लो न। जिन्दगी भर याद करोगी।"

वह कहती कुछ नहीं। मेमने की तरह केवल देखती रहती है।

हम एक बार फिर घनी झील में बताशे की तरह विलीन हो जाते हैं। भीतर वाले हॉल मे घुसते ही लगता है, जैसे कोई आदमी भीड मे कहीं खो गया हो और इधर-उधर घूम-घूमकर अपने को खोज रहा हो।

बड़ी देर तक खड़े रहने के बाद मात्र एक कुर्सी खाली दीखती है। उसे बिठलाकर में फिर खडा होता हूं, और गिद्ध-दृष्टि से इधर-उधर देखने लगता हू। दूरी कही एक खाली कुर्सी पड़ी है। लपककर उठा लाता हूं।

लॉ बोहीम, मोनालिजा, गेलार्ड, मिकेडो—मुझे कहीं की भी कॉफी इतनी अच्छी नही लगती। खुद कुर्सी ढोने में, कभी-कभी खुद प्याला उठाकर लाने मे, एक विशेष आनन्द आता है, ठीक घर का जैसा लगता है। बनावट या दिखावा मुझे कतई पसन्द नही, पता नहीं मेरा स्वभाव ऐसा क्यों है?

मैं कुछ गंभीर हो जाता हूं। वह अपने नए खरीदे पेंट्स उलट-पुलटकर देखने लगती है। मैं टेबुल की छाती पर कफन के चीथड़े की तरह पड़ा 'ईवनिंग न्यूज' समेटता हूं, जिसका एक कोना चटनी की बोतल लापरवाही से रख देने के कारण लाल हो गया है, उस पर पानी के छींटे पड़ने से भद्दा भी।

'न्यूज पेपर' के पहले पृष्ठ पर राजभाषा विधेयक के विरोध में होने वाले प्रदर्शनों के फुटकर समाचार हैं। कोयना-बांध के टूटने से होने वाली हानि की खबरें। अंतिम पेज पर हंगेरियन राजदूत डॉक्टर कोस का चित्र है।

"कनॉट-प्लेस के रीगल वाले मोड़ पर, दुर्घटना में अभी-अभी एक आदमी की डैथ हो गई है।" सामने खड़े कुछ लोग जोर-जोर से बातें कर रहे हैं।

"तुम्हारे हाथ में भी तो कभी चोट लगी थी! अब ठीक हैं न?" मैं सहसा अखबार बन्द कर उसकी ओर देखता हूं।

"जी, वह तो कब की ठीक भी हो गई।"

मुझे याद आता है—हां, वह ठीक कह रही है। यह बात तो सचमुच बहुत पुरानी है। शायद पिछले साल गर्मी की छुट्टियों में, घर जाने से पहले उसने कभी लिखा था।

"खाना मैस में खाती हो?"

"जी...।"

वह काफी सिमटकर बैठी है, परेशान-सी। लगता है यहां का शोरगुल उसे रास नहीं आ रहा। अपनी कलाई पर काले बारीक फीते से बंधी डिबियानुमा छोटी-सी घड़ी पर बार-बार उसकी निगाहें टकराती हैं।

कुछ-कुछ गेरुए रंग की खादी की साड़ी। उसी से मैच करता आधी बांह का ब्लाउज। घड़ी के अतिरिक्त शरीर पर और कोई आभूषण नहीं। इस सीधे-सादे लिबास में वह अच्छी लग रही है, बहुत अच्छी। सादगी का भी तो अपना सौंदर्य है न!

"जितेन अभी आगरा है न?" मैं कुछ सोचता हुआ प्रश्न करता हूं।

"जी....हां।"

"कुछ इम्प्रूवमेंट...?"

"जी, पिताजी अभी कुछ दिन पहले गए तो थे। कहते थे—कोई खास नहीं। अब भी वैसी ही हरकतें करता है। चीजें तोड़ता-फोड़ता है। कपड़े नहीं पहनता, एकदम नंगा रहता है। यही तो प्रॉब्लम है। घर लाएं भी तो कैसे!" कहते-कहते उसका चेहरा बेहद उदास हो आता है।

कॉफी आती है। उसके प्याले में बिना पूछे, तीन चम्मच चीनी डाल देता

हूं। शायद अब भी उसे कड़वी लगे! प्लेट में रखे बड़े की बगल में खूब चटनी भी। महिलाओं को चटनी बहुत अच्छी लगती है।

बड़े गरम हैं। तोड़ते ही उनके बीच से भाप-सी निकलने लगती है।

पिछले साल उसने लिखा था—मदर की डैथ हो गई है। जितेन को आगरा भेज दिया है। सबसे छोटा भाई दिग्गू अब ननिहाल में रहता है, घर में देख-रेख कौन करे? पिताजी को ऑफिस के हजार कामों से ही समय कहां।

मैं अब ऐसी कोई भी बात नहीं करना चाहता, जिससे वातावरण वोझिल बने। वह बड़ा तोड़कर, बिना चटनी लगाए, यों ही चुपचाप खाती चली जाती है। उसकी निगाहें टेबुल पर रखे अधभरे गिलास पर अटकी हैं, जिसमें एक तिनका तैर रहा है।

आधा ही पीकर वह प्याला परे रख देती है। कहती है, "दिन में अधिक चाय-कॉफी पीने से रात को नींद नहीं आती।"

मैं हंस पड़ता हूं तो वह भी उसी तरह हंसने लगती है।

बिल के पैसे चुकाकर हम बाहर आते हैं। एकदम गहरा अंधेरा लगता है। परन्तु सड़कों की भीड़ वैसी ही। शोरगुल वैसा ही। कारों, स्कूटरों की एक लकीर-सी फीते की जैसी गोलाई में सरकती चली जा रही है, जिसका कहीं कोई अंत नहीं।

कुछ हिजहाइकर्स, फौजियों की तरह पीठ पर सामान लादे कॉफी-हाउस के बाहर निकल रहे हैं। लगता है, पूर्वी यूरोप के किसी देश के हैं। दो पहिए वाले खड़े स्कूटर के ऊपर घोड़े की तरह बैठा, कोई मोटा आदमी प्लेट पर से उठा-उठाकर पकोड़े खा रहा है। इधर-उधर से घेरे खड़े दो-तीन लोग उसका साथ देने की सोच रहे हैं। यहां के पकोड़ों का आकार भी अजीब है—छोटे-छोटे अंडों जैसा।

सामने एक पेंटेड कार खड़ी है। कहते हैं—हुसेन के पास भी एक पेंटेड गाडी है। हो सकता है उसी की हो!

कल रात आकाशवाणी से आते समय एक लड़का भीड़ में साथ-साथ चल रहा था। अधीर-सा, कभी आगे आता, कभी पीछे। अन्त में उससे रहा न गया, तो बोला, "देखिए, ये लोग मेरी सिस्टर को कहीं ले जा रहे हैं। मैं पार्लियामेंट वाले बस-स्टॉप से इनका पीछा कर रहा हूं।"

मैं देखता हूं, पांच-छह लड़कों के बीच एक लम्बी लड़की चल रही है। सब जोर-जोर से बातें कर रहे हैं, जैसे आपस में झगड़ रहे हों! पर लड़की ठहाके लगाकर हंस रही है। यदि मैं गलती नहीं कर रहा तो निश्चय ही इन सबने

पी रखी है।

'कोआप्स' से एक छोटा-सा पैकेट सूखे मेवे का खरीदते हैं। टहलते-टहलते बातें करना और बीच-बीच में कुछ चबाते रहना मुझे अच्छा लगता है।

'कोआप्स' के सामने जामुन के टेढ़े-से पेड़ की बगल से होते हुए हम किसी तरह सड़क पार करते हैं।

"पिताजी का ट्रांसफर दिल्ली हो जाता तो अच्छा रहता।" वह इस तरह से कहती है, जैसे स्वयं को सुना रही हो।

"क्या अच्छा...?" मैं उसकी ओर देखता हूं।

वह हंस देती है, "जी, कुछ भी तो नहीं।"

दोनों फिर चुपचाप चलते हैं। कभी-कभी वह एकाध कदम पीछे रह जाती है, तो बहुत अटपटा-सा लगता है।

पिछले बहुत दिनों से वह उधर आने का कार्यक्रम बना रही थी, किन्तु कुछ-न-कुछ रुकावट आ पड़ती। हां, इसी शुक्रवार को उसका एक्सप्रेस तार मिला था—'चार बजे शाम बस-स्टॉप पर मिलिएगा। मैं आपको पहचान लूंगी।'

सचमुच बस-स्टॉप पर पहले उसी ने पहचाना था।

"इतनी परेशानी उठाकर आई हो, पर दिल्ली तो देखी ही नहीं।" मैं खुले में आकर अपनी हथेली पर थमा खुला पैकेट उसकी ओर बढ़ाता हूं।

"देख तो ली...?" दो-तीन दाने एक साथ मुंह में डालती हुई वह कहती है, "आपसे भेंट हो गई, यही क्या कम है।" वह चुप हो जाती है।

'बुद्धिजीवियों' का 'कॉफी हाउस' पीछे छूट गया है। गेलार्ड के आगे, रीगल के पोर्च की बगल में तिब्बती शरणार्थी महिलाएं हाथ से बुने ऊनी स्वेटर बेच रही हैं। लोग भीड़ की शक्ल में खड़े हैं। उनके चौड़े कन्धों पर झूलती ढेर सारी रंगीन स्वेटरें नहीं, उनके चेहरों की ओर अधिक ध्यान से देख रहे हैं।

सिनेमा के बड़े-बड़े रंगीन बोर्ड पीछे छिप जाते हैं। 'गे-टाइम' के सामने इस सर्दी में भी लोग आइसक्रीम खा रहे हैं। मिट्टी की कच्ची सुल्फई के ऊपर जैसे बर्फ का गोला रखा है।

"पता नहीं यहां कितने लोग रहते हैं। चारों तरफ आदमी-ही-आदमी!" वह कहती-कहती अटक-सी आती है। फिर कुछ रुककर बतलाती है,"आज शाम की छुट्टी हैडमिस्ट्रेस ने न जाने कितनी मिन्नतों के बाद दी।"

उसे रोडवेज की अन्तिम बस से अभी लौटना है—वहां, जहां एक कमरा है। एक खिड़की है। खिड़की पर खादी का एक बहुत भारी हरा पर्दा है, जिस पर से वह गुजरती भीड़, उड़ती धूल, धूप और वर्षा की बौछारें न जाने क्या-क्या

देखती रहती है।

"कभी उधर आइए न! वहां काफी लोग आपको जानते हैं।"

दिल्ली परिवहन की बसों की अनन्त प्रतीक्षा से, हमेशा की भांति आज भी धीरज टूटने लगता है तो हम स्कूटर ले लेते हैं। चाबी-भरे खिलौने की तरह स्कूटर फट-फट करता, जमीन से लगा-लगा सरकने लगता है। वह एक किनारे पर गठरी की तरह चुप बैठी है, सामने लोहे की ठंडी राड को कसकर जकड़े। फटी-फटी आंखों से दिपदिपाती नियोन-रोशनियां और आसमान को छूती ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं की ओर देख रही है।

कश्मीरी गेट तक का रास्ता देखते-देखते तय हो गया, पर वह उसी तरह चुप है।

अब नौ बजने वाले हैं। रोडवेज़ की बस पर आधी सवारियां चढ़ गई हैं। टिकट की कतार अधिक लम्बी नहीं। लोग कह रहे हैं, अभी-अभी कुछ मिनट पहले एक स्पेशल गई है।

मैं लपककर टिकट लाता हूं।

बस की खिड़की वाली, कोने की सीट पर बैठी है। बगल की खाली सीट पर पर्स और रंगों वाला कागज का थैला रखा है। मैं देखता हूं—खिड़की का शीशा टूटा है। खिड़की खुली होने के कारण सर्दी अधिक लगेगी। उसे स्वेटर साथ लाना चाहिए था। सांझ होते ही कितनी ठंड हो जाती है! फिर चलती हुई बस में। अभी कुछ ही दिन पहले फ्लू हुआ है।

वह खिड़की पर झुकी बाहर झांक रही है। बस चलने में अधिक-से-अधिक दो-तीन मिनट हैं। सहसा उसका हाथ खिड़की से भीतर मुड़ता है। वह पर्स में से एक मुड़ा-मुड़ा-सा कागज़ निकालती है।

बस का इंजन स्टार्ट हो गया है। अपनी ही जगह पर खड़ी सारी बस घर्रर-घर्रर कांपने लगी है। उसका धीरज टूटने लगता है। वह कागज मेरी ओर बढ़ाती है।

"आपके लिए लिखा था यह लेटर। फिर पता नहीं क्या सोचकर डाल नहीं पाई। और अब पता नहीं क्या सोचकर स्वयं दे रही हूं। इसका गलत अर्थ न लगाइएगा। मैं कतई प्रैक्टिकल नहीं...जाने के बाद आप भी क्या सोचेंगे!"

प्रत्युत्तर में मैं कुछ नहीं कह पाता, केवल उसकी उजली-उजली खामोश निगाहों की ओर देखता रहता हूं। ऐसे क्षणों में न जाने क्यों मेरी सोचने की सारी शक्ति जवाब दे देती है! बस की घरघराहट, यात्रियों की भाग-दौड़ के साथ कुछ और बढ़ जाती है। धीरे-धीरे पहिए घूमने लगते हैं। कंडक्टर धमाके के साथ

पिछला दरवाजा बन्द कर देता है।

मैं देख रहा हूं—वह खिड़की पर पूरी-की-पूरी झुक आई हे। अपने दोनों हाथों की अंगुलियो के बीच, उसने अनजाने मे बस का टिकट मसल-मसलकर, चूहे कुतरे कागज की तरह इधर-उधर बिखेर दिया हे। उसकी गीती आखें अब कुछ ओर छोटी हो आई हे—कुछ ओर छोटी। जिनके भीतर रेत का एक सारा समन्दर समा गया ह।



एक वट वृक्ष था

एक धार्मिक नीति-कथा, जो किसी गुरु ने अपने शिष्यों को कभी सुनाई थी।)

किसी जमाने की बात है।

एक नदी, एक वृक्ष और एक ब्राह्मण पास-पास रहते थे। ब्राह्मण बूढ़ा था—बहुत गरीब। अतः अपना दो समय का भोजन भी मुश्किल से जुटा पाता था। उसके तीन बेटे थे। तीनों बहुत सुन्दर थे। उनकी मां बचपन मे ही गुजर गई थी, इसलिए उन्हें उनकी अंधी दादी ने पाला था।

एक बार अकाल पड़ा। सरकारी गल्ले की अधिकृत दुकानों में कुछ भी राशन न मिलता था। ब्लैक में खरीदने के लिए उनके पास पैसा न था। इसी का परिणाम हुआ कि उनकी बूढ़ी दादी भूख से दम तोड़कर एक दिन चल बसी। पर, कहीं कोई हो-हल्ला नहीं हुआ। बहुत से लोग मर गए, तब भी नहीं। गांव के पटवारी, पेशकार, बी.डी.ओ.—सब हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहे। क्योंकि सरकार ने भुखमरी को छूत की बीमारी घोषित कर दिया था, जिसके इलाज के मुतल्लिक डॉक्टरों का एक कमीशन भी बिठला दिया था। जब तक उसकी रिपोर्ट नही मिल जाती, सरकार की ओर से कोई भी आवश्यक कदम उठाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होना था।

बेचारा ब्राह्मण परेशान था। उसे सूझता न था कि अब क्या करे? कैसे अपने बच्चों की रक्षा करे? प्राण बचाए?

अन्त में हर ओर से हताश होकर, उसने अपने तीनों आज्ञाकारी बेटों को एक दिन बुलाया और उन्हें परदेस जाकर कुछ काम ढूंढने का आदेश दिया। तीनों बेटों ने बात मान ली। पर उनके पास कपड़े न थे। इसलिए वे रात के अंधियारे में चीथड़ों को लपेटकर छिप-छिपकर घर से निकल पड़े।

जब झीनी झोंपड़ी के टूटे दरवाजे से तीसरा बेटा—सबसे छोटा—अकेला गुजर रहा था तो बूढ़े विप्र का बूढ़ा हृदय कराह उठा। उसे लौटाकर पास बुलाता हुआ बोला—मेरे लाड़ले बेटे, रुको। यों नंगे सिर परदेस नहीं जाते—शास्त्रों में ऋषि-मुनियो ने लिखा है।

अतः उसने यजमान के घर से श्राद्ध में मिला गाढ़े का सफेद टुकड़ा, यों ही सुई से सिलकर उसके नंगे सिर पर रख दिया। और वह चल पड़ा। सारी रात चलता रहा। सुबह एक गांव के निकट पहुंचा तो भूख, प्यास, निद्रा और थकान के मारे वह बेहाल हो चुका था। अन्त में हारकर वह एक पीपल के पेड के नीचे सो गया। टोपी जतन से उतारकर, पत्थर पर रख दी।

दोपहर ढले उसकी नीद खुली तो उसे अपनी आंखों पर विश्वास ही नहीं हुआ। उसने देखा सा ने मेवा ओर मिष्ठान्न और खीर का भग थाल है। गांव के पंच-सरपच, रबडी-मलाई के दोने, दोनों हाथों में कमल के फूल की तरह लिए, श्रद्धानत खड़े है।

उसने भरपेट खाना खाया। फिर खूब रबडी पी ओर जब वह डकार लेकर मुह पोंछता, दूसरे पडाव की ओर जाने लगा तो बाल-वृद्ध सभी नर-नारी उसे छोडने के लिए नदी के तट तक उमड़कर चले आए।

अपना इतना अधिक स्वागत-सत्कार देखकर आश्चर्य के साथ-साथ उसे प्रसन्नता भी हुई।

दूसरे, तीसरे, चाथ ओर पाचवे—जिस गाव मे भी वह गया, वहा ऐसा ही सम्मान की पुनरावृत्तिया होती रही।

एक दिन वह मन्दिर के चबूतरे पर, पालथी मार बैठा मलाई के लड्डुओ का भोग लगा रहा था, तभी पुजारी की दृष्टि उस पर पड़ी। वह आरती अधूरी छाड़कर भागता हुआ आया ओर हाथ जोड़कर खडा हो गया।

"हे पुजारी!" ब्राह्मण-पुत्र ने पूछा, "मुझमे ऐसा कोन-सा आकर्षण देख रहा है तू, जो परब्रह्म की पूजा छोड़कर यहा आया है?"

"भगवन्!" पुजारी ने उत्तर दिया, "आप महापुरुष हैं। आपने दुनिया को महायुद्धों से बचाया है। ससार में आपने अमन फेलाया है आप विश्व के नेता हे, जीवन्त देवता हैं—परमेश्वर!"

"सो केसे, पुजारी!" ब्राह्मण-सुत ने सवाल किया, "मे तो निरक्षर महामूर्ख हू। पढ़ना-लिखना तक आता नही। बोलते समय हकलाता हूं। फिर 'विश्व का नेता' कैसे हो सकता हूं?"

"पढ़ने-लिखने का नेता होने से कोई सम्बन्ध नहीं होता, देव!" पुजारी

ने कहा, "महाराज विक्रमादित्य की न्याय-शिला का महात्म्य तो आपने पढा ही होगा। पढ़ा नहीं भी होगा तो सुना जरूर होगा—वह अनपढ़ ग्वाला ज्योंही उस दूब से ढंकी स्फटिक शिला पर बैठता बिना कानून जाने ही, एकाएक जज बन जाता था। वैसे ही इस टोपी की (जो आपने पहन रखी हे) महिमा भी अपार है, श्रीमान्! जो इसे धारण करता है वही ज्ञानवान, धनवान बन जाता हे। लक्ष्मी उसकी खरीदी हुई दासी बन जाती है। भला-बुरा जो कुछ भी वह कहता है—वही वेद-वाक्य बन जाता है। कन्याकुमारी से कश्मीर तक, कच्छ से कमरूप तक ही नहीं, दूर-दूर देशों तक, इसका प्रताप फैला हे। ख़ुश्चेव ने एक वार इसे पहना था, इसीलिए वर्षो तक वह भी यश का भागी बना था।"

ब्राह्मण-पुत्र को, बिना वट वृक्ष के नीचे बैठे ही 'ज्ञान' प्राप्त हो गया।

जब वह मन्दिर से निकला तो उसने अपने को वदला हुआ पाया। एक तालाब के किनारे वह झुका तो उसके विस्मय की मीमा न रही। उसने अपने बदले किसी दूसरे को खड़ा पाया, जिसने सफेद टापी पहन रखी हे। उसे लगा—उसका रूप बदल गया हे। उसका रंग बदल गया हे। उसकी बुद्धि बदल गई हे।

अब वह बोलते समय हकलाता नहीं। झूठ बोलते समय उसका चेहरा काला नहीं पड़ता, न उसे बुरा काम करते समय लज्जा ही अनुभव होती हे..।

वह ज्यों-ज्यों बड़े शहरों के निकट पहुचा, उसका अचम्भा भी वढ़ता चला गया। मगल ग्रह पर दो हाथ-पांवो वाले, हिन्दी बोलने वाले मनुष्य को देखकर जो प्रतिक्रिया पहले अन्तरिक्ष-यात्री की होती—कुछ-कुछ वेसा ही अहसास उसे भी हुआ।

उसने अपने लोगो का पूरा एक सम्प्रदाय देखा, जिनसे मिलकर उसे अपार हर्ष हुआ। पुराने समय में जेसे बड़ी आंख को देखकर छोटी आख को सुख पहुचता था, वैसे ही उसने स्वयं को भी सुखी एवं सुरक्षित अनुभव किया।

एक दिन सज्जनों का सत्संग हो रहा था। वह भी जूते उतारकर, चुपचाप देहरी पर बैठ गया और गाल पर हाथ रखकर सुनने लगा।

कोई 'महापुरुष' आसन पर विराजे प्रवचन दे रहे थे—

"भद्रजनो, राम नाम की अपार महिमा की तरह वस्त्रों की भी महिमा अनन्त है। और वस्त्र विशेष में भी टोपी की। इस घोर कलिकाल में इसके माध्यम से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। गूगा बोलने लगता है। इसे पहनते ही लगडा पहाड़ को लांघ जाता हे। अंधे को सब-कुछ दिखलाई देने लगता है और रंक

अपने सिर पर छत्र धारण करके चलने लगता हे। इसीलिए महानुभावो, तन-मन-धन से हमें इसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए। जो इसका अनादर करते हैं, वे देश के दुश्मन हैं। मनुष्य-मात्र के दुश्मन हे। जो मनुष्य-मात्र के दुश्मन हैं, उनके विरुद्ध कानून बनाना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य हे।" (तालियां)

सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास होने के पश्चात् ब्राह्मण-पुत्र अपने डेरे पर लौटा। लौटते ही उसने डायरी में एक सूत्र नोट किया–

'जिसके पास जितने अधिक टोपी वाले सपोर्टर्स हैं–वह इस देश में उतने ही बड़े ओहदे वाला, बड़ा आदमी घोषित किया जाता हे।'

इसलिए उसने अपने शहर के सारे टेलर-मास्टरों को रातों-रात 'बुक' कर लिया।

टेलर-मास्टरों न विनीत भाव से कहा, "भगवन, हम आम जनता के कपड़े सिलते हे। हम कपडे नहीं सिलेंगे तो सारे लोग नगे रह जाएंगे...।"

"तो क्या होगा, टेलर-मास्टरो?"

"उनकी लाज केसे बचेगी, परमात्मा।"

ब्राह्मण-सुत खिलखिलाकर हंस पड़ा, "महामूर्खो, लाज नीचे का बदन नंगा रहने से नही जाती। लाज जाती है सिर नंगा रहने से। जिसे अपनी टोपी की प्रतिष्ठा का भान नहीं, उसके नंगा रहने या न रहने से दुनिया में क्या अन्तर पडता हे...फिर अमेरिका जैसे समृद्ध देश में लोग नंगे रहने की आदत डाल रहे ह, तो हम उनसे पीछे क्यों रहें। आज के जमाने में दुनिया की दौड में जो राष्ट्र पिछड़ गया–वह कहीं का भी रहने वाला नहीं है। क्या तुम यह चाहते हो कि हम अन्त में कहीं के भी न रहें।"

"हम यह कैसे चाह सकते हैं कि हम कहीं के भी न रहें अन्त में। नगेपन की शॉर्टेज भी दूर होनी चाहिए देव, फूड-शॉर्टेज की तरह।"

"यही तो हम भी चाहते हैं।" ब्राह्मण-पुत्र ने मुस्कराते हुए कहा–"यदि तुमने समय पर पर्याप्त टोपियां सिल दीं, मेजोरिटी से मैं जीत गया, तो देश का नक्शा बदल दूंगा। एक हिन्दुस्तान के भीतर चवालीस करोड़ हिन्दुस्तान बना दूगा।"

टेलर-मास्टरों ने अधिक हील-हुज्जत न की। वे थोक के भाव धड़ाधड़ टोपियां सिलने में जुट गए।

चुनाव हुए। असंख्य धन लुटा। टोपियां बंटीं और इसके बावजूद ब्राह्मण-पुत्र की जमानत जब्त हो गई तो वह भागता-भागता 'महास्थविर' के पास पहुंचा।

बोला, "महाप्रभु, जमानत जब्त हो गई है इस चरणदास की! अपने ही मुहल्ले के एक मूर्ख भिश्ती ने इसे पराजित कर दिया है।"

"भिश्ती का राज अधिक नहीं चलता, भन्ते! इतिहास यही बतलाता है।"

"भिश्ती का राज चले या न चले, पर परमेश्वर, मेरे सुनहरे सपने धूल में मिल गए हैं। मेरा कैरियर चौपट हो गया है। मैं अब क्या करूं?"

"बोलो! क्या तुम लाट-गवर्नर बनना चाहते हो?"

"मैं लाट-गवर्नरी लेकर क्या करूंगा, देव! मैं बहुतों से सीनियर हूं। पेनल पर मेरा नाम नीचे न रखिए। गवर्नरी देकर मेरा कैरियर न बिगाड़िए, प्रभुजी! मैंने बड़ी सेवा की है—भले ही गुटबन्दी के कारण मेरी मूर्ति अभी चौराहे पर नहीं लगी तो क्या हुआ।"

"तुममें ऐसी क्या विशेषता है भन्ते, जो तुम दिन-दोपहर इतना बड़ा ख्वाब देख रहे हो।" मुस्कराते हुए महास्थविर ने कहा।

"महाप्रभु, मैं इस देश को स्पूतनिक की तरह आगे ले जाना चाहता हूं। गरीबी और अमीरी, मैं दोनों को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता हूं। मैं उम्रभर इस देश की सेवा करना चाहता हूं। मैं एक हाथ में एटम बम और दूसरे हाथ में कबूतर पकड़े रहना चाहता हूं। भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद मिटा देना चाहता हूं। मैं 'समस्या' शब्द को डिक्शनरी से हटा देना चाहता हूं। मेरे मन मे अथाह व्यथा है, देव! मैं कुछ कर गुजरना चाहता हूं।"

देवता अट्टहास कर हंस पड़े—"तभी तो तुम्हारी जमानत जब्त हुई है, ब्राह्मण-पुत्र! जब देश में समस्याएं ही नहीं रहेंगी, तो तुम कहा रहोगे? गत वर्षों की कूटनीति कहती है कि हमने देश में समस्याएं खड़ी करने में जो योगदान दिया, वह ऐतिहासिक महत्व का है। जिसने किसी सम्प्रदाय की सेवा नहीं की, किसी प्रदेश की सेवा नहीं की, वह देश की सेवा कैसे कर सकता है। इसलिए साम्प्रदायिकता की भावना, क्षेत्रीयता की भावना का फैसला जरूरी है—तभी देश-प्रेम की भावना का विस्तार होगा। जो आदमी अपना उद्धार नहीं कर सकता, अपने भाई-भतीजों का घर नहीं भर सकता, वह देश को भी समृद्ध नहीं कर सकता।"

"तो मैं इस देश को समृद्ध करने के लिए क्या करूं, देव?" हाथ जोडकर ब्राह्मण-पुत्र ने कहा।

"तुम सरकारी अस्पतालों में जाओ।"

"प्रभुवर, मैं अभी मोक्ष नहीं पाना चाहता।"

"मोक्ष नहीं भन्ते! वहां अपना इलाज करवाओ! यदि तुम जीते-जी वहा

से लौट आए तो फिर तुम्हें मृत्यु-पर्यन्त कोई मार नहीं सकेगा।"

चाणक्य के वंशज ने देश को समृद्ध करने का वज्र संकल्प से लिया था, इसलिए वह सरकारी डॉक्टरों के पास पहुंचता है।

वे बिना जांच-पड़ताल किए, उसका सिर फाड़कर कटोरी में भेजा निकाल लेते हैं। सीने पर चाकू चलाकर एक बड़ी प्लेट में कलेजा परोसते हैं। इन दोनों वस्तुओं की जांच करने के लिए डॉक्टरों का एक बोर्ड बिठलाते हैं और जब तक डॉक्टरों की रिपोर्ट नहीं मिलती, तब तक के लिए फिलहाल यों ही जख्म सिलकर वापस भेज देते हैं।

महास्थविर पास बुलाते हैं, बिठलाते हैं, बातें करते हैं—"भन्ते, तुम आज यह समझदारों की जैसी बातें कैसे कर रहे हो!" साश्चर्य कहते हैं—"क्या तुम सरकारी अस्पतालों में हो आए हो?"

वह सिर हिलाता है, "महाप्रभु, उन्होंने मेरा वजन कम कर दिया है। मुझे लगता है मेरे शरीर में से कुछ निकाल लिया है।"

महास्थविर मुस्कुराते हैं—"यदि फालतू पुर्जे निकाल भी लिए हों तो क्या हर्ज है, विप्र-सुत! दधीचि ने देश की सेवा के लिए अपनी हड्डियां दे दी थीं।"

"देवता, अब मुझे अपने में अक्ल ही महसूस नहीं होती...।"

"सुकरात ने कहा है भन्ते, कि जो अपने को बुद्धिमान कहते हैं—वे सबसे बड़े मूर्ख होते हैं और तुम अपने को अक्लहीन अनुभव कर रहे हो, इससे नगितार्थ होता है कि तुम महाज्ञानी हो।...इसलिए बाई-इलेक्शन में खड़े होकर इन्द्रासन तक को प्राप्त कर सकते हो—मंत्रीपद कौन-सा दुष्कर कर्म है, भन्ते...।"

महीनों बीत गए थे। डीलिंग-क्लर्क की 'कार्य-कुशलता' से डॉक्टरों के बोर्ड की रिपोर्ट वाली फाइल ही खो जाती है। क्लर्क, मेडिकल सुपरिंटेंडेंट का रिश्तेदार है। अतः धीरे-धीरे बात समाप्त हो जाती है।

परन्तु इस बीच सच ही ब्राह्मण-पुत्र ने उप-चुनाव जीतकर अपना मनोरथ पूर्ण कर डाला था।

एक दिन वे (ब्राह्मण-पुत्र) अपने एयरकंडीशण्ड कमरे में बैठे बाढ़ रोकने के लिए ईंटों के स्थान पर रद्दी फाइलों के इस्तेमाल की योजना का नक्शा बना रहे थे कि बाहर एक जुलूस नारे लगाता हुआ रुक गया।

वे घंटी बजाकर सेक्रेटरी को बुलाते हैं—"बाहर हमारी जय-जयकार के नारे इस बेवक्त कौन लगा रहा है, सचिव?"

"सर, लगता है, इन लोगों की मांगें हैं।"

"मांगें तो औरतों की हुआ करती हैं सचिव, जिनमें सिन्दूर भरा जाता है।"

"सर, ये पुरुष हैं। अतः इनकी मांगें भी दूसरी तरह की होनी चाहिएं।"

"कैसी हैं, दिखलाओ! हम खुद देखेंगे।"

वे बाहर निकलते हैं। अधिकार-भरे स्वर में आदेश देते हैं—"सब अपनी-अपनी मांग दिखलाओ, श्रमिको। हमें तुमसे सहानुभूति है, इसलिए हम खुद देखना चाहते हैं।"

"...गरीबपरवर, हमें खाना चाहिए।"

"अरे, तुम कैसे मूर्ख हो। क्या यह होटल है, जो यहा खाने के लिए आए हो।"

"हुजूर, हमें खाने के लिए अनाज चाहिए, होटल नहीं।"

"अनाज! अनाज का यहां क्या काम है, श्रमिको! यह ऑफिस है। यहा फाइलें हुआ करती हैं। अगर तुम्हें फाइलें चाहिए तो खुशी से ले जाओ। शिक्षा, परिवहन और निर्माण की फाइल ले जाओ।"

"सरकार, हम भूखे हैं—हमें अन्न के दाने चाहिएं।"

"ये मूर्ख कैसी बातें करते हैं। इतनी-सी बात भी समझ मे नहीं आती।" वे सिर खुजाते हुए सोच ही रहे थे कि सेक्रेटरी बोल पड़ता है—

"सर, गलती हमारे कार्यालय की नहीं है। लगता है भगवान के यहां ही भूल हो गई है। दाने-दाने में इनके नाम की मुहर लगने से रह गई है।"

किसी तरह समझा-बुझाकर, उनकी मागों की जांच के लिए कमीशन बिठलाने का आश्वासन लेकर वे चलते हैं कि तेरह हजार लोगों का एक जुलूस फिर आ धमकता है।

"तुम्हें क्या चाहिए?"

"सरकार, हमारे दुःख जल्दी से दूर कर दीजिए। हम अधिक कष्ट नहीं सह सकते। हमारी यातनाओं की पराकाष्ठा हो चुकी है।" लोग बिलख-बिलखकर रोने लगते हैं।

उनका हृदय द्रवीभूत हो उठता है। वे बड़े शान्त भाव से, संयम से प्रवचन देते हैं—

"मूर्खो, तुम व्यर्थ में रो-रोकर अपना समय क्यों खो रहे हो! जानते नही, दुःख-सुख, जीवन-मरण सब उस परमपिता परमेश्वर के हाथ की चीज़ें हैं। हमारे पूर्व-जन्म के संस्कार इस जन्म में फलीभूत होते हैं। पिछले जन्म में तुमने पुण्य-कर्म नहीं किए तो इस जन्म में तुम्हारे बदले दुःख क्या मैं भोगूंगा?... हा,

मैं अधिक-से-अधिक सहानुभूति का प्रस्ताव पास कर सकता हूं। इसके अतिरिक्त बतलाओ मेरे पास क्या है...।" वे कोठी के भीतर जाकर दावत मे जुट जाते हैं, क्योंकि लंच-टाइम हो गया है।

आधी रात तक लोग धरना देकर बैठे रहते हैं। हिलने का नाम नही लेते तो पुलिस डण्डे बरसाकर भीड को तितर-बितर करती है और आसू-गैस छोड़ती है।

सेक्रेटरी दूसरे दिन बतलाता है, "आपकी अमृतवाणी सुनकर लोग द्रवीभूत हो उठे थे, सर! सब गद्गद होकर अपनी आखे पोछते हुए जा रहे थे।"

साहब का सीना फूलता है।

साहब सन्ध्या समय घूमने के लिए निकलते हैं। वहां सड़कों पर भूख से मरी पडी लाशों के ऊपर चीले मडराती दिखाई देती है।

"यह क्या है सचिव?"

"कुछ नही, सर।" वह लापरवाही से कहता है, "इनके दुःख के दिन पूरे हो चुके है। सासारिक बन्धनो से अब ये मुक्त है—इन्हे सच्चे अर्थो में सच्ची शान्ति मिल चुकी है।"

साहब को सन्तोष होता है। चलो, कुछ लोगो को तो सच्ची शान्ति मिली।

शाति मिलने की बाते साहब सोच ही रहे थे कि विरोधी-पक्ष के नेता आरोप लगाते है कि सरकार की लापरवाही से पाच हजार आदमी मौत के कुएं में एक साथ डूब गए है।

साहब उन्हे निकालने के लिए किसी विदेशी फर्म को मजबूत रस्सियों का आर्डर देते है तो लोग चिल्लाते है कि वे सब-के-सब मर गए है।

साहब को आश्चर्य होता है। सब-के-सब मर गए है तो इसमें इतनी परेशानी की कौन-सी बात है। वे स्वय ही समझाने लगते है—

"महानुभावो, चोला बदलने का दूसरा नाम मरना है। वास्तव मे मरना क्या है, कोई बतला सकता है?"

सब एक-दूसरे का मुह ताकते है।

"वस्तुत: 'मरना' शब्द ही गलत है। क्योकि आदमी की आत्मा अमर रहती है। फिर बाहर का ढांचा बदलने से क्या अन्तर पड़ता है, इसलिए आपकी शिकायत आधारहीन है। इसलिए सब अपने-अपने घरो को चले जाइए. .।"

लोग जिद करते हैं लेकिन उसका कोई असर नहीं होता, तो अन्त में विरोधी-पक्ष के नेता बगाल-बन्द, केरल-बन्द की तरह 'भारत-बन्द', 'एशिया-बन्द' ओर 'विश्व-बन्द' तक की धमकी देकर चले जाते है।

साहब बेकरी वालों को बुलाकर तुरन्त हुक्म देते हैं कि तुम बन्द बनाना

इसी क्षण से बन्द कर दो। देश में सारी परेशानियों की जड़ इस समय यही है।

उन सबके जाने पर सब लोग साहब की सूझ की प्रशंसा के पुल बांधते हैं—साहब का सीना कुछ और फूलता है।

इस तरह दिन में हजार बार, बार-बार सीना फुलाने से साहब को 'सीना फुलाने की' एक नई बीमारी हो जाती है और इसी असाध्य बीमारी के परिणामस्वरूप एक दिन वे अनायास चल बसते हैं।

उनके यों चल बसने से लोगों को दुःख होता है।

एक दिन सब मिलकर महापुरुषों के चित्र की बगल में एक महापुरुष का चित्र और लटका देते हैं और उनके आदर्श अधूरे कार्यो को पूरा करने का परस्पर ठेका उठा लेते हैं...।

शिष्यो, इस कहानो से सबक मिलता है कि जो शास्त्रों के वचन का अनुसरण करते हैं, धर्म की राह पर चलते हैं, जिन पर पिता की विशेष कृपा होती है, जो टोपी धारण कर घर से निकलते हैं और जो देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत रहते हैं—वे किसी-न-किसी दिन अवश्य महान व्यक्ति बनते हैं। मरकर भी वे अमर हो जाते हैं।



तरपन

"अरी, अब रोती क्यों है? बावली हो गई? जाने वाला गया, लेकिन इन दुधमुहों का तो खियाल कर। पाहुनों का तो लिहाज कर।"

"आज तेरहवीं है। खबरदार जो आंसू बहाए! पितर का तरपन सांती से नहीं किया तो पिरेत-जोहनी से छूटेगा नहीं!"

"अरे, दिन चढ़ आया है छत पर। कुश-तिल गिन लिये हैं। कहां है तुलस्या की बहू!" बाहर से बामनों की एक साथ अनेक आवाजें टकराईं।

मधुलि ने जाड़े से नीले पड़े अपने अधर भींच लिये। किसी तरह हृदय का आवेग थामकर आंसू पोछने लगी।

घुटनों तक का घूंघट काढ़े, फटी अंगिया, फटी धोती में लिपटी वह दया की, दु:ख की मूरत, अपने तीन अनाथ बच्चों को लिए चौक, बरामदे में आ खड़ी हुई।

"बहू, देखती क्या है! साम-जाम जल्दी जुटा। जुगत तैयार कर। नहीं तो अबेर हो जाएगी। पिण्डदान तो दिन चढ़ने से पहले होना चाहिए, हर हालत में। सास्तरों में लिखा है।"

शास्त्रों में लिखा है भगवान ने, पर मधुलि के टूटे कपाल पर तो नहीं। 'गरुड़-पुराण' की कथा में उसने कभी सुन रखा था कि पिरेत की भूखी आत्मा पिंडदान पाने के लिए भटकती रहती है, इसलिए सुबह हर हालत में तरपन हो जाना जरूरी है। इससे अधिक सुनने-समझने की सामर्थ्य उसमें न था और न रही ही। किसी तरह अपने को थामती, हाथ जोड़ती बोली, "साम-जाम क्या जोड़ूं, बामन ज्यू? किसी तरह कुश-तिल बहा दो। तरपन कर दो। तुम बामन हो कुलदेवता। जैसे भी हो 'उनको' पितरों से मिला दो। इन अनाथ बच्चों

के सिर पर हाथ धर दो। मेरे पास तो देने को कुछ भी नहीं।'' मधुलि ने अपने कांपते अधर भींच लिये, आंखें मींच लीं।

पर अनगिनत आंखें उपेक्षा से, आश्चर्य से, एक साथ उस पर बरस रही थीं, ''यह उम्मीद किसी को भी नहीं थी, यह क्या अंधेर करने जा रही है आज!''

''तो क्या हरज है, बहू!'' बूढ़े बामन दा ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरा जो अब तमाखू पीते-पीते पीली पड़ गई थी, सूखी घास की तरह, ''अधिक नहीं तो न सही। अपनी सामर्थ के मुताबिक थोड़ा-बहुत जितना कर सकती है, कर दे। पितरों में तो उसे मिलाना ही है। बनि-बामनों को खिला दे। पांच-पांच, दस-दस के नहीं तो न सही, सवा रुपए का ही गोदान करा दे। कुंआरी-कन्याओं के पांव पूज दे। बछिया को गो-ग्रास दे दे। जौ-तिल बह जाएंगे, और चाहिए क्या। वैसे तो क्रिया-कर्म में जितना लगाएं सो थोड़ा है। यहां देंगे तो वहां मिलेगा। गरुड़-पुरान में भी कुछ ऐसा ही लिखा है। क्यों?'' उन्होंने बगल में विराजे मधि बामन से पूछा, जो किसी दूसरी ही उधेड़-बुन में लगे थे। बामनी से कह आए थे कि आंगन में घाम आने तक जरूर-जरूर लौट आएंगे। क्रिया-कर्म से भूखे लौटने का तो प्रश्न ही नहीं। पर अब?

उन्होंने अनमने भाव से केवल सिर हिला दिया, जिसका आशय था—हां!

गरुड़-पुराण की बात सुनकर मधुलि चौंकी। अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई बोली,''बामन ज्यू, गरुड़-पुरान की सामर्थ मेरी कहां। यह सब तो बड़े भागवानों के भाग में होता है, जो फूलों के डोले पर चढ़कर स्वरग जाते हैं। मेरे पास तो जो-तिल बहाने को भी पैसे नहीं। गो-ग्रास के लिए आटा नहीं। बच्चे तीन दिन से भूखे हैं।'' मधुलि अपने को संभाल न पाई।

कैसी अनहोनी बात है! बेचारा तुलसा उमर-भर अपनी हड्डियां तोड़ता रहा! खून-पसीना बहाता रहा। दूसरों के दुःख में दुःखी हुआ, हंसी में हंसा। सभी की उस गरीब ने भलाई की। सभी के हाथ बंटाए। लेकिन आज उस मृतक के बंधे हाथ कोई नहीं खोलेगा। बिना कफन के वह गया और बिना तरपन के ही रहेगा। कुश-तिल भी उसके गंगा में नहीं बहेंगे! कुछ लोगों के दिलों में रहम आया—अनायास! अकारण! लेकिन अधिकांश ऐसे थे जो जल-भुनकर राख हुए जा रहे थे। बड़ी बेसब्री के साथ इधर उधर झांक रहे थे। अपनी पीठ से मिले पेटों पर हाथ फेर रहे थे। ढीली, घुटनों तक की धोती को कस-कसकर बांध रहे थे।

मधुलि अंदर जाकर औंधे मुंह गिर पड़ी। अंधेरे कोने में देर तक पड़ी रही—सिसकती, सुबकती!

"मधु! मधु!" दूर के नाते की आमा ने (जो संवेदना प्रकट करने आई थी) उसे झकझोरा, "अरी, करम की बाती का तेल सूखने को है। इत्ते दिनों से विना नागा दिन-रात जल रही है। आज तेरहवीं को पिंडदान से पहले बुझ गई तो कितना अनर्थ होगा! लोग क्या कहेंगे? फिर तू तो बाल-बच्चों वाली है न! इन अबोध बच्चों की आत्मा क्या कहेगी? तू क्या कहेगी दुनिया के सामने?"

"तेल तो नहीं है, आमा! रत्ती-भर भी नहीं!" मधुलि ने होंठों-ही-होंठों में बड़ी मुश्किल से कहा।

"अरी, नहीं है तो क्या! पास-पड़ोस से ही एक-आध कटोरी पैंचा ले न! उठ, जल्दी कर। रोने का वक्त है क्या यह? बामन बाहर बैठे हैं।" आमा ने सयानेपन से झिड़ककर कहा।

मधुलि ने माटी की टूटी दीवारों की ओर देखा। घास की झीनी छत की ओर देखा, सूरज की किरणें जिससे झुक-झुककर आतुरता से उस अंधियारी सीलनभरी कोठरी की ओर झांक रही थीं। एक गहरी उसांस ली। बुरांझ के लाल फूलों जेसी पलकों को मला। पीतल की पिचकी कटोरी बगल में दुबका के, पिछवाड़े के रास्ते पड़ोस के घर में घुसी।

"मधुलि बहू, कैसे आई? पंगत खाने के लिए बैठ गई? भांडे-बर्तन लेने आई हो क्या?" पड़ोस की सास-मां ने उसकी ओर सहानुभूति से देखा। फिर उसके फूटे करम को जी भर कोसा। फिर कहा कि अभी उमर ही कौन-सी थी उसकी, भरी दोपहरी में जो अंधियारा देखना पड़ा।

माथा झुकाए, पलकें झुकाए वह खड़ी रही।

"कैसी आई थी, बहू?"

"सासू ज्यू...।" सकपकाती मधुलि बोली।

"कह, कह!"

"थोड़ा तेल चाहिए था पेंचा। करम की बाती बुझने को है। बामन बैठे हैं आंगन में।" उसका गला रुंध आया।

"अरी, अभी तक भी करम नहीं हुए!" होंठ काटती, पोले मुंह को फुलाती सास-मां बोलीं, "बामनों की अक़ल पर क्या मिट्टी पड़ गई है! अभी तक बैठे-बैठे क्या कर रहे हैं?"

मधुलि कोई जवाब न दे पाई।

"बहू, तेल की तो आज एक बूंद नहीं," सास-मां ने सन्नाटा भंग करते हुए कहा, "पिछले शनीचर से विना छौंका खा रहे हैं। परसों किसी तरह कनस्तरी निथारकर बच्चों के बाल बाटे।"

"लेकिन हां, मैं बतलाती हूं।" कुछ रुककर बोलीं, जैसे एकाएक कुछ याद आ गया हो, "ऊपर वालों के घर परसों ही तेल आया है, मंडी से। एक-आध कटोरी अभी दे भी देंगे तो कौन-सी बड़ी बात हो जाएगी। पास-पड़ोस के होकर क्या इत्ते भी काम नहीं आएंगे...!"

मधुलि सिल पत्थर की तरह क्षण-भर असमंजस में डूबी रही। फिर ऊपर की ओर मन-मन भर के भारी-भारी कदम बढ़ाने लगी। पीतल की पिचकी कटोरी अभी तक बगल में वैसी ही दुबकी बैठी थी।

दूर से ही घर के किवाड़ों में मोटी सांकल चढ़ी दीखी। उसका दिन धक् से बैठ गया। वह लौटने के लिए मुड़ने ही वाली थी कि, "मधुलि!" आवाज सुनाई दी ऊपर से।

मुड़कर देखा-सावी की मां आंगन के नीचे सगिया मिरच गोड़ती नजर आई।

खेत पर ही वह चली गई।

इस वक्त, इस तरह खोई-खोई-सी, यों भटकती-फिरती देखकर सावी की मां को अचरज हुए बिना न रहा। मोटे-मोटे हाथों में नाचती कुदाली रुक गई, "यहां कैसे, मधी। किरिया-करम हो गए?" पूछा जिज्ञासा से।

"नहीं, काकी?"

"क्यों?"

"काकी...?"

"कह, कह!" सावी की मां ने उझककर देखते हुए प्रश्न किया।

"बड़े काम से आई हूं...!"

"अरी, कुछ कह भी न!" उसकी उत्सुकता ही नहीं, आशंका भी बढ़ आई, एक साथ।

"काकी, एक धार तेल दे दे, पेंचा। जल्दी ही लौटा दूंगी।...करम की बाती बुझने को है।"

"हाइ...! तेल कहां!" काकी ने हतप्रभ होकर कहा, "थोड़ा-सा कभी मंडी से लाए थे, सावी के बाज्यू। सब इधर-उधर यों ही खत्म हो गया। दो-चार बूंदें कठिया में हों तो निथार ले।" काकी ने बड़ी परेशानी, बड़ी झुंझलाहट से, अपने मुगदर जैसे मोटे-मोटे हाथ मटकाए। बड़े अजीब ढंग से मुंह निचोड़ा। जैसे बिना बुलाए मुसीबत सिर पर आ चढ़ी हो।

"थोड़ा-सा भी होगा तो काकी, बहुत है। बाती चीर लेंगे। कुछ छोटी कर लेंगे। कम कर लेंगे...।" मधुलि ने सहमी-सी दबी आवाज में कहा।

काकी ने कुदाली मेड़ पर पटकी। ओढ़नी को सिर में सरकाया। मोटे घाघरे

के छोर कसकर मोटी कमर पर बांधती घर की ओर बढ़ीं। बोलीं, "अभी तक भी पिंडदान नहीं किए? दिन चढ़ आया है माथे पर। इजू, तू भी गऊ है। निरी गऊ! जल्दी-जल्दी काम करवा। खाना-पीना करके जान छुड़ा। बामनों का क्या है? कोई मरे या बचे, उन्हें तो दक्षणा से मतलब...।"

कुछ बूंदें कटोरी में निथारकर मन-ही-मन काकी के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर, वह मूक भाव से घर की ओर बढ़ी। रह-रहकर मन में शंका समा रही थी कि कहीं बाती बुझ न जाए! कहीं...।

चलते-चलते, किवाड़ के पास पांव ठिठक गए, एकाएक। जिसकी शंका थी, वह भी होकर ही रहा आखिरकार! घर-भर में कुहराम मचा था। मधुलि ने देखा—बाती बुझ गई है, अभी-अभी। टिमटिमाती, कांपती दीप-शिखा के बदले, केवल धुएं की एक लम्बी लकीर-सी सिहर रही है। घर-बाहर की औरतें खुसर-पुसर बाते कर रही हैं। भूखे भेड़ियों की तरह बामन लड़ रहे हैं। इस अपराध की कौन-कौन-सी सजाएं हो सकती हैं, कौन-कौन-सी नहीं। ब्रह्म-पुराण, गरुड़-पुराण, शिव-पुराण आदि न मालूम किन-किन पुराणों के सटीक उद्धरण दिए जा रहे हैं। घमासान वाक्-युद्ध छिड़ा है। कुछ आस्तीनें चढ़ी हैं। कुछ चढ़ रही हैं।

यह साग महाभारत देखकर मधुलि खड़ी-की-खड़ी रह गई, मिट्टी में गड़े खभे की तरह। तेल की कटोरी, जिसे सावधानी से बचा-बचाकर, किसी तरह लाई थी, न जाने कब जमीन पर औंधे मुह पछाड़ खाकर लुढ़क गई। काली धोती और गोबर मिले फर्श की उखड़ी मिट्टी मे कुछ चिकने छींटे-से उछटकर रह गए केवल।

"अब क्या होगा, इजा?" वह मेके से आई बूढ़ी कानी मां से लिपट पड़ी। आने वाली आशंका के भय से कांप उठी।

मां देर तक कुछ न बोल पाई। आंखें पोंछती हुई बोली, "अभागी, तेरे करम खोटे निकले। 'वहां' से मांगकर नहीं लाई तो फिर अब रो अपनी करनी को...।"

"बड़े बामन ज्यू, अब क्या होगा?" बुढ़िया ने बामनों की पंचायत में 'बिघन' डालते हुए कहा।

"होगा क्या?" अब तक की बहस से थके बूढ़े बामन देवता ने माथे का पसीना अंगुली से समेटकर दीवार पर छिड़कते हुए कहा, "क्रिया-करम की बाती बुझने से बड़ा असकुन कोई होता है, मधी की मां। शास्त्रों में आज तलक मैंने देखा नहीं। जैसे थोड़ा-बहुत मुझे पता है, काशी-गया के पंडितों ने भी देखा नहीं

होगा। वैसे दो-चार ये नए लौंडे देख आए हों तो पता नहीं...।" उन्होंने बड़ी उपेक्षा से नवयुवक प्रतिद्वंद्वियों की ओर देखा।

"तो क्या होगा?" बुढ़िया ने अपनी धुंधली पलकें पोंछीं और बामन ज्यू की पल-पल बदलती भाव-भंगिमा को पढ़ने की असफल चेष्टा की।

"तो निदान यही है, मधी की इजा, जैसा कि दुलि बामन अभी-अभी कहते थे—गरुड़-पुरान के मुताबिक, कम-से-कम अपनी पहुंच के हिसाब से पांच पिंडदान, पांच गोदान, पांच बामन, पांच कुंवारियों के पांव तो पूजने ही पड़ेंगे। बाकी दान-पुन्न का क्या, जो जित्ता करे, कम है।"

"संकट इत्ते से कट जाएगा? इसके अलावा तो और कुछ नहीं चाहिए न...!" असमंजस में डूबी बुढ़िया ने कुम्भी-नरक से त्राण पाते हुए कहा।

"चाहिए क्यों नहीं!" बूढ़े विप्र देवता ने खिलखिलाकर अपना मुंह लटकाया, "तुम तो दानी-सयानी हो। सब जानती-बूझती हो। सोमेसर, रामेसर के सारे तीरथ-बरत किए हैं तुमने। जो जित्ता करे, वह कम। लेकिन हां, देखो, सूरज सिर पर चढ़ आया है। आज दिन छिपने से पहले पिंडदान नहीं हुआ तो सात जन्मों के यज्ञ-यजन से भी प्रेत पितरों में मिलेगा नहीं। समझी न!" वामन ज्यू ने मुरझाई दूब और सूखते हुए कुशों की ओर बड़ी सहानुभूति से देखा। उल्टा-पल्टा और फिर वैसे ही रख दिया।

मधुलि फाटक पर खड़ी थी, सिर से पांवों तक कान बनी।

"तो इजा—!" उसने सामने खड़ी मां को भीतर बुलाते हुए बड़ी अधीरता से कहा।

"इतना तो करना ही पड़ेगा अब! जिन्दे की जिन्दा गति, मरे की मरी गति तो करनी ही होती है। बामन विचारे भी क्या करें! इससे कम में कहते हैं किताबों पर लिखा ही नहीं है। पहले तो कम पर भी हो जाता, पर अब...!"

मधुलि सोचती रही...'उनकी' भूखी आत्मा पिंडदान के विना भटक रही होगी! वामन द्वार पर धरना दिए बैठे हैं! बाहर के भी हित-मित्र हैं। बच्चे भूख से कुलबुला रहे हैं। क्रिया-कर्म वाले कुश-तिल गिनकर इन्तजार कर रहे हैं।...मधुलि आसमान पर आंखें टिकाए सोचती रही। ये सारी विपदाएं क्या आज के ही दिन के लिए लकीर लगाए बैठी थीं। सब-कुछ आज ही होना था!...आज ही...। आंखों में धुआं-सा छाने लगा उसके।

"तेरे पास टका-पाई जो है निकाल, इजू! पूरा तो करना ही होगा। कुछ तो जाते समय अभागा छोड़ ही गया होगा।"

"कुछ भी तो नहीं, इजा! धेला-टका तक नहीं।" मधुलि ने अपने सूखे

अधर चबाते हुए कहा, "क्या छोड़ जाते! था ही क्या छोड़ने-भिड़ने को! कोरा कफन भी तो मरते समय साथ नहीं ले गए। किसका गोदान!...किसकी वैतरनी!... लकड़ी भी जो जली देख न पाए!"

बुढ़िया ने अपनी आंखें मींच लीं, जैसे इससे अधिक सुन-समझ पाने की शक्ति बच न पाई हो। चुप खड़ी अपने पांवों पर लिपटे नन्हे नाती के रूखे बालों को सहलाती रही।

"तो क्या होगा? क्या?" उसके अधर अनायास फड़फड़ाते रहे।

"इजा!" उसने अधीरता से मां की ओर देखा, "तो क्या होगा? कुछ तो करना ही पड़ेगा न!"

"हां!" मां सामने की ओर देखती रही।

"तो इधर-उधर से ही कुछ बंदोबस्त कर लाती हूं फिर..." कुछ सोचती हुई बहकी-बहकी-सी बोली, "जैसे-तैसे पिंडदान तो देना ही है। तू बच्चों को देख। मैं जाती हूं।"

मां वैसी ही खड़ी देखती रही।

"हां, देख!" मधुलि ने कुछ मुड़कर कहा, "गोदान के लिए पधान'का की बछिया आंगन में बांधे रखना। पूंछ पकड़ लेंगे, काम चल जाएगा। कुछ दाड़िम की पत्तियां तुड़वाना न भूलना। बामनों से कहना कि करम का साम-जाम जुटाकर अभी-अभी आती है। तमाखू भरवाते रहना। बस, मैं अभी आई! अभी...!" मधुलि एक ही सांस में कहती हुई घुटनों तक का घूंघट काढ़ चल पड़ी, गठरी-सी।

पधान'का के घर की ओर भागी।

मालूम हुआ—पधान'का न्योते में दूसरे गांव गए हैं। रात तक लौटेंगे। चार-छह और घरों के चक्कर काटे, इधर-उधर ठोकरें खाईं घंटों तक, सब बेकार।

फिर...बड़े भरोसे से फिर गांव की सेठानी मानी हौलदारनी के घर की ओर लपकी। खेत में घास काटने की बाबत हौलदारनी से पुरानी अनबन थी कभी की! लेकिन ऐसी घड़ी में ऐसी छोटी-मोटी बातों पर खियाल ही कौन करता है!

गुड़ की घुली-मिली बातें, सहानुभूति, संवेदना की बातें, हौलदारनी अपना नीखा मुंह फुराती, चटर-पटर करती रही। एकाध बार उसके दुःख में दुःखी होकर मोटे-मोटे आंसू ढुलकाती हुई रोई भी। उसके मुंहजले खोटे करम को हाथ नचा-नचाकर खूब जी भरकर कोसा भी, लेकिन जहां पैसे-पाई का नाम आया वहां मैले, घिनौने, काले दांत दिखला दिए।

बहुत समय बीत चला था। अब किधर जाए, क्या करे? चौराहे पर खड़ी सिमटी-सी मधुलि को कुछ सूझता न था। सूरज तेजी से फिसल रहा था। पेड़ों

की परछाइयां लम्बी होती जा रही थीं। भूखे बामन कोस रहे होंगे। मां कोस रही होगी। अंधी चल-फिर नहीं सकती। वैसे ही दीवारों से, दरवाजे से टकरा रही होगी। आंगन में दूसरे की भूखी बछिया प्यासी टंगी होगी। बच्चे रार मचा रहे होंगे। कुछ भी उसे सूझ न पाया। तभी एक विचार कौंधा। कंसी की दुकान में क्यों न चली जाय! शायद कुछ लिहाज कर ही दे। कौन जानता है! ऐसी अबेला में तो बन का बाघ भी सुना साथ देता है। राकस भी देवता बन जाता है।

वह अनजाने, अनचाहे कंसी की दुकान की ओर बढ़ी। दूर घाटी पर बनी दुकान की ओर। चलते-चलते खयाल आया उसे—कंसी कभी कितनी ललचाई आंखों से उसकी ओर घूरा करता था—जब वह नई-नवेली थी। पीली पिछौड़ी, नीली घाघरी पहने, पांवों में झांवर झनकाती हुई जब वह लकड़ी के लिए सबके साथ जंगल जाती तो पुल पर खड़ा किसी-न-किसी बहाने उसकी ओर देखता रहता था। एक-आध बार नौले पर छेड़ने की भी कोशिश की। लेकिन उसने सात पुस्तों तक के पुरखों के नाम लेकर गगरी फनकाते हुए वह श्राद्ध किया, कि उसकी सूरत ही सूख गई थी। तब से आज तक कभी नजर उठाने का भी साहस न किया। लोगों ने कहा तो सुना, खीसें निपोरता हुआ कहता था कि लोगों ने दुश्मनाई से उस पर अपराध थोपने की कोशिश की। वह तो उसे अपनी बहन से भी बढ़कर मानता है।

ऐसी स्मृतियों का ऐसे समय में याद हो आना उसे बड़ा अटपटा-सा लग रहा था। स्वयं पर ही झुंझलाहट हो रही थी।

"कंसी दद्दा...?" मधुलि ने घुटनों तक का घूंघट काढ़े, ओढ़नी का आचल दांत से दबाते हुए, सहमी आवाज में कहा।

कंसी ने अटपटे भाव से उसकी ओर देखा, "कह, कह! सामान चाहिए क्या कुछ?"

"सामान क्या, दद्दा...?" बहकी-बहकी मधुलि बोली, "समझो कि भीख चाहिए! आज 'उनका' तरपन है। दिन छिपने को हो आया है। अभी तक भी पिंडदान नहीं हुआ। देर-सबेर तुम्हारे पैसे लौटा दूंगी, पाई-पाई करके। तुम्हारे खेतों में काम कर दूंगी। कहो तो घास-लकड़ी घर पर डाल जाऊंगी। ऐसे भी नहीं चुकेंगे तो घर के भांडे-बरतन गिरवी रख दूंगी, बेच दूंगी। ऐसे भी नहीं चुकेंगे तो अपने बच्चों को हुड़कियों के हाथ बेच दूंगी, लेकिन तुम्हारा उधार माथे पर धरकर नहीं मरूंगी। यह लोक तो बिगड़ा सो बिगड़ा ही, क्या परलोक भी बिगाड़ूंगी! उनका पिंडदान करवा दो। तरपन करवा दो आज! उमर-भर अहसान नहीं भूलूंगी।" कहते-कहते मधुलि की बड़ी-बड़ी आंखें भर आईं। पगली-सी धुन

में वह कहे जा रही थी। किसी भी कीमत पर 'ना' सुनने से पहले गले में पत्थर बांधकर डूब मरने को तैयार थी।

उसके चेहरे की ओर कंसी देखता रहा। दुष्टता के सूचक अपने पतले-पतले भिंचे होंठों को दांतों से रगड़ता हुआ सोचता रहा—अभी तक इस ढली जवानी में भी यह बदजात इतनी खूबसूरत है! उसे विश्वास न हो पा रहा था, अपनी बादाम-सी छोटी, ऊंघती आंखों पर.. झीनी-झीनी फटी धोती, टूटे काले बटनों वा ी मैली अंगिया कुछ-कुछ फटी-उधड़ी-सी, सफेद पिंडलियां संगमरमर-सी, मुरझाया पर गोरा गुलाब-सा मुखड़ा। उस पर झलकती पसीने की नन्ही-नन्ही बूंदें। कंधों के नीचे तक लोटती बालों की खुली लटें...पके पांगर के रंग की...

"क्या चाहिए?" उसने उखड़ी आवाज में पूछा।

"कुछ पैसे...! पिंडदान के लिए चावल...! लाल खरुवा...! गोदान के लिए...!" नीची निगाः किए वह बोली।

"बैठ-बैठ, भीतर बैठ...।" वह उसकी ओर देखना रहा।

मधुलि वैसी ही ठिठकी खडी रही जैसे बहरी हो। सुना ही न हो कुछ।

"भीतर बैठ न, आराम से। सामान अभी बांधे देता ह। बोल...क्या-क्या? लाल कपडा...चावल...।"

"अरं, घबरा न। भीतर बेठ न।" लाल कपडे का टुकडा उसने च र र... र .र ..चीरा।

जंग लगी मैली तराजू से चावल तुले फिर। तुले क्या, तुलने का बहाना हुआ। वैसे ही कंसी ने उसके सामने फैले आंचल मे फैला दिए। एक-आध अजुली ओर गेर दी ऊपर से ओर फिर मुस्कराते हुए देखा। पर मधुलि की निगाहें जमीन पर चिपकी थीं।

पैसे गिने। लाल खरुवे के टुकडे मे ऐठकर बाध दिए। कुछ ओर सामान जिसकी जरूरत थी, सब एक साथ बांधा ओर बंधी पोटली मधुलि की ओर लपकाने लगा।

मधुलि झुकी। झुकते ही उसके झीने आवरण से घिरे उरोजों की गोलाई साफ झलकी।

हाथ हौले से सामान थामने के लिए उसने बढ़ा ही थे कि कंसी ने लपककर उसकी बांहें थाम लीं। झटके से फिर अपनी ओर खींचा और कसकर जकड़ लिया।

"अरे! अरे! अरे!" वह चीखी।

आंचल पर बंधे चावल की हल्की गांठ खुल पड़ी। सारे चावल सहसा बर...

बर...बर...इधर-उधर बिखर गए।

"चुप...चुप...! हल्ला न कर!" वह एक हाथ से उसका मुंह बंद करने की कोशिश करने लगा।

पर मधुलि ने चीखते हुए झटके से गरदन एक ओर मोड़ ली। मुंह मोड़ लिया। देह मोड़ ली ऐंठकर, "खबीस...राकस!" सांपिन की तरह फुंफकारती हुई उसने पकड़ छुड़ाने के लिए पूरी ताकत लगाई। छटपटाई अनेक बार! लेकिन पकड़ खुलने के बदले और जकड़ गई। मधुलि का दम घुटने-सा लगा। सांस रुकने-सी लगी। आंखों पर धुंध-सी छाने लगी।

जब कुछ भी उसे सूझा नहीं तो उसने मरते-जीते कंसी की कलाई पर पैने दांतों की दड़क दे मारी। कंसी तिलमिला उठा। कुछ क्षण तक सहमा रहा। पर नसों के तारों पर पैने दांत गड़ने की असह्य पीड़ा के कारण कमर पर पड़ा बांहों का फंदा कुछ ढीला हुआ कि मधुलि के पत्थर काटने वाले, लकड़ी तोड़ने वाले, मरे हुए शिथिल हाथों में बिजली-सी छू गई। उसने दांत पीसते हुए झटका दिया। फिर झटका दिया। कलाई की पकड़ खुल गई। बचते-बचते भी कंसी धक्के से चाय की रीती पेटी पर जा टकराया औंधे मुंह।

तभी उछलकर चावल की बोरी, तेल के दो-तीन कनस्तर एक साथ लांघने की कोशिश की मधुलि ने। फटी धोती में पांव उलझ गया और वह धड़ाम से धरती पर जा लुढ़की। दरवाजे तक पहुंचते-पहुंचते माथा झनझना आया। आंखों के आगे जुगनू मंडराने लगे। लेकिन मरती-जीती, हांफती-कांपती, घुटना दबाती फिर किसी तरह कंसी के उठने से पहले उठ खड़ी हुई। चाय की भट्टी से जलती लकड़ी उठा ली। द्वार पर खड़ी होकर चिल्लाई, "अब आ तो! अब आगे बढ़ा तो मुख झुलस दूंगी...राकस...खबीस...! शरम नहीं आई तुझे! मुझे बेबस, वेसहारा, गरीब समझकर ही तूने...! क्या तेरी बहन, क्या तेरी मां...मुसीबत की मारी तेरे पास आती, तब भी ऐसा ही करता!" मधुलि ने तन पर टंगे तार-तार हुए चीथड़ों की ओर देखा तो उसकी डबडबाई आंखों पर आंसू नहीं, खून छलक आया इस बार।

उसके नथुने फड़क रहे थे। बाल बिखरे थे। जीर्ण-शीर्ण काली झीनी धोती छीना-झपटी में बुरी तरह फट चुकी थी। हवा में चीथड़े उड़ रहे थे, रह-रहकर। घुटने में चोट लगने से लहू बह रहा था, लेकिन उसे किसी चीज़ की खबर न थी। हांफती-कांपती वैसे ही वह बढ़ रही थी, बढ़ी चली जा रही थी। किधर? कहां? कुछ भी सुध-बुध न थी। उसका हृदय अभी तक धौंकनी की तरह धड़क रहा था। शरीर अभी भी कांप रहा था—थर-थर! बुझी आंखें अभी तक धधक रही

थीं—अंगारे की तरह।

बार-बार जी में आता—आत्महत्या कर ले। चट्टान से कूदकर, नदी में डूबकर मर जाए। दुनिया के सारे झंझट, सारे पाप कट जाएंगे। ऐसे राकसों के बीच भला कैसे जिन्दा रहेगी? कैसे बचेगी? कब तक बचेगी? जब सिर पर किसी का साया नहीं, सहारा नहीं। लेकिन बच्चों का क्या होगा? वह जैसे दौड़ती-दौड़ती एकाएक ठिठक पड़ी। वे अभागे, बिना कपाल के कहां-कहां भटकेंगे?

दुधमुंही रत्ती, दुधमुंही घंटी, दुधमुंहे ललिया के अबोध चित्र रह-रहकर पलकों पर तैरने लगे।

तभी एक धमाका-सा हुआ, पास ही चट्टान के फटने से। अचकचाती हुई वह खडी हो गई। होश आया तो देखा—सड़क बनाने वाले मजदूर छिछली चट्टानों पर जोक की तरह चिपके हैं। कमर पर मोटी-मोटी रस्सी बांधे झूल रहे हे—निराधार! सब्बल से खौंप-खौंपकर नई सुरंग बिछाने में मशगूल हैं।

'वह' भी तो ऐसे ही लगे रहते थे न! उसका हृदय भर आया।

वह फिर घर की ओर भागने लगी। तभी देखा—ओवरसियर साहब मजदूरों के साथ दूर सड़क पर खड़े थे। उसके मस्तिष्क में न जाने क्या कौंधा! वह फिर उसी दिशा में बावली-सी मुड़ गई।

पेंट पहने, टोप लगाए, हाथ में फीता लटकाए, मजदूरों के बीच साहब खडे हैं। मधुलि ने आशा से, रही-सही अंतिम आशा से, उधर देखा। साहब के बूटो पर माथा टिकाकर फूट पड़ी, "सरकार, माई-बाप! मेरे करम फूट गए!"

साहब झटके से पीछे हट गए, "क्या बात है? क्या है, जमादार?" आश्चर्य से बोले।

सभी चुप! एक-दूसरे का मुंह ताकते रहे।

"अरे, आखिर बात क्या है?" साहब ने झुझलाकर चारो ओर निगाहें फैलाईं।

"हुजूर, यह तुलस्या की बहू है।" जमादार ने साहस समेटकर दबी आवाज म कहा।

"तुलसा कौन?" होंठों पर अंगुली धरी साहब ने।

"वही हुजूर, वही, जो बारह-तेरह दिन पहले पिछले मोड़ की चट्टान पर सुरंग के साथ उड़ गया था, जिसकी लाश शिनाखत नहीं हो सकी थी, सरकार...!"

"ओ, दूर नीचे गोरी-गंगा में जिसकी लाश उतार लगी-सी लगती थी।" हुजूर ने दूरबीन से देखते हुए कहा था, "समझा-समझा! तुम्हारा मामला ऊपर भेज दिया है परसों।" साहब ने सिर खुजाते हुए कहा, "साल-छह महीने तो

रुको कम-से-कम। लाश शिनाख्त हुई समझी गई तो कुछ रुपया मुआवजे मे मिल ही जाएगा।''

''सरकार...सूरज छिपने को है...!'' वह अधीर हो रो पड़ी।

''घबराओ नहीं। घबराओ नहीं! जवाब आते ही जमादार तुमको इत्तला कर देगा। ऊपर से हुक्म आने तक तो रुकना ही पड़ेगा, हर हालत में।'' साहव ने अपनी असमर्थता प्रकट की।

''हुजूर...हुजूर...!'' मधुलि का रुदन और बढ़ आया।

मजदूरों ने उस नासमझ, गंवार, अधनंगी फूहड़ औरत को बाह पकडकर साहब के सामने से परे हटा दिया। ज्यों-ज्यो वे उसे हटाते, त्यों-त्यों वह और जोर-जोर से रोती-चिल्लाती! चीखती!

पागलों की तरह बाल बिखरे थे मधुलि के। शरीर पर टंगे चीथड़े हवा मे उड़ रहे थे। विकराल-भैरवी-सी बनी वह बेतहाशा घर की ओर भागी जा रही थी।

सूरज उझक-उझककर सामने की पहाड़ी से झांकता हुआ डूब रहा था।

सारे गांव में तरह-तरह की बातें हो रही थी। तरह-तरह की अफवाहे उड़ रही थीं। चर्चाएं छिड़ रही थीं—जली-भुनी। कुछ को दुःख था, रंज था वडा। लेकिन कुछ मुंह छिपा-छिपाकर हंस रहे थे। आपस में मिरच-मसाले लगाकर बाते कर रहे थे।

''अरे, अंधेर हो गया! अंधेर! कैसी कलजुगी ओरत हे। डाइन ने जो-तिल भी नहीं वहाए। पिंडदान तो दूर रहा।''

''तुझे पता नहीं, हरपतिया! तू नहीं जानता तिरिया चरित। कहते हे डकन न अपने आप फूंक मारकर दीया बुझा दिया था। कुलच्छना किसी के साथ लगी होगी। फिर क्यों बहाने लगी कुश-तिल!''

मधुलि ने लड़खड़ाते कदम देहरी पर धरे ही थे कि देखा—सारे वामन सराप देने हुए जा चुके हैं। शायद जिंदों का ही श्राद्ध कर गए हों तो बडी बात नहीं। हित-मित्र, घर-वाहर के सव चले गए है। एकाध वामन कोने मे खडे, धोती कन्धे पर झपकाए, पोटली वगल में दुबकाए चलने को तैयार हैं—भूखे, प्यासे खीझे। ठहाका मारकर हंस रहे हैं, ''अरे, क्या देर लगनी है। कौन जानता है इसी कुलच्छना के दुःख से दुःखी होकर तुलस्या ने आत्महत्या कर डाली हो। किसका पिंड देना, किसका तरपन! मुंह छिपाकर न जाने किसके साथ भाग गई। निठोर, बच्चों का तो खयाल करती। दो-चार दिन तो रुकती। इतना भी धीरज नहीं। वेशरम! वेहया! छिनाल।''

मधुलि ने कानों पर हथेली रख ली। आंखें मींच लीं, धड़ाम से घर में घुसते ही किवाड़ बंद किए और भीतर से कुंडी चढ़ा ली।

न जाने कब तक वह अंधेरी कोठरी में पड़ी रही, सुबकती। सारी बस्ती, सारा गाव, सारा संसार जब सो गया तो उसने अंधियारे में डरते-डरते फाटक खोले। बच्चो का हाथ थामे नदी की ओर चल पड़ी।

काली अमावस-सी रात घिर आई थी। सांय-सांय कर बर्फीली ठंडी हवा शरीर को छीलती हुई तेजी से सनसना रही थी। घरघराती गोरी-गंगा नागिन की तरह झाग उगलती, फनफनाती, मनमनाती भागी जा रही थी—खड़िया की सफेद चट्टाना पर उछलती-उमड़ती। उसक श्मशान-से डरावने तट पर मधुलि खड़ी थी। अपनी नन्ही-नन्ही अजुलि में पानी भरे तीन अनाथ, अबोध नगे बच्चे खड़े थे। मृख तिनक की तरह जाड़े से कापते हुए—आखें मींचे डूबे सूरज को जलधार चढा रह थे। तरपन कर रहे थे। माटी का पिडदान दे रहे थे। माटी की गऊ की पूछ थामे गोदान कर रहे थे।

"हे गगामाई, तू ही देखना! तू ही विचार करना। ओ अनंत...ओ अनतरजामी..! तू ही...तू ही-ई...ई...!" मधुलि ने अपने कापते हाथ जोडते हुए माटी की गया के माटी के खुर पर माथा टिका दिया।



समुद्र और सूर्य के बीच

उसे सपना आया—कल रात एकाएक सरकार उलट जाने से, सत्ता कुछ नए अजनबी लोगों के हाथ में चली गई है। पुराने मंत्रिमंडल के विरुद्ध भ्रष्टाचार के संगीन मामले सैनिक न्यायालय को सौंप दिए गए हैं। देश के सारे भ्रष्टाचारियों को मृत्युदंड मिलेगा—आकाशवाणी से नई क्रांतिकारी परिषद् ने घोषित कर दिया है...।

उसने देखा—उसके पांवों में बेड़ियां और हाथों पर भारी-भारी हथकड़ियां झूल रही हैं। कनॉट-प्लेस के भरे बाजार से, दिन-दहाड़े जुलूस की शक्ल में उसे लालकिले की तरफ पैदल घसीटकर ले जाया जा रहा है। उसका गरदन पर झुका हुआ सिर धरती में धंस रहा है। पसीने से वह भीगा है। मुंह से तमाम झाग निकल रहा है। अपने चेहरे पर खादी का एक सफेद रूमाल उसने चारों ओर कसकर लपेट रखा है, ताकि कोई उसे पहचान न सके। केवल दो खोखली, निष्प्राण आंखें बाहर की ओर झांकती दिखलाई दे रही हैं। सड़क के आर-पार असंख्य निगाहें वितृष्णा से, घृणा से, उसकी ओर घूर रही हैं। परन्तु उसे अब कुछ भी दिखलाई नहीं देता। सामने जहां तक दृष्टि जाती है, कुहासा-ही-कुहासा रेत के सैलाब की तरह फैला है।

उसे कहीं घुटन-सी महसूस हुई। लगा कि सांस अब रुकने ही वाली है! एकाएक उसके हाथ-पांव छटपटाए। वह जागा, तो उसका हृदय धौंकनी की तरह धड़क रहा था। वह पसीने से बुरी तरह नहाया हुआ था। उसका बूढ़ा जर्जर गात सूखे पत्ते की तरह कांप रहा था। अपने सत्तर साल के लंबे संघर्षमय जीवन में, उसे ऐसा भयंकर सपना कभी नहीं आया, जिसने उसका रोम-रोम कंपा डाला था!

तभी पास ही टेबुल पर रखे फोन की घंटी घनघनाई। उचककर हड़बड़ाता हुआ सचेत हुआ। मरता-जीता किसी तरह सारी शक्ति समेटकर रिसीवर की ओर लपका। "ह-अ-ह-ल" उसके मुंह से पूरी आवाज न निकल सकी। उसकी सूखी जीभ तालू पर बुरी तरह चिपक गई थी।

उसने प्रत्युत्तर में खड़ाक से रिसीवर पटक दिया। और वहीं फर्श पर वैसा ही बैठ गया। उसके पांवों में अब इतनी शक्ति शेष न थी कि वह खड़ा रह सके। जिस्म की सारी ताकत जैसे गीले तौलिए की तरह निचुड़कर समाप्त हो गई हो।

कुछ क्षण सुस्ताने के बाद वह फिर शक्ति समेटकर, पलंग के पांव का सहारा लेकर उठा। तिपाई पर रखे शीशे के जार से पानी उड़ेलकर पिया। उसे कुछ राहत-सी मिली . वह बिस्तर पर मुर्दे की तरह निढाल गिर पड़ा।

आंखों में अब नींद न थी। पलकें छत पर लगे बुझे दूधिया रॉड पर, मरी हुई मक्खी की तरह चिपक गई थीं।

ऐसा भयावना सपना कभी नहीं आया था। फिर आज? क्या सचमुच कुछ अनहोनी होने वाली है! देश की स्थिति देखते हुए, कुछ भी असंभव नहीं लगता। कभी कुछ भी हो सकता है!

वह सोचता रहा—कल रात सोते समय वह इराक की क्रांति के विषय में सोच रहा था। शायद उसी का कुछ भ्रम हो। रेडियो से भी तो अफ्रीका के किसी देश में ऐसे ही परिवर्तन की खबर थी। ऐसी ही अराजकता अनिश्चित काल तक बनी रही तो आगे क्या होगा? वह बारूद एक-न-एक दिन फटने वाला है। नहींऽ...नहींऽऽ!

उसने झटके से गरदन हिलायी—ऐसा कभी भी नहीं होगा। अब उम्र ही ऐसी कौन-सी बची है! जो दिन बीत जाए, बहुत है।

सारी रात इसी तरह असहाय पड़ा-पड़ा पता नहीं क्या-क्या सोचता रहा!

सुबह एक झपकी-सी फिर लगी। कुछ आराम भी मिला। पर नौकर ने बेड-टी के लिए जगाया, तो वह बिना उसकी सहायता के हिल न सका।

चाय की प्याली थामने के लिए जब उसने अपना कांपता हुआ बूढ़ा हाथ आगे बढ़ाया तो उसकी आंखें खुली-की-खुली रह गई! उसकी कलाई में गहरे सांचे पड़े थे—जैसे वर्षों से बंधी हथकड़ियां अभी-अभी खुली हों—ऐसे ही उभरे हुए और भी कई नीले निशान!

नौकर आज के ताजा समाचार-पत्रों का ढेर रखकर चला गया। पर वह खोलकर देख न सका। विस्फारित नेत्रों से सामने टंगे चित्र की ओर देखता रहा।

उसे लगा, चित्र में से आकृति चली गई है और अब केवल काला चौखटा शेष रह गया है और चौखटे का रंग भी धीरे-धीरे धूमिल पड़ता चला जा रहा है!

निगाहें मूंद लीं उसने।

आज के पूर्व-निर्धारित सारे कार्यक्रम रद्द हो गए। एक के बाद एक, दिन-भर डॉक्टर और मित्र आते रहे।

कुछ दिनों की परिचर्या के पश्चात् स्वास्थ्य कुछ संभला। नियमित दैनिक कार्य फिर शुरू हुए। पर अब एक नई मानसिक व्याधि ने घेर लिया था। अब हर क्षण, वह अपने गत जीवन के विषय में ही सोचता रहता। ज्यों-ज्यों वह उनसे डरकर भागता, त्यों-त्यों उनका प्रतिबिंब और भयावना होकर सामने उभरने लगता।

लगभग आधी शताब्दी पहले कॉलेज की पढ़ाई छोड़कर वह 'नमक सत्याग्रह' में जेल गया था। मां गुजर गई थी। पिता को मरे बहुत साल हो गए थे। छोटा भाई मामा के घर पर रहकर पढ़ रहा था...।

'देश-सेवा एक तप है। जब तक सबको पहनने के लिए पूरे कपड़े नहीं मिलेंगे, मैं पूरे कपड़े नहीं पहनूंगा। जब तक सबको रहने के लिए मकान की व्यवस्था नहीं होगी, मैं मकान में नहीं रहूंगा। मैं वही खाना खाऊंगा, जो मेरे देश का आम आदमी खाता है।' उसे लगा था, यह गांधी ने नहीं, उसने कहा था। केवल उसी ने।

पर नहीं, यह सच नहीं, सपना था। यहां कभी भी सत्याग्रह नहीं हुआ। गांधी नाम का कोई आदमी कभी भी इस मुल्क में पैदा नहीं हुआ। ये सब लोग विक्षिप्त हैं, जो बात-बात में उसका नाम लेते हैं। रॉबिन्सन क्रूसो की तरह, हमने किसी द्वीप में, एक अज्ञात नायक की कल्पना कर ली थी और...।

कुछ दिन पश्चात् उसने फिर एक सपना देखा—

वह चलता-चलता मिंटोब्रिज पार कर, अब लालकिले के मैदान तक पहुंच चुका है। उसके पांव बहुत थक गए हैं। अच्छी तरह उससे अब चला तक नहीं जा रहा है।

इस वक्त यहां कनॉट-प्लेस की जैसी भीड़ नहीं है। एक भी आदमी दिखाई नहीं देता। चारों ओर रात का-सा अंधेरा है—एक भयानक सन्नाटा। अपनी हथकड़ी की रस्सी, स्वयं अपने हाथ में थामे वह अकेला चल रहा है। कोई भी पुलिस का आदमी उसके साथ नहीं है।

वह किले के प्रवेशद्वार पर पहुंचा। उसने देखा, जिस आदमी ने फाटक

खोला, वह हू-ब-हू उसी की शक्ल का है! ठीक वैसा ही कद, वैसा ही रंग, वैसे ही वस्त्र! कहीं कोई अन्तर नहीं! जैसे शीशे में अपना ही प्रतिबिंब देख रहा हो!

भीतर ड्योढ़ी पर खड़े सन्तरी भी उसे अपनी ही प्रतिमूर्ति लगे।

वह एक सैनिक न्यायालय के सामने हाथ बाधे खड़ा था अब। उसका जर्जर शरीर कांप रहा था।

—देशद्रोह से बड़ा कोई गुनाह और भी होता है?

उसने सिर हिलाया—नही।

—तुमने गुनाह किए है?

—हा।

—आखिर इतना रुपया भ्रष्टाचार मे बटोरकर तुम क्या करोगे? तुमने क्या सोचा था?

वह चुप रहा।

—बीस करोड रुपए की लागत से, पाच साल की मेहनत के बाद बना सप्तपर्णा नदी का बाध पहली ही बरसात में टूटकर बह गया! सीमेंट के बदले रेत डलवाकर तुमने चार लाख की बचत की थी न।

—जी हा।

—बांध टूटने से कितने गांव बहे थे? कुल कितने लोग मरे?

वह चुप रहा।

—अनाज की कीमते बढ़वाकर, तुमने पेतालीस लाख रुपए एक रात में इकट्ठे किए थे न?

—जी हा!

—राजस्थान और बिहार के अकाल में कुल कितने लोग भूख से मरे थे? कितने बीमार बच्चों की मृत्यु सिर्फ इसलिए हुई कि उनके इलाज की व्यवस्था न हो सकी। दवा न थी, दवा खरीदने के लिए पैसे न थे...।

—इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि क्षेत्रीयता और जातिवाद की आड़ में समय-समय पर जो हिंसात्मक तोड़-फोड़ की कार्रवाइयां हुई थीं, उनमें अप्रत्यक्ष रूप से तुम्हारा भी हाथ था। जोड़-तोड़ की इन्हीं प्रवृत्तियों के बलबूते पर तुम पिछले बीस साल से शासन-तन्त्र पर जोंक की तरह चिपके रहे और तुमने सारी व्यवस्था खोखली कर दी...।

—अपने निहित स्वार्थों के लिए तुमने राष्ट्र की प्रगति दांव पर लगाई। एक वर्ग, समाज या राज्य की नहीं—तुमने उभरते हुए एक मासूम देश की

दिन-दहाड़े हत्या की। देखो, देखोऽ! देखोऽ! तुम्हारे हाथ अब तक गरम लहू से सने हैं! देखोऽ...।

उसने अपने दोनों बंधे हुए हाथों की ओर देखा, जो सचमुच रक्त से सने हुए थे—लाल!

वह चीख पड़ा।

उसकी चीख सुनते ही घर-भर के लोग सहसा जाग पड़े। लोगों ने देखा—उसका शरीर एकदम ठंडा है, तिनके की तरह कांप रहा है।

तीसरे दिन उसे होश आया। पानी पीने के लिए उसने हाथ का इशारा किया, तो देखा—उसकी दोनों हथेलियों और उंगलियों पर गीला लाल वार्निश-सा चिपका हुआ है।

हजार बार उसने हाथ धोए, पर वह लाल रंग उतर न पाया।

उसके बाद, उसने हाथ ढंकने के लिए दस्तानों का इस्तेमाल शुरू कर दिया।

कुछ महीने अस्पताल में रहकर वह पुनः स्वस्थ हुआ, घर आया। घर आकर एक दिन उसने देखा, नौकर कह रहा है—कोठी के पिछवाड़े उसे एक बेड़ी और हथकड़ी पड़ी हुई मिलीं। उनके पास ही खादी का एक सफेद रूमाल-सा था, जिसमें सिलवटें पड़ी थीं।

वह अवाक् सुनता रहा। उससे कुछ भी कहा न गया।

बाहर गेट पर संगीनधारी संतरी का चेहरा उसे हू-ब-हू उससे मिलता लगा, जो लालकिले की सैनिक अदालत में मुख्य न्यायाधीश की कुर्सी पर रौब से बैठा था और उससे एक के बाद एक भयावने प्रश्न पूछता चला जा रहा था।

एक दिन उसने संतरी को बुलाकर कहा—तुम कभी लालकिला भी गए हो?

—जी, सरकार!—उसने उत्तर दिया।

—कब?

—यही कोई पंचेक साल पहले...।

—किस काम से!

—मेरी ड्यूटी लगी थी, हुजूरऽ...!

—फिर तो नहीं गए न?

—जीऽई नहीं, स-र-का-र!

—तुमने इधर कोई सपना देखा है, जिसमें तुम्हारी तरक्की हुई हो?

उसकी समझ में नहीं आया कि बड़े सरकार आज यह कैसी बातें कर

रहे हैं! फिर भी कुछ तो उत्तर देना ही था। हकलाता हुआ वह बोला—बस्स! अपनी बच्ची देखी माई-बाप! जिसे गुजरे दो-तीन साल हो गए।

—और कुछ तो कहीं!

—जी नहीं, सरकार...!

वह चला गया।

पर वह सोचता रहा—उसे ऐसे सपने क्यों आते हैं? एक दिन सहसा क्या सचमुच तंत्र बदल जाएगा! और गत जीवन की सारी भूलें उभरकर सामने आ जाएंगी! उम्र-भर की संजोई प्रतिष्ठा यों धूल में मिल जाएगी! भगवान न करे, अगर कहीं सचमुच ऐसा...।

उसका शरीर सिकुड़ने लगा...और वह रीते आकाश की ओर काठ की तरह निर्निमेष ताकता रहा।

कुछ दिन बाद वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के दौरे पर गया, जहां बाढ़ आई हुई थी। एक बांध टूट गया था, जिसमें कई आदमी, ढोर-डंगर, मकान, खेत-खलिहान बह गए थे। निराश्रित, गृह-विहीन लोगों की भीड़ लगी थी।

उस भीड़ में से गुजरते हुए उसे जूठी पत्तल चाटती हुई एक वृद्धा दिखलाई दी, जिसका चेहरा उसकी बूढ़ी दिवगत मा से इतना मिलता-जुलता था कि वह होंठों पर अंगुली रखकर, क्षण-भर के लिए धक् से ठिठक पड़ा!

दलदली कच्ची सड़क पर कार-दुर्घटना में एक नवासी साल का बूढा कुचलकर मर गया। उसने देखा, लगोट पहने, लाठी लिए, रक्त से नहाया जमीन पर कुचले हुए केंचुए की तरह छटपटाता हुआ वह आदमी, उस आदमी से शत-प्रतिशत मिलता हे, सुनहरे फ्रेम में जड़ित जिसका चित्र उसके ड्राइंग-रूम मे आज भी टगा है!

उसे नींद न आने की बीमारी हो गई। उसकी पलकें दिन-रात खुली रहतीं...

परन्तु उस रात, मुद्दतो बाद उसे फिर नींद आ गई। उसने इस बार फिर एक सपना देखा--

न्यायालय उसी तरह खचाखच भरा हुआ है। कहीं तिल धरने को भी ठौर नहीं। लाखों लोग टिड्डियों की तरह टूटे पड़ रहे हैं। देश-विदेश के संवाददताओं की भीड़ लगी है...

आज अंतिम निर्णय होने वाला है।

सामने एक चील मंडराई। काला पर्दा-सा हटा। उसने देखा, मुख्य न्यायाधीश (जिसका चेहरा उसके संतरी से मिलता-जुलता लगता है) अपना फैसला सुना

रहा है।

—अदालत पूरी जांच-पड़ताल के पश्चात इस निर्णय पर पहुंची है कि अपने चालीस साल के सक्रिय राजनीतिक जीवन में, जन-सेवा के नाम पर तुमने सवा तीन करोड़ रुपए एकत्रित किए हैं। भ्रष्टाचार फैलाने में तुम्हारी दुहरी नीतियां फलप्रद रही हैं। अपने निहित तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए तुमने जातीयता एवं क्षेत्रीयता को इस कदर बढ़ावा दिया कि देश पुनः विभाजन की स्थिति तक आ पहुंचा है। देश को गृह-युद्ध की-सी इस भयावह अराजक स्थिति में ला खड़ा करने का दायित्व तुम पर है...।

उसका पोला मुंह खुल पड़ा...।

न्यायाधीश अपना निर्णय उसी गति से पढ़ता रहा—

—अदालत इस नतीजे पर पहुंची है कि तुम्हें जितनी भी सजा दी जाए, कम है, फिर भी...तुम्हारे चेहरे पर कालिख लगाकर तुम्हे देश के कोने-कोने मे भेजा जाए, ताकि देशवासी (जिनके विश्वास की तुमने हत्या की है), तुम्हे देखकर, तुम पर हस सकें। लोगों की इतनी भर्त्सना और उपहास के पश्चात् भी तुम मर न सके, जिदा रहे...तो तुम्हे चादनी चौक के भरे बाजार में सरेआम फासी की सजा दी जाए ओर...।

निर्णय पूरा सुनने से पहले ही वह न्यायालय के फर्श पर अचेत होकर गिर पड़ता है।

सुबह लोगों ने देखा—वह बिस्तर पर मरा पड़ा है। उसके गले में रस्सी के जैसे ताजे निशान पडे हैं—उभरे हुए नीले-नीले डोरे। और चेहरा एकदम स्याह। जैसे कालिख पुत गई हो।



अन्तराल

जमीन पहले से कुछ अधिक कट गई है। जंगल रूठकर दूर चले गए है। पुराने मकानों की जगह सेब के नये पेड उग आए हैं। कई वृक्ष अब बड़े-बड़े मकानों में बदल गए हैं...।

अपनी आंखों पर मुझे विश्वास नहीं हो पा रहा- जिन कच्ची, छिछली सड़कों पर पहले घोडे तक नहीं चढ पाते थे, अब उन्हीं पर बडी-बड़ी मोटर-गाड़ियां दोड़ रही है...।

कहते हैं—पासी पण्डत गत वर्ष गुजर गए। मरते समय उनकी अवस्था एक सौ चालीस साल की थी...।

बचपन में जिस पाठशाला में कभी हम पढ़ते थे—आज उसे देखने गया तो वहां गेहूं के पौधे लहलहा रहे थे। टूटी हुई इमारत के पत्थरों को बटोरकर किसी दूरदर्शी अनुभवी आदमी ने देसी-दारू की दुकान खोल ली थी...।

इस सारे कस्बे में पहले कुल मिलाकर सात-आठ दुकानें थीं--डाकखाना और पाठशाला की अलग-अलग इमारतें। पर अब देखता हूं--सारा-का-सारा नक्शा बदल गया है...।

कस्बे के बीच एक तिमंजिला मकान तनकर खड़ा हो गया है—सीमेंट और लोहे की छड़ों वाला—सफेद। ऐसे मकान यहां सब जगह नहीं, बल्कि कहीं-कही दिखलाई देते हैं, विशेषतः बड़े कस्बों में। लोग कहते हैं।—यह मकान आन्देव का है...!

आन्देव कभी गाएं चराता था। तम्बाकू भरता था। पिताजी के साथ घोड़े खरीदने भोट-तिब्बत जाता था। बाद में कहते हैं—उसने चाय का खोखा खोला था। फेरी लगाकर कालि-पार (नेपाल) कपडा बेचता था और लगे हाथ 'काली-बूटी'

का काला-व्यापार आरम्भ कर दिया था। काली-बूटी ने बहुत से बड़े-बड़े गुल खिलाए। फिर बेचारे आन्देव के लिए भी वह फलीभूत हो गई, तो इसमें आश्चर्य क्या!

कल मैं परम'का के घर गया था। दूसरे विश्वयुद्ध में उन्होंने इटली के मोर्चे पर 'विक्टोरिया-क्रॉस' जीता था। बड़े ही मिलनसार। खुशमिज़ाज़। उन्हीं के प्रोत्साहन पर मैं इतना पढ़ पाया था...।

देवदार के वृक्षों से घिरे उनके आंगन में पहुंचकर, उन्हें पुकारने लगा तो पास-पड़ोस की बहुत-सी खिड़कियां सहसा खुल गईं। कुछ लोग घर से बाहर निकलकर विस्मय से मेरा मुंह ताकने लगे। एक अधेड़-सी औरत, पत्थर की चौड़ी सीढ़ियां टटोलती मेरे पास आई और सुरकने वाले कपड़े के बन्द बटुवे-सा मुंह खोलती हुई बोली, "क्या हो गया है तुम्हें?"

मैं हैरत में! इसमें 'क्या' होने की कौन-सी बात है!

"परम'का का घर यही है न!"

"हां! हां!।" दूसरी ओर से झुंझलाई आवाज आई।

"वे घर पर हैं? मुझे मिलना है...।"

"अरे, तुम यह क्या कह रहे हो?" औरत चीख-सी पडी, "कौन हो तुम? क्या किसी नई जगह से आए हो? अरे, उन्हें मरे तो अब पन्द्रह साल से भी ऊपर हो गए हैं...!"

हतप्रभ-सा मैं देखता रहा, जैसे किसी ने मुझे हवा में उछालकर, औंधे मुंह धरती पर पटक दिया हो!

मैंने प्रत्युत्तर में क्या कहा, अब याद नहीं। हां, मैं बड़ा परेशान-सा लौट आया था। चौबटिया के पास पहुंचकर मैंने किसी राह चलती वृद्धा से, अंगुली से पीछे को इशारा करते हुए पूछा था, "वोऽ, जो अपने आंगन की मेड़ पर खड़ी है—वोऽ अधेड़-सी ओरत कौन है?"

तरस खाकर उसने देखा, "च्चऽ! तुम नहीं जानते?" उसके शब्दों में उपेक्षा का-सा भाव था, "परमा थे न पहले! लाम वाले! उनकी छोटी लड़की है—तुलि! जब से विधवा हुई यहीं रहती है।"

वह चली गई। मेरे सिर के भीतर, आर-पार पारे की ठंडी लकीर की तरह तैरता कुछ निकल जाता है। हां, जिस साल मैं पढ़ने के लिए अल्मोड़ा गया था, उसी साल परम'का की किसी एक लड़की के विवाह की बात चल तो रही थी...।

उस फूल-सी कोमल, दूधिया लड़की की, इस 'रूप' में मैं कल्पना तक

करने को तैयार न था। अतः सोच लेता हूं—वह कोई और होगी।

जिस दिन शाम घर पहुंचा था—एक बूढ़ा व्यक्ति हमारे आंगन की मेड़ पर बैठा नारियल गुड़गुड़ा रहा था। भोट के ऊनी पट्ट का वैसा ही लम्बा कोट था, वैसा ही ढीला चूड़ीदार पाजामा, वैसी ही सफेद घनी मूंछें—ठीक वैसी ही—जैसी पिताजी की हुआ करती थीं।

क्षण-भर के लिए हवा थम गई, धरती रुक गई। ठिठककर मैं सोचने लगा—कहीं पिताजी ही तो नहीं।

दूसरे ही क्षण भ्रम तार-तार बिखर जाता है। पिताजी का देहान्त तो मेरी आंखों के सामने हुआ था। श्मशान से जब लौटे तो खूब बारिश हुई थी। ठुल'दा के साथ-साथ मैंने भी सिर मुंडवाया था। उस भयंकर सर्दी में, हमने लगातार दस-बारह दिन तक, नदी के बर्फीले पानी में ठिठुरते हुए नहाया था...।

"किसे ढूंढ रहे हो, भ-ईऽ?" मुझे कोई बटोही समझकर, सामने से बिखरी हुई आवाज आती है।

आवाज सुनते ही मेरे सारे शरीर में बिजली की-सी लहर दोड़ जाती हे। मुझे पहचान पाने में फिर समय नहीं लगता।

लपककर में चरण छूने लगता हूं तो वे पीछे हट जाते हैं, "मैंने पहचाना नही। आंखें कम...देखता...हूं...ऽ!"

"अरे, मैं तुला हूं—ठुल'दा!"

"तु-ला...!" अविश्वास से वह मेरी ओर देखते हैं, टटोलने की दृष्टि से—"कोन, तू-हमारा तुला हे...!" वह विस्फारित नेत्रों से देखते हैं ओर फिर बच्चों की तरह लिपट पड़ते है। उनकी भूरी आंखो से खुशी के आसू छलक पड़ते हैं।

बहुत देर तक उन्हें सच नही लगता कि में तुला हूं। जीवित हूं। उनके सामने खड़ा हूं।

एक छोटा-सा बच्चा भागता हुआ भीतर जाता है और मेरे बैठने के लिए फटा काला कम्बल लाता है।

"इत्ता अर्सा हो गया—पूरा एक जुग! पर तूने कभी कुसल-पत्तर तक नहीं... ।" बड़े भैया भाव-विह्वल होकर कहते हैं।

"अम्मा ने मरते समय तक तेरे ही नाम की रट लगा रखी थी। मृत्यु-शैया पर पड़ी—उनकी आंखें दरवाजे पर टिकी रहीं। जो कोई आता, उसी का हाथ झकझोरती हुई पूछतीं—'तूने हमारा तुला तो नहीं देखा...'।"

"लोग कहते थे कि तू मर...!" ठुल'दा का गला भर आता है।

इस ठंड में मात्र फटी कमीज़ टांगे एक बच्चा, हुक्के में तम्बाकू भरकर लाता है—बहती नाक से सुलगते कोयलों के ऊपर फूं-फूं करता हुआ।

अंधेरा कुछ बढ़ गया है। घरों में दीए जलने लगे हैं। लोग खेतों से उठकर, घरों की ओर आ रहे हैं।

सामने बटिया से एक अधेड़ औरत गुजरती है। एक हाथ से बछिया के गले में बंधी रस्सी, दूसरे से सिर पर धरा हरी घास का भारी गट्ठर थामे। इस उम्र में भी इतना लम्बा घूंघट!

ठुल'दा सामने निगाह पड़ते ही, उसी विह्वल स्वर में चहक पड़ते हैं—"हं, ओ नन्दा की इजा! तू पहचान रही है? अरे, हमारा तुला आ गया है!...देख, मैं कहता था न कि वह जरूर जिन्दा होगा...!"

भाभी के पांवों की ओर झुकता हूं तो वे सकपका-सी जाती हैं।

उनके सिर के आधे से भी अधिक बाल सन की तरह सफेद हो आए हैं। चेहरे पर अनगिनत झुर्रियां, काली-काली झाइयां, अधफटे मैले कपड़े। कभी वह कितनी सुन्दर थीं!

भीतर सिगड़ी पर आग सुलगने पर, हम सब जने उठते हैं। भैया पास-पड़ोस में गुड़ बांटते हैं कि उनका तुला जिन्दा है। बीस वर्ष बाद घर आया है।

एक कोने में आग का पीला-पीला प्रकाश! किसी एक कोने में, कहीं देवताओं के पास, एक छोटा-सा टिमटिमाता दीया। शेष सब जगह अंधेरा, बाढ़ के ठंडे पानी की तरह फैला।

जब तक पिताजी जीवित थे, इस घर में कैसी रौनक लगी रहती थी। पेशकार, अमीन सब हमारे ही घर ठहरते थे। दिन-रात मेला लगा रहता था...।

"गंगा घर का काम संभालेगा। तुला पढ़-लिखकर पटवारी बनेगा।" पिताजी अक्सर अम्मा से कहा करते थे, "जिसके दो लड़के खाने-कमाने वाले हो गए, उसे और क्या चाहिए! तू बड़ी भागवान है—गंगा की ईजा, बैठी-बैठी राज रचेगी।"

सामने रस्सी पर झूलते चीथड़े और पीली मिट्टी से पुती टूटी दीवारों की ओर देखने मात्र से समझता हूं—अम्मा ने कैसा राज रचाया होगा!

जिस साल मैं घर से भागा था—अम्मा जीवित थीं। और पहली पत्नी गुजर जाने के बाद, ठुल'दा की दूसरी शादी हुई थी।

टहलता-टहलता गौशाला वाले घर की ओर बढ़ता हूं। पता चलता है—वह घर अब हमारा नहीं है, किसी और ने खरीद लिया है। नीचे गोठ में किसी की गायें हैं—जहां कभी हमारे भोटिया घोड़े बंधे रहते थे!

रात को भोजन के बाद, हाथ धोने के लिए, सीढ़ियों की बगल में, पाटी की ओर पांव बढ़ा ही रहा था कि औंधे मुंह नीचे गिर पड़ा।

ठुल'दा चीड़ का चलता हुआ छिलका उठाए बाहर की ओर लपके—"अर-र्-र्, कैसे गिर पड़ा, तुला?"

मैं उन्हें कैसे समझाता कि पहले यहां कभी हाथ-मुंह धोने और धूप तापने के लिए चीड़ के तख्तों की चौड़ी पाटी होती थी। मुझे क्या पता था कि अव वह नहीं है!

पिछवाड़े की ओर दो दरवाजे थे, जो अब दीवारों में बदल गए हैं। आंगन पहले इतना छोटा नहीं था, न इतनी सीढ़ियां ही!

मैं तार'दा के घर जाता हूं। पता चलता है कि उन्हें गांव छोड़े अब आठ साल हो गए हैं। उन्होंने तराई-भावर में अपना 'फारम' बना लिया है। सब वहीं रहते हैं। यहां केवल उनकी बूढ़ी मा हैं—घर की रखवाली के लिए।

कहते हैं—गांव में पीने के पानी की समस्या हल हो गई है। नया नौला बन गया है। उसी के पास जंगल से लीसा ढोने की नई सड़क। मैं भाभी से पूछता हूं, "हमारे आंगन के किनारे एक कागज़ी अखरोट का पेड़ था न!"

भाभी की समझ में नहीं आता कि मैं यह क्या कह रहा हूं, "यहां तो अखरोट का पेड़ कभी नहीं था...!" वह बुदबुदाती हैं।

"सबसे बड़ा नन्दा है" ठुल'दा बतलाते हैं, "खेतीखान के हाईस्कूल में पढ़ता है। उससे छोटी—लछमी, ब्याह के बरस ही गुजर मई थी। चना घर का काम देखता है...।"

मैं देखता हूं—सबसे छोटा ठुल'दा की गोद में सो रहा है। उससे बड़ा, अपने भाई की मात्र फटी कमीज पहने, दरवाजा पकड़े, सहमा-सहमा-सा मेरी ओर देख रहा है।

भैया कहते हैं, "अम्मा और बुआ का देहान्त एक ही साल हुआ था। बुआ केवल एक दिन बीमार रहीं। किसी के हाथ का भरा पानी तक नहीं पिया। ...हमारा नन्दा उसके दूसरे साल पैदा हुआ था...!"

छोटी बहन माधवी के विषय में पूछता हूं तो भैया मेरा मुंह ताकते हैं। बतलाते हैं—"हरकिशन मामा भी अब नहीं रहे।...विपिन के पिताजी गुजर गए! .जिनुवा दर्जी ने जोग ले लिया।...मरने के लिए हरिद्वार चला गया था।...ठाकुर के तीनों लड़के कच्छ के रन में मारे गए।...रामजी अपनी जमीन मरते समय स्कूल के नाम कर गया था। रूपदेव टी.बी. से मरा था। उसका छोटा भाई विक्रम

पानी में डूबकर!...हरिबल्लभ की कोई आस-औलाद नहीं रही। अब वह अपने भतीजे के पास चला गया है। कहते हैं—वह पागल हो गया है।"

मुझे आश्चर्य होता है कि एक साथ ये सब लोग कहां चले गए हैं? मेरे जाने से पहले के प्रायः सभी बूढ़े मर-खप गए हैं। बहुत से अधेड़ लाठी का सहारा लेकर, रुक-रुककर चलते हैं। शीशे के गिलास के पैंदे से भी मोटा शीशा पहनते हैं। जिन्हें मैं हट्टा-कट्टा जवान छोड़ गया था—उनकी मूंछों तक के बाल सफेद हो आए हैं। जो अब जवान, बाल-बच्चे वाले दीख रहे हैं—वे तब शायद पैदा भी नहीं हुए थे!

बहुत से लोग—नाते-रिश्ते वाले मिलने आते हैं, उनमें से शायद ही किसी को मैं पहचान पाता हूं!

सुबह बिस्तर से उठ ही रहा था कि झबरैली दाढ़ी वाला, एक जवान लड़का, खाकी निकर पहने, मुझे झुककर नमस्कार करता है। कहता है, "ताऊजी, आपको पिताजी ने याद किया है।"

मैं असमंजस में पड़ूं, इससे पहले ठुल'दा मेरी विवशता ताड़ जाते हैं। कहते हैं, "हमारे कृपाल'दा हैं न! छोटे चाचाजी के घर में—उनका बड़ा लड़का है महेश। बी.ए. पास करके अब यहीं मास्टरी कर रहा है...।"

बी.ए. पास करके मास्टरी करने वाला लड़का, मुझ अजनबी को एक नए घर में ले जाता है। देहरी के भीतर घुसते ही ढेर सारे बच्चे टिड्डियों की तरह घेर लेते हैं।

लम्बा, लाल घूंघट काढ़े एक नव-विवाहिता मेरे पांवों की ओर झुककर प्रणाम करने लगती हे तो कृपाल'दा कहते हैं, "अरे तुला, तू इसे नहीं पहचान रहा है? यह हमारे किशन की बहू है। इसी फागुन में तो शादी हुई है। तेरी भाभी की तन्दुरुस्ती अब ऐसी ही रहती है यार! तेरी तरह खिला परदेस में ही रहने का आदी हो गया हे। बरेली में है। कभी उसे चिट्ठी भेजना! परदेस में अपनो का बड़ा सहारा रहता हे..."

कृपाल'दा यह क्या कह रहे हैं? किशन कौन है? खिला कौन? मेरी समझ से सब परे की बातें हैं। मुझे सूझता नहीं, मैं कहां आ गया हूं? कस्बे के नाम के अलावा अब पुराना कुछ भी तो नहीं, जिसे परिचित कह सकूं!

मैं सोचता था—सहसा मुझे सामने खड़ा देखकर अम्मा कितनी खुश होगी! बुआ बार-बार मुंह मसारकर रोने लगेगी। माधवी के घर जाऊंगा तो वह फूली नहीं समाएगी। ताऊजी मेरे आने की खुशी में 'सत्यानारायण' की कथा करवाएंगे। परम'का अपनी बड़ी-बड़ी मूंछें उमेठकर मुझसे चीन और पाकिस्तान के हमले

के बारे में पूछेंगे या इटली के मोर्चे की साहस-भरी कहानियां सुनाएंगे। परम'का को इस बात का कितना गर्व था कि उन्होंने नेताजी से हाथ मिलाया था।

मेरा मन उखड़ आता है। एक दिन गुजार पाना असम्भव-सा लगता है। अपने साथ जो सामान लाया था, सब इधर-उधर बिखेर देता हूं।

यहां तुला नाम का कोई आदमी कभी रहता था, सब भूल-भुला गए हैं। बहुत बार बतलाने पर, तरह-तरह से परिचय देने के पश्चात, बहुत कम लोग सिर हिलाकर पहचान पाने का अभिनय करते हैं।

एक दिन मैं चलने लगता हूं तो बच्चे उदास हो जाते हैं। ठुल'दा दूर तक छोड़ने आते हैं। कहते हैं, "यहीं क्यों नहीं रुक जाता? दोनों मिलकर काम करेंगे तो गुजारा और भी आसानी से चल जाएगा। अरे, भाई का सहारा कुछ कम होता है!" ठुल'दा का गला भर आता है। इससे आगे वह कुछ नहीं कह पाते। चबैने की पोटली मेरी ओर बढ़ा देते हैं...।

बस-स्टेशन के पास, खोखे में चाय पीने लगता हूं तो दुकानदार स्वयं गिलास धोकर लाता है। मैं देखता हूं—चाय के ऊपर ढेर सारी मलाई तैर रही है...।

बस में बैठता हूं। कंडक्टर टिकट नहीं देता। कहता है, "हद्द हो गई! अपनी गाड़ी में आपको टिकट लेने दूंगा? आप नहीं पहचान रहे हैं तुल'का, मैं देवा का छोटा भाई हूं...पिताजी ने कहा है कि आपको टकनपुर में रेल की गाड़ी तक बिठला आऊं।...अपने आदमी के दरसन कब-कब होते हैं...?" मेरा हाथ पकड़कर वह जबरदस्ती ड्राइवर की बगल वाली सीट पर बिठला देता है...।

बस चलने लगती है तो मैं पीछे मुड़कर देखता हूं—मुझे ठीक वैसा ही लगता है, जैसा बीस साल पहले, घर से पहली बार निकलते समय कभी लगा था...।



जलते हुए डैने

खबर पढ़कर सन्न रह गया! सच नहीं लगा कि शिव'दा चल बसे।

बेड़ियों से जकड़ी दुर्बल देह और सीमा भाभी का आंसुओं से भरा चेहरा बार-बार आंखों के आगे घूमने-सा लगता।

अभी कुछ ही दिन पहले की बात है, जब पुलिस का दस्ता अकस्मात् हमारे कस्बे में आया था...शिव'दा को पकड़कर ले जाने लगा तो जमघट-सा लग गया था। आतंकित औरतें, मर्द, बच्चे, बूढ़े, घरों से निकल-निकलकर बाहर आए और भयत्रस्त-से चारों ओर देखने लगे थे।

सेंवार की तरह शिव'दा के बाल बढ़े हुए थे, वैसी ही दाढ़ी ! खादी के अस्त-व्यस्त, फटे कपड़े। कंधे पर तौलिए का काला चीथड़ा डाले नहाने जा रहे थे कि सीढ़ियों पर ही पुलिस ने धर दबोचा। वह कुछ कहें, कुछ बोलें, इससे पहले ही उनकी सूखी पतली कलाइयों को लोहे की भारी-भारी हथकड़ियों से जकड दिया और पिल्ले की तरह उनके पिंजरे को घसीटकर नीचे ले आए थे।

लोहे के टोप ओढ़े, संगीनधारी लम्बे-तगड़े पुलिस के सिपाहियों के बीच घिरे कृशकाय शिव'दा कैसे लग रहे थे—अवश भाव से चारों ओर देखते हुए।

गीले आटे से सने हाथ लिये सीमा भाभी खड़ी थीं, रो रही थीं। नन्ही रूही खड़ी थी, रो रही थी...।

पुलिस की गाड़ी चलने लगी तो शिव'दा की देह कांपने लगी मुट्ठियां भिंचने लगीं। अजीब-से तनाव को चीरते हुए चीख पड़े सहसा...'व...न्दे ...मा...त...र...!' शब्द पूरा भी न कह पाए कि किसी के फौलादी पंजे ने उनका मुंह भींच लिया और गाड़ी धूल का गुब्बार उड़ाती हुई ओझल हो गई।

सब सकते में आ गए थे। डरे हुए लोगों का आक्रोश अब उमड़ रहा

था। वे तरह-तरह की बातें कर रहे थे। क्रुद्ध बच्चे धूल के गुब्बार की तरफ दौड़कर ढेले फेंक रहे थे...।

रमाकान्त शहीदाना अन्दाज में जमकर खड़ा, आसमान की ओर अंगुली उठाए, भाषण दे रहा था—"अंधेर है, अंधेर! ऐसा तो अंग्रेजों के राज में भी नहीं हुआ था। मैं पूछता हूं—इस भले आदमी का कसूर क्या है? इसने ऐसी क्या गल्ती की है?...बोलो, देख क्या रहे हो—जवाब दो! शिवदास रोगी हैं—तपेदिक के। डाइबिटीज के। शिवदास जेल में मर गए तो उनके अबोध बच्चों का क्या होगा...?"

पुलिस का खाकी ट्रक कस्बे की सीमा से दूर चला गया था। फिर भी सर्वत्र दहशत छाई हुई थी—पता नहीं पुलिस कब, किसे पकड़कर ले जाए!

रमाकान्त पागलों की तरह देर तक बड़बड़ाता रहा तो न जाने कब उसके वृद्ध पिता उसे घसीटकर ले गए। भीतर से कुण्डी चढ़ाकर बोले—"शिवदास की तरह क्या तू भी पगला गया है? सरकारी गल्ले की दुकान है मेरी। किसी ने रपट कर दी तो लाइसेंस छिन जाएगा! बता, फिर इतने बच्चों का पेट कैसे भरेगा?"

आवेश में रमाकान्त चिल्लाया—"मैं पूछता हूं, अब आपकी दुकान में गल्ला ही क्या है? क्या अब भी अपने बच्चों का पेट भर पा रहे हैं, जो व्यर्थ में चीखे जा रहे हैं...?"

"अरे, तू तो सचमुच पगला गया है रे, रमा!" पिता हताश होकर बोले—"अब नही है तो फिर कभी तो होगा ही! आशा पर दुनिया जीती है!"

रमाकान्त ने अजीब-सा कड़वा मुंह बनाया—"आशा पर दुनिया जीती है...! हुं!" और जमीन पर थूक दिया—पुच्च से।

शिव'दा के टूटे घर में फिर कभी दीया न जला। सारी-सारी रात किसी के रोने-सिसकने की आवाजें आती रहीं। अंधेरे में काले चमगादड़-से उड़ते दीखते तो भय लगता।

लोग कहते, दूर किसी अंधी जेल में शिव'दा को ठूंस दिया है, जहां ऐसे हजारों कैदी हैं जो पशुओं से भी बदतर जिन्दगी जी रहे हैं। जानवरों के बाड़े की तरह औरतों को रखा गया है। तन ढकने के लिए पूरे वस्त्र तक नहीं। औरतों के पूरे वार्ड में केवल एक धोती! कभी बाहर से किसी का कोई रिश्तेदार मिलते आता है, तब वही धोती वह तन पर लपेट लेती है। और वापस आकर उसी को फिर खूंटी पर टांग देती है।

अपना ही देश!

अपने ही लोग!

जगह-जगह फटी हुई धरती, लाशों को नोंचते हुए गिद्ध और सियार!

मेरा सिर घूमने लगता है। शिव'दा का वह मासूम मुखड़ा आंखों के आगे तैरने लगता है, जब वह सुबह-सुबह इन वीरान खेतों में भटकते हुए बंकिम बाबू का गीत गुनगुनाया करते थे—

'सुजलाम् सुफलाम्...' शिव'दा की आंखों से रक्त की बूंदें झरने लगती थीं...।

उस साल भी अकाल पड़ा था। पूरे तीन महीने तक शिव'दा भटकते रहे। घर-घर, द्वार-द्वार घूम-फिरकर अकाल-पीड़ितों के लिए अन्न जुटाते रहे।

दुर्बल तन पर चीथड़े टंगे रहते। पांवों में जूते तक नहीं। जब जो मिला, खा लिया। जहां रात हुई, सो गए।

सीमा भाभी रोती रहतीं। रूही जंगले पर खड़ी—"ममी, ओऽ पापा तो नहीं!" फटे चीथड़े पहने जो भी भिखारी आता, उसी की ओर चहकती हुई लपक पड़ती।

कहते हैं—शिव'दा के पिता सेमुअल रामदास यहां के आदिवासी क्षेत्र में बने 'मिशन-अस्पताल' में डॉक्टर थे कभी। खादी के कपड़े पहनते थे। चर्खा कातते थे। इसलिए विदेशी सहायता से चलने वाले इस अस्पताल से संबंधित गोरे, अधगोरे अफसर और पादरी उनसे क्रुद्ध थे। उनका वश चलता तो कब का उन्हें हटा देते! किन्तु इस पूरे इलाके में उनकी बड़ी धाक थी। उनके एक इशारे पर सारे आदिवासी सदैव मर-मिटने को तैयार रहते।

ऐसा कोई आदमी न था, जिसकी उन्होंने सहायता न की हो। जाड़े में, पश्मीना ओढ़कर किसी मरीज को देखने गए तो उसके शीत से ठिठुरते गात पर अपना पश्मीना डाल दिया। किसी रोगी के घर में राशन नहीं, तो दवा के साथ-साथ राशन भी पहुंचा दिया। कितने ही आदिवासी बच्चों को उन्होंने पाठशाला भिजवाया। कितनों की किताबों और कापियों के लिए पैसे जुटाए!

अन्त में सन् बयालीस का आंदोलन शुरू हुआ। 'करो या मरो' का नारा लगा तो उन्होंने भी अस्पताल छोड़ दिया। तिरंगे झंडे के नीचे आदिवासी-क्षेत्र में नये आन्दोलन का सूत्रपात्र किया। सरकार के पिट्ठुओं ने आदिवासियों के झोंपड़े गिरा डाले। स्कूल की इमारतें तोड़ डालीं। कई पशु और आदमी जिन्दा जला दिए। और उसी दमन-चक्र में अन्त में शहीद हो गए—सेमुअल रामदास भी।

आज भी बाबा भीखनचन्द उस दिन का आंखों-देखा हाल सुनाते हैं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

सेमुअल रामदास की लहूलुहान देह ज़मीन पर कुचले हुए केंचुए की तरह छटपटा रही थी। उनकी कांपती हुई मुट्ठियों में झंडा जकड़ा हुआ था। होंठ कांप रहे थे। फुसफुसाहट की-सी कांपती आवाज आ रही थी..."इन्न-क्लाब!"

यही उनके अन्तिम शब्द थे शायद!

लोग कहते हैं—उस दिन मैदान में फैला बरसात का पानी तक लाल हो गया था।

जहां पर सेमुअल रामदास शहीद हुए थे, वहां अब बाजार बन गया है। 'शहीद चौक' के नाम से एक चबूतरा है (जिसमें कभी-कभी कस्बे के गुंडे ताश खेलते हैं)।

वही 'शहीद-चौक' अब सराय बनी शिव'दा की।

वैसी ही कद-काठी, वैसा ही रूप-रंग। शिव'दा जब खादी के कपड़े पहनते, लोग कहते—हू-ब-हू पिता की प्रतिमूर्ति लगते हैं। बोलने का लहजा, चलने का ढंग—कहीं रत्ती-भर भी तो अन्तर नहीं...।

मां जनते ही मर गई थी। कुछ समय बाद पिता भी यों अनाथ छोड़ गए तो मौसी के घर पले...दूसरों के सहारे पढ़-लिखकर शिव'दा एक दिन अध्यापक हो गए थे—आलमगंज के इसी प्राइवेट स्कूल में।

रूप-रंग, चाल-ढाल ही नहीं, आदतें भी उन्हें विरासत में मिली थीं—पिता से। रात में प्रौढ़-पाठशाला चलाते। दिन में स्कूल से लौट आने पर गरीब बच्चों को घर पर बुलाकर पढ़ाते।

सीमा भाभी कुढ़ती रहतीं, लेकिन परमहंस की तरह शिव'दा मौन साधे रहते।

कभी-कभी हंसी में कहतीं—"याद है, आपका जन्म 25 दिसम्बर को हुआ था—ईसा की तरह...।"

शिव'दा सीमा भाभी के चेहरे की ओर अबोध बालक की तरह ताकते रहते। उनकी बात काटते हुए चट बोल पड़ते—"हां, तब तो मुझे भी एक दिन सलीब पर लटकना होगा...देखना, जरूर लगेगी फांसी!"

"चुप, चुप।" सीमा भाभी उनके होंठों पर हथेली रख देतीं—"ऐसा क्यों कहते हैं? आपको क्यों लगेगी फांसी? आपने क्या गुनाह किया है ऐसा...?"

यों ही व्यंग्यभाव से हंस देते शिव'दा—"तू तो निरी भोली है, फांसी पर झूलने के लिए क्या गुनाह करना जरूरी है? बता, ईसा ने क्या गुनाह किया था? सुकरात को...?"

सीमा भाभी प्रत्युत्तर में चुप हो जातीं और शिव'दा भी।

आधी-आधी रात तक वह चर्खा कातते। पुस्तकें पढ़ते और पत्नी को समझाते—"जिन्दगी तो एक दिन खत्म होनी ही है, फिर इसे किसी अच्छे काम पर क्यों न लगाएं? अपना पेट तो चौपाया भी भरता है। आदमी और पशु में कुछ तो अन्तर है...!

सीमा भाभी चुपचाप सुनती रहतीं और मौन हो जातीं। कभी-कभी यह सब असह्य हो उठता तो तुनक पड़तीं—"मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिए। मैं आधे पेट खाकर, फटे कपड़े पहनकर भी रह लूंगी, पर इस रूही का तो कुछ खयाल करो। इसके भविष्य के बारे में भी तो सोचो।"

"ये जो सड़क पर टूटा कटोरा लिये भीख मांगते नंगे बच्चे देखती हो, क्या इनमें कहीं कभी तुम्हें रूही की शक्ल नजर नहीं आती? ऐसी कितनी ही रूहियां हैं—तुम नहीं जानतीं...तुम नहीं जान सकतीं...।"

शिव'दा पता नहीं किस समाधि में लीन हो जाते और सीमा भाभी आसमान की ओर देखने लगतीं—कुछ खोजती हुई निगाहों से।

एक दिन शिव'दा की नौकरी छुट गई। प्राइवेट स्कूल था—सरकारी सहायता से चलता था। मैनेजिंग कमेटी के चेयरमैन लाला सुखनप्रसाद का आरोप था कि शिवदास विद्यार्थियों को भड़का रहे हैं। सरकार के खिलाफ जन-आंदोलन में भाग ले रहे हैं। अगर शिवदास इस स्कूल में बने रहे तो सरकारी सहायता नहीं मिलेगी...अगर सरकारी सहायता नहीं मिलेगी तो स्कूल नहीं चलेगा। अतः सरकार बन्द करवाए, उससे पहले ही हमें स्कूल बन्द कर देना चाहिए। उन्हें डर था कि शिवदास को जबर्दस्ती हटाने पर विद्यार्थी स्कूल की इमारत जला डालेंगे।

"पर स्कूल बन्द कैसे हो सकता है? इस देश में तो अभी करोड़ों लोग हैं—निरक्षर, जिन्हें शिक्षा की जरूरत है—ज्ञान की।" शिव'दा ने कहा और स्वयं ही हट गए रास्ते से।

जहां-जहां बाढ़ आती, जहां-जहां अकाल पड़ता, महामारी फैलती—शिव'दा वहां पहुंच जाते।

इस वर्ष चेचक से कितने ही लोग मर गए, पर अखबारों में यों ही लीपा-पोती होती रही। हजारों लोग मरे, पर सरकारी आंकड़े दस-बीस से ऊपर न पहुंच पाए। चारों ओर हाहाकार मचा था। चींटियों की मौत मर रहे थे लोग। लावारिस लाशों के अम्बार थे, पर कोई पूछने वाला तक न था...।

शिव'दा प्राणों की परवाह न कर अपने कुछ साथियों के साथ निकल पड़े। लोग कहते—"शिवदास वहां से बचकर नहीं लौटेंगे।"

पर शिवदास कुद महीने बाद सामने खड़े थे—जीते-जागते!

और इस अकाल में तो उन्होंने हद कर दी। जब कहीं कुछ न बना तो सरकारी दफ्तरों के आगे धरना दिया, अफसरों की कारों के आगे लेट गए।

बड़े-बड़े मंत्रियों को, नेताओं को लिखा, तब भी पूरी सहायता न मिली तो शिव'दा अपने साथियों के साथ घर-घर, द्वार-द्वार घूमकर अन्न के दाने और फटे चीथड़े इकट्ठा करते।

सरकारी अफसर कहते कि लोग भूख से नहीं, पौष्टिक तत्त्वों की कमी के कारण मर रहे हैं, तो शिव'दा भूख से मरे लोगों के अस्थिपिंजर अपने दुर्बल कन्धों पर लाद-लादकर थाने के सामने पटकते—"यह देखो, अब भी कह सकते हो कि ये भूख नहीं मरे?" शिव'दा के दांत भिंच जाते। आंखों में लाल डोरे उभर पड़ते।

लोग पागल समझते उन्हें और हंस देते।

कुछ आत्मीय लोगों ने कहा—"शिवदास, तुम्हारे पिता स्वाधीनता-संग्राम में शहीद हुए थे। यह फार्म भर दो। तुम्हारे बच्चों को कुछ सहायता मिल जाएगी।"

शिव'दा ने फार्म के टुकड़े कर दिए और 'हा-हा-हा!' पागलों की तरह अट्टहास करते हुए हंसने लगे।

—इस आदिवासी क्षेत्र में भूख से नौ सौ पन्द्रह लोग मरे...सरकारी अनाज चोरबाजारी में बिकता रहा—शहरों में।

—दवाएं देखने तक को न मिलीं...दुर्भिक्ष-पीड़ितों ने जुलूस निकाले तो उन पर गोलियां बरसायी गई। उन्हें देशद्रोही करार दिया गया...नेता लोग आए और फोटो खिंचवाकर चले गए...थाने के आगे धरना देने वालों को चौराहों पर घसीटा गया। आदिवासी औरतों के साथ बलात्कार किया गया...।

वह रात-भर जागकर कागज़ के टुकड़ों पर पता नहीं क्या-क्या लिखते और उन्हें किसी डिब्बे में जतन से सहेजकर गड्ढे में डाल देते—ऊपर से मिट्टी आदि से ढककर। कहते—"ये 'कालपत्र' हैं। कभी कोई जमाना आएगा, जब लोग देखेंगे कि जनतंत्र और समाजवाद के नाम पर इस देश में क्या-क्या नहीं हुआ?"

शिव'दा सचमुच पागल-से हो गए थे। पत्थरों पर कोयले से लिखते, बड़ी-बड़ी दीवारें रंग देते। चौराहों पर खड़े होकर भाषण देने लगते।

उनकी इन हरकतों से परेशान होकर पुलिस उन्हें स्वयं पीटती, गुंडों से

पिटवाती। न जाने कितने इल्जाम लगाकर, उन्हें कितने दिनों तक थाने में बन्द रखती—भूखा, प्यासा!

इस बार, आपातकाल के दौर में लगान की वसूली के प्रश्न पर जो आन्दोलन छिड़ा, उससे कानूनी व्यवस्था ही खतरे में पड़ गई थी। आन्दोलनकारियों की धर-पकड़ शुरू हुई तो सबसे पहले पुलिस की निगाह शिव'दा पर ही पड़ी। बेचारों को मेमने की तरह घर से घसीटकर ले गई...।

अदालत में मुकदमा चला तो शिव'दा ने केवल इतना ही कहा था, अपनी सफाई में—"मैंने जो कुछ भी कहा, सच कहा था। सच बोलने की सजा अगर मृत्युदण्ड है तो मुझे वह भी मंजूर है...!"

शिव'दा का सारा शरीर लहूलुहान था, कपड़े तार-तार!

फिर पता नहीं किस काल-कोठरी में ठूंस दिया था, उन्हें तड़प-तड़पकर मरने के लिए। जहां से एक दिन बाहर निकला था—केवल उनका अस्थिपिंजर।

सूखा हुआ शरीर—हड्डियों का ढांचा मात्र! बढ़ी हुई दाढ़ी! कैदियों के फटे कपड़े! खुली हुई निष्प्राण आंखों में विचित्र-सी वेदना!

शव आलमगंज लाया गया तो एक भी आदमी बाहर न निकला—पुलिस के आतंक से। पादरी समेत केवल चार-पांच लोग थे।

शव को ताबूत पर रखते समय मैंने देखा—उनके सारे शरीर पर जगह-जगह नीले निशान थे। लगता था अब भी जख्म कराह रहे हैं...सूखे हुए होंठ कुछ कहने के लिए अब भी फड़फड़ा रहे हैं।

मैं निर्निमेष उनकी ओर ताकता रहा।

उन्हें दफनाए आज कितने दिन हो गए! पर लोग कहते हैं—रात के अंधियारे में 'शहीद-चौक' पर शिव'दा आज भी बैठे दिखलाई देते हैं। आज भी अकाल-पीड़ियो के लिए भीख मांगते हुए भटकते हैं। रात के अन्धकार में आज भी अपने खण्डहर के द्वार खटखटाते हैं तो सीमा भाभी दहाड़ मारकर रोती हैं। रूही चीख पड़ती है। पर उस वीरान खण्डहर में सारी आवाजें विलीन हो जाती हैं और फिर छा जाता है—मौत का-सा सन्नाटा!

□

एक सुकरात और

भीड़ से मैं तनिक परे चला जाता हूं। मुझे सच नहीं लगता। लोग कहते हैं—सुकरात आज मर गया।

सुकरात को मैं बहुत पहले से जानता हूं। वह नाटा नहीं, भरे-पूरे कद का, कुरूप नहीं, बहुत सुन्दर था। उसकी दाढ़ी के बिखरे सफेद बाल बर्फ़ की तरह चमकते थे। उसकी आंखों में एक अद्‌भुत आभा थी। एक लंबे अर्से तक वह पडोस में रहा था। वह सितार बहुत अच्छा बजा लेता था...बहुत अच्छा गाता था...।

एक दिन वह चौराहे पर खड़ा था। उसके चारों ओर भीड़ थी। वह भीड़ को संबोधित करके कह रहा था, "जानते हो, सत्य किसे कहते हैं?"

भीड़ में सब एक-दूसरे का चेहरा देख रहे थे। कोई भी सामने आकर कुछ कहने को तैयार न था।

कुछ क्षण वह चुप खड़ा रहा। जब कहीं से कोई उत्तर न मिला तो बोला, "अभी दिन नहीं, रात है—यह सत्य है।" उसने आसमान में चमकते सूर्य की ओर इंगित किया, "सूर्य दिन का नहीं, घोर रात्रि का प्रतीक है...।"

सब बगलें झांकने लगे—सुकरात यह क्या कहता है? संभवतः सुकरात सब जानता था। अतः हंस पड़ा। बोला, "मित्रो, कोई बतला सकता है, मृत्यु क्या है?"

इस बार भी सब अनुत्तरित...उसकी आकृति देख रहे थे। इतने में सामने से एक शव जाता हुआ दिखलाई दिया। सुकरात मुस्करा पड़ा, "मरना, मृत्यु नहीं है, मित्रो! निष्क्रिय रहना मृत्यु है। आपमें से कोई बतला सकता है या प्रमाणित कर सकता है कि वह जीवित है।...सत्य-संगत वस्तु को प्रमाणित करना ही यथार्थ

को चुनौती देना है...सज्जनो, यथार्थ क्या है?"

धीरे-धीरे भीड़ छंट गई। सुकरात अकेला रह गया। उसके हाथ में एक ठीकरा था—जिसमें चंद अल्युमीनियम के सिक्के और मूंगफली के दाने थे...।

सुकरात सड़क की भीड़ से अलग खड़ा हो गया और ज़मीन पर बिखरी किसी वस्तु को उठाकर खाने लगा।

सुकरात! सबकी तरह मैं भी उसे सुकरात ही कहा करता था। उसका जन्म पूर्वी भारत के किसी छोटे-से गांव में हुआ था। घोरतम गरीबी में उसने अपना बाल्यकाल बिताया था। बनारस के घाटों पर उसका शैशव बीता था। पूस की ठंडी रातों में श्मशान की आग के सहारे, वह काल-रात्रि बिताया करता था।

"एक सुकरात और था," एक दिन मैंने उससे कहा, "उसका जन्म यूनान मे हुआ था। वह भी इसी तरह चौराहों पर खड़ा होकर भाषण दिया करता था।"

वह इस बार भी हंस पड़ा। बोला, "सुकरात! तुम जानते हो, सुकरात किसे कहते हैं?...वह कौन था...?"

मैं कुछ उत्तर दूं उससे पहले ही वह फिर बोल पड़ा, "तुम जानते हो तुम कौन हो? तुम 'स्वयं' को पहचानते हो?"

"हां!"...मगर वाक्य अभी अधूरा ही था कि वह बच्चों की-सी निश्छल हंसी में ठहाका लगाकर हंस पड़ा। बोला, "तुम नहीं जानते हो।...जो कहता है, 'मैं स्वयं को जानता हूं,' वह प्रपंच रचता है। प्रपंच रचने वाला आदमी मूर्ख होता है। तुम जानते हो—तुम कौन हो...?"

वह मेरी बांह पकड़कर, मुझे सामने तालाव के किनारे खडा करता है। कहता है—"देखो, तुम्हें जल में क्या दिखलाई देता है?"

मैं देखता हूं। जल में मुझे केवल अपना चेहरा दिखलाई देता है। मेरे उत्तर को सुनकर इस बार वह हंसता नहीं—गंभीर हो जाता है।

"चेहरा!...चेहरा नहीं! तुम झूठ बोलते हो, अब लोगों के चेहरे चेहरे नहीं होते हैं! ..यही तो दुःख है। हम सब आकृति-विहीन हैं—आकृति-विहीन समाज; आकृति-विहीन सस्कृति...।"

सुकरात दूर चला गया। मैं थोड़ी देर बाद जब पुनः उसी चौराहे से लौटा तो सुकरात फिर भीड से घिरा था। कह रहा था, "सज्जनो, कोई बतला सकता है राष्ट्र किसे कहते हैं? समाज की क्या परिभाषा है?"

कहीं से जब कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला तो सुकरात स्वयं कहना आरंभ करता है—"आदमियों की भीड़ समाज नहीं कहलाती। बहुत से प्रांतों को नक्शे में एक साथ जोड़ देने से राष्ट्र नहीं बनता।...मित्रो, राष्ट्र कहलाने के लिए

क्या आवश्यक है...?"

लोग कहते हैं—उस दिन सुकरात पुरानी दिल्ली के किसी चोराहे पर अकेला बैठा रो रहा था...।

फिर एक दिन सुकरात के हाथ में वही टूटा ठीकरा था। सुकरात के पांव फटे थे। लहू बह रहा था। कहते हैं—सुकरात अभी-अभी बिहार के दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्र की यात्रा से लौटा है...।

हमेशा की तरह इस वार भी वह चीथड़े पहने था--भिखारियों के साथ भरे बाजार से गुजर रहा था। ठीकरे पर पड़े पेसे आसमान में उछालकर बिखेर रहा था। सुकरात के पीछे बच्चों की भीड़ थी। लोग सुकरात पर पत्थर फेंक रहे थे। सुकरात हंस रहा था। कहता था—"मित्रो, भूख किसे कहते हैं? गरीबी का क्या अर्थ होता है? धन-सम्पत्ति वाला व्यक्ति गरीब होता है, या धन-सम्पत्तिविहीन आदमी?...सज्जनो, धन क्या हे? धर्म क्या है? धर्म किसे कहते है? धर्म का संवंध मंदिर-मस्जिद से है या मनुष्य की सेवा से? मनुष्य की सेवा का तात्पर्य क्या होता हे...?"

सुकरात के पीछे जन-सागर उमड़ रहा था। लोग कहते थे—सुकरात समाज को भ्रष्ट करना चाहता है। सुकरात धर्म-विरोधी है, समाज-विरोधी है। सुकरात देश-द्रोही हे। देश-द्रोह की सजा मृत्यु-दंड होती हे...।

सुकरात मृत्यु के साथ-साथ छाया की तरह चल रहा था।

सुकरात के शरीर पर एक दिन आलू के गंदे छिलके पड़े। वह कीचड़ से नहाया था।

मैंने पूछा, "सुकरात, क्या तुम्हारी पत्नी तुम पर क्रुद्ध हुई?"

सुकरात निर्मल हंसी में हंसा। बोला, "मैं अविवाहित हूं। ये आलू के गंदे छिलके नहीं, गुलाब के फूल की पंखुड़ियां हैं, जो लोगों ने अभी-अभी मुझ पर बिखेरी हैं।...मैं सबका शुक्रगुजार हूं। भगवान सबका भला करे...।"

मैं सोचता था—एक दिन इस बूढ़े सुकरात की कलाइयों में भी लोहे की हथकड़ियां पड़ेंगी। पांवों में भारी-भारी बेड़ियां। नई दिल्ली के किसी अंधेरे कारावास में पड़ा यह जीवन-मृत्यु से जूझेगा। इसके बूढ़े जर्जर हाथों में हेमलक का प्याला होगा। ज़हर का एक-एक घूंट यह गिन-गिनकर पिएगा। चारों ओर से घिरे इसके शिष्य रोएंगे। तब यह कहेगा—शिष्यो, रोना व्यर्थ है। सज्जनों का न तो कोई उनके जीते-जी कुछ बिगाड़ सकता है, और न उनकी मृत्यु के बाद...।

परंतु ऐसा कुछ भी न हुआ।

पूस की कड़कती सर्दी में कुतुब रोड के फुटपाथ पर चीथड़ों में लिपटा सुकरात एक सुबह अपने-आप मरा हुआ पाया गया।

कहीं कोई समाचार नहीं...न कहीं कोई दुःख...।

सुकरात का शव कमेटी के ठेले पर लदा भीड़ से अब काफी दूर पहुंच गया है। लोग कह रहे हैं—एक और विक्षिप्त आदमी अभी-अभी गुजर गया है, जो सत्य और धर्म की आड़ में लोगों को बरगलाया करता था, जबकि सत्य और धर्म का आज के हमारे जीवन से कहीं भी कोई संबंध नहीं।



मनुष्य-चिह्न

पानी पर आग लग गई है। गांव में गिरदम्म मचा है। लोगों को विश्वास नहीं हो पा रहा है, फिर भी सब कह रहे हैं—गोबिन्दी के साथ किरपाल ने बुरा सलूक किया है। कल शरम-बात कर दी है—किसनुवा की ईजा ने अपनी आंखों से देखा है...।

गोबिन्दी गठरी की तरह बेठी, फटी पिछौड़ी ओढ़े, सिर झुकाए, अपने काने करम को रो रही है। उसका बूढ़ा, अधा बाप, टूटे छप्पर के अंधेरे कोने में बैठा, चिलम का सूखा धुआ उगल रहा है। लोग उसके मुंह पर निधड़क थूकते हुए कह रहे हैं—

"हं, ओ परमा! ऐसी नौहाल औलाद पैदा करने से पहले तू डूबकर मर क्यों नही गया था रे! तूने अपनी ही नहीं, पूरी बिरादरी की नाक कटा डाली!...अब इसे गड्ढे में गेरकर जिन्दा जला दे। ऐसी बदचलन चुड़ेल के रहने से क्या...?"

नारियल की चिलम की मूठ वह और जोर से पकड़ता है। धुएं से उसने सारी कोठरी भर दी है। उसे लगता है—इस तरह धुआं उगलता-उगलता वह पागल हो जाएगा। या आज शाम तक जरूर मर जाएगा। यदि वह नहीं मरना चाहेगा, फिर भी लोग उसका गला मरोड़-मरोड़कर अवश्य मार डालेंगे। उसे 'मरने' से नहीं, 'मारे जाने' से भय लगने लगता है। इसलिए सिकुड़कर वह और छोटा हो जाता है।

बाहर चौक पर कुछ लोग खड़े हैं। पास-पड़ोस की औरतें अपने घरों का जरूरी काम छोड़कर गोबिन्दी को देखने के लिए आई हैं। दरवाजे पर बच्चों की भीड़ लगी है। आंगन की मेंड़ के चौड़े पाथरों पर बैठे, कुछ दाने-सयाने इस 'नाजुक' प्रश्न पर गंभीरता से बातें कर रहे हैं—"यदि यह मना करती, तो किरपवा

की मजाल थी जो इसका बदन छू सकता! जरूर कुछ-न-कुछ बिचपात इसकी ओर से हुआ होगा। तिरिया चरितम् पुरखस्य भागम—कौन जानता है...!"

"वह बेचारी क्या करे!" कोई दूसरा कह उठता—"गंगुवा काने का 'ढण्ठ' है ही ऐसा! घर का नाज बेच-बेचकर लोफर हुड़कियानियों की मैफल में बैठा करता है—कुत्ते का...!"

"इस 'करम भरस्टी' का परलोक बिगड़ जाना चाहिए।" एक त्रिपुंडधारी वयोवृद्ध शाप देते हैं—"इसने बहू-बेटी पर हाथ लगाया है। त्योंनरा माई इसे भसम करेंगी...!"

कुछ लोग पंच-सरपंचों को ढूंढने गए हैं। ग्राम-सभा का सभापति भी आज मौके से घर पर नहीं है। चीड़ और देवदार-बनी के पेड़ों की मुकरट में कचहरी गया है और कम्बख्त अपनी गवाही के लिए पधान को भी साथ ले गया है।

वीस पूरे कर, अव इक्कीस की है—गोबिन्दी। अव से दस वर्प पूर्व जव वह ग्यारह की थी—उसके पति का प्राणान्त हो गया था। लोग कहते हैं—वह भेड़-बकरियों को चराने के लिए जंगल गया था। वहीं दिन-दोपहर उसे भेड़िया उठाकर ले भागा था।

ब्याह के बाद शायद वह एक बार भी ससुराल न जा पाई थी। पति नाम का पशु कैसा होता है—उसे याद नहीं।

बिना भाई-बहन और मां के इस अकेले घर में उसने इतने वर्प बिताए हैं, किन्तु किसी को कभी अंगुली उठाने का अवसर नहीं दिया। गत दस वर्षों में ऐसा कौन-सा दिन है, जब उसने देहरी नहीं लीपी, गाय को 'गोग्रास' नहीं दिया और तुलसी पर जल नहीं चढ़ाया! उसने भूलकर भी किसी की तरफ आंख उठाकर नहीं देखा—किन्तु आज उस पर एकाएक सबकी आंखें बरस उठीं तो उसे सूझ नहीं पाया कि वह क्या करे!

"...गोपिऽ, क्या हो पड़ा भुरीईऽ?" कोई पूछती है, तो गोबिन्दी ढुल-ढुल रो देती है।

कैसे क्या हुआ—? यह जानने के लिए हर कोई आतुर है। इसलिए जानकर भी अनजान बनकर बार-बार पूछने और 'सहानुभूति' जतलाने के लिए आ रहा है!

और गोविन्दी अब सचमुच ही 'धरती' में धंस गई है—शरम के मारे।

दिन गहमा-गहमी में बीत जाता है। सांझ ढले सरपंच आता है। सारे लोग मधुमक्खी के छत्ते की तरह उसे घेरकर खड़े हो जाते हैं...।

रात को बर्फ गिरने का अंदेशा है। ठंडी हवा सनसनाती बह रही है। पर इस कड़ाके की सर्दी में भी सब लोग जगे हैं...।

किसी तरह पंच जुटते हैं और पंचायत बैठती है।

"गोबिन्दी के साथ बुरा सलूक होता किसने देखा था?" सरपंच पूछता है।

"किसनुवा की ईजा ने...।" भीड़ में से कोई उत्तर देता है।

"कहां पर देखा था?"

"गाय-डंगरों के गोठ...।"

"वहां किसनुवा की ईजा किसलिए गई थी?"

"दूध दुहने...।"

"किस टेम गई थी—सुबह कि शाम?"

"शाम को।"

"किसनुवा की ईजा ने वहां क्या देखा?"

सब परस्पर एक-दूसरे का मुंह ताकने लगते हैं।

"किसनुवा की ईजा कहां है? उसे बुलाओ।" सरपंच अपनी गद्दी पर लालाओं की तरह जमकर बैठता हुआ पूछता है—खीझकर।

"अपनी छोटी लड़की के घर कलकोट गई है—आज सुबह।"

"क्या देखा बतलाती है वह?"

"कि गोबिन्दी के साथ कलचुड़िया किरपिया शरम-बात कर रहा था।"

"गोविन्दी ने कोई विरोध नहीं किया था...?"

कोई कुछ उत्तर नहीं दे पाता।

"गोबिन्दी तब किस हालत में थी?" वह सामने बैठे चश्मदीद गवाह से पूछता है।

उसे कुछ सूझता नहीं। वह अपनी गंजी खोपड़ी खुजाता हुआ कहता है—"बुरी हालत में होना चाहिए..!"

"कितनी बुरी हालत में?"

किसी से कोई उत्तर बन नहीं पाता।

सरपंच फिर कुरेदकर पूछता है, "और किरपाल कैसी हालत में था?"

"उसे भी बुरी हालत में होना चाहिए।" कोई कम उम्र का छोटा पंच बहुत देर चुप रहकर, इस प्रश्न पर सोचने के पश्वात् कहता है।

कुछ पल एकदम सन्नाटा रहता है।

"किसनुवा की ईजा ने जब देखा, तो हो-हल्ला क्यों नहीं मचाया था?"

"हो-हल्ला तो गोबिन्दी की ओर से मचना चाहिए था!" दूसरा पंच जवाब

देता है।

"नहीं...!" मिट्टी के कच्चे फर्श पर मुक्का पीटता हुआ सरपंच दुहराता है—"पंचात कहती है, हो-हल्ला मचाने का फरज दोनों का था। पंचात की निगाह में इसलिए दोनों कसूरवार हैं।"

अब गोबिन्दी की पेशी होती है। गोबिन्दी ने फटे कपड़ों में किसी तरह तन ढंक रखा है। तार-तार चीथड़ों के बीच धूप के चकत्तों की तरह, कहीं-कहीं पर चमकते शरीर पर बहुत-सी निगाहें बिंधने लगती हैं। गोबिन्दी और सिमट आती है।

"किरपाल ने तुम्हारे साथ क्या-क्या किया?"

"...।"

"तुम अंधेरे में गोठ क्यों गई थी?"

"...।"

"किरपाल तुमसे पहले भी इस तरह कभी मिलता था और शरम-बातें करता था?"

"...।"

"जब उसने तुम्हें पकड़ा तो तुमने हो-हल्ला क्यों नहीं मचाया?"

"..."

"किरपाल अकेला था या उसके साथ और भी लोग थे?"

"...।"

"किसनुवा की ईजा का कहना है कि उसने तुम दोनों को वहां से बाहर निकलते देखा था। तू छिप-छिपकर पेड़ों की ओट से जा रही थी और किरपाल खेत की मेंड़ से नीचे कूदा था...।"

गोबिन्दी की ओर से अब भी कोई उत्तर नहीं मिलता, तो सरपंच बुरी तरह झुंझलाता है। झिड़कता है। डराता-धमकाता है। किन्तु फिर भी गोबिन्दी गूंगी बनी रहती है, तो वह दूसरे लोगों से पूछकर बातों का सिलसिला आगे बढ़ाता है—

"गोबिन्दी के साथ किरपाल को पहले भी कभी किसी ने देखा है?" वह सामने खड़े लोगों से प्रश्न करता है।

"हां!" भीड़ में से एक आवाज आती है। खिलुवा का बड़ा भाई रुदिया उत्तर देता है।

"कहां देखा था?"

"खेत में।" रुदिया कहता है।

"क्या करते देखा था?"

"अपने नारंग के पेड़ के पास गोबिन्दी खड़ी थी। मैं पास ही बछिया चरा रहा था।" रुदिया उत्तर देता है—"इतने में मरे हुए सांप की तरह जुए का हलौड़ा लकड़ी पर लटकाए अपने बैलों को हांकता किरपाल'दा वहां से गुजरा। गोबिन्दी की ओर देखता हुआ बोला—'संतरे खिला गोबि, प्यास लगी है!'

गोबिन्दी'दी ने नारंग तोड़कर उसकी ओर फेंके, तो किरपाल'दा ने नाक-भौं सिकोड़ी, 'ये तो छुड़ खट्टे हैं मुला। पके दे न रस-भरे!'

गोबिन्दी'दी ने कहा कि 'अभी पके कहां हैं! सब ऐसे ही हैं।'

'हैं तो सही, तूने आंगड़ी में छिपा रखे हैं...।' वह हंसा और गोबिन्दी'दी भी खि-खि हंसने लगी।"

सरपंच ने गोबिन्दी की ओर देखा और फिर अपने कागज-पत्तरों की ओर।

"अच्छा, अब किरपाल को बुलाओ।"

"किरपाल आज सुबह अपना घोड़ा बेचकर, मोटर में बैठकर चिरान के काम में, आरा लिए, मंडी-भाभर चला गया है।"

हतप्रभ होकर सरपंच देखता रहा। जैसे सबसे बड़ा शिकार, जिंदा मछली की तरह फिसलकर निकल भागा हो।

रात अब कुछ और अधिक गुजर गई है। बहुत-से लोग सर्दी से ठिठुरते हुए अपने-अपने घरों को चले गए हैं। अन्त में रहे-सहे भी जाने लगते हैं, तो वह गोबिन्दी को रोक लेता है...।

"लगता है, यह मुला सबके सामने कहने से शरमा रही है!" वह पास बैठे पंचों की ओर देखता है—जैसे उनकी प्रतिक्रिया पढ़ रहा हो, "इसलिए 'पराइभेट' में इससे कुछ पूछना-ताछना जरूरी हो गया है, नहीं तो इनकुवारी पूरी कैसे होगी? ब्यानधुरा-बीच..." उसने कसम खाकर कहा, "यदि पंच-परमेसरों की राय हो, तो इसे कुछ देर तक यहां और रोक लिया जाए!"

सर्वसम्मत—सब सिर हिलाते हैं। और गोबिन्दी चलती-चलती ठिठक पड़ती है। सरपंच उसे एकांत में ले जाकर पूछताछ करता है। इसके बाद एक-दो पंचों ने भी पूछताछ की। पता नहीं कब तक यह सिलसिला चलता रहा...!

सुबह सरपंच ने फैसला तैयार किया। 'परमेसरों' की राय से यह तय हुआ कि बेचारी विधवा गोबिन्दी के साथ किरपाल ने 'अन्या' किया है। उसे फांसी या कालेपानी जैसी सज़ा मिलनी चाहिए और मामला पुलिस को सौंप देना चाहिए।

तीसरा दिन अभी शुरू भी नहीं हुआ कि अपने फौज-फर्रे के साथ पटवारी

भी आ धमकता है। आते ही बबर शेर की तरह दहाड़ना शुरू कर देता है। रोब से मुक्का आसमान में उछालता हुआ चुनौती देता है कि इतना संगीन मामला पंचायत ने किस दफा के मुताबिक अपने हाथ में लिया! यह तो पुलिस-केस है। पटवारी-पेशकार के नीचे कोई बात नहीं कर सकता...!

गांव के सारे लोग सकपका जाते हैं। जो जहां है, वहीं पर खड़ा रह जाता है। आदमखोर से इतना आतंक नहीं, जितना पटवारी-पुलिस से।

शाम को पटवारी अंधे परमा को लाठी से बुरी तरह पीटता है कि उसने अपनी जवान लड़की पर अंकुश क्यों नहीं लगाया है, उसे घर से बाहर क्यो निकलने देता है!

किरपाल भाभर की तरफ भाग निकला था। अतः उसकी बुढ़िया मां को बुलाकर धमकाया कि उस 'सुंगर' को 'हथगेड़ी' लगेगी। गोबिन्दी के साथ बदफेली में लोग-बाग कहते हैं—उसका (किरपाल की मां का) भी हाथ हे। उसे भाग जान की सलाह उसी ने दी थी—इसलिए उस औरतजात को भी अदालत में खड़ा किया जाएगा। उस पर बेइज्जती होगी, सो अलग।

किरपाल की मां थर-थर कांपती रोने लगती हे—दोनो हाथ जोड़े खडी।

एक ठोकर फटे जूते की पधान की नंगी पीठ पर भी पड़ती है कि उस 'नीच जात' की पधानचारी और थोकदारी चली जाएगी। उसने अपने गौं-गिराम में भोटियों जैसा राज चला रखा हे।...उसे भी 'काठ' ठोकना चाहिए!

सवकी खवर लेने के पश्चात् अंत मे गोविंदी को बुलाया जाता है—"कहते हे सारा गांव तूने खराब कर दिया हे!" पटवारी कहता है, "किरपिया हरामजादा इतना बुरा नहीं था। उसे भी तूने खराब किया होगा!...तुझ पर जोबन चढ़ा है तो तू कहीं खसम क्यों नहीं कर लेती...!"

गोविन्दी मिट्टी में समाकर हाथ जोड़ती है कि उसका कोई कसूर नही हे। उसने कुछ भी नहीं किया हे। दिवगत पति के घर उसके लिए ठौर नहीं, इसलिए विवश होकर वृढ़े वाप की देहरी लीप रही है। वह दोनों आंखों से गर-गर आसू ढुलकाने लगती हे...।

"तेरे साथ बुरा सलूक कव हुआ?"

वह कुछ नहीं कह पाती।

"उसके साथ कितने और लोग थे?"

वह चुप रहती हे।

"उस समय तेरा बाप क्या कर रहा था?"

"..."

"तेरा हाथ पकड़कर वह कहां ले गया?"

"...।"

"कितनी देर तक तेरे साथ रहा?"

गोबिन्दी मटके की तरह गूंगी बैठी केवल रोती रहती है।

पटवारी अपने को असमंजस की स्थिति में पाता है। उसकी समझ में नहीं आता, क्या करे। वह जितने जोर से धमकाकर पूछता है, गोबिन्दी उतने ही जोर से बिलखकर रोने लगती है।

पटवारी ने अपने माथे पर आए ठंडे पसीने को पोंछा ओर तय किया कि इस नरह पता लगाना सभव नहीं, इसलिए वह स्वयं जगह का मुआयना करेगा। बिना स्थान आदि का नक्शा बनाए 'रिपोर्ट' तैयार नहीं कर सकता। मामला हर तरह से पेचीदा लगता है। अतः एकात मे बयान लेने, नक्शा तैयार करने के लिए गोबिन्दी क. साथ लेकर जानवरों के रीते बाड़े में जाता है। कागज़-पत्तर भी साथ ले जाना नही भूलता।

अधियारे मे गोबिन्दी बच-बचकर सभल-सभलकर पटवारी के पीछे-पीछे चलती है। पटवारी के हाथ मे लालटेन हे। वह बड़े गभीर भाव से चल रहा है। लोग अपने अधमुदे किवाडों से डर-डरकर झांक रहे हैं। उन्हें आशंका है कि अगर ठीक-ठीक तहकीकात न हुई, तो कल सवकी 'सामूहिक पिटाई' होगी...।

"जव वह स्साला यहा आया, तो तू कहा पर खड़ी थी?" एकान्त घुप्प अंधियारे बाडे मे पटवारी की आवाज गूजी। वह ठिठका। उसके दो कदम पीछे गाविन्दी भी...।

चारो ओर देखता हे पटवारी–कहीं कोई भी मनुष्य दृष्टिगोचर नहीं होता। वह उसे बाड़े के भीतर, पयाल की ढेरी के पास ले जाता है–

"हां, तो तू कहा पर खडी थी?"

गांविन्दी चुपचाप खड़ी रहती है।

"तो उसने फिर तुझे किस तरह पकडा...?"

पटवारी ने लालटेन धीमी कर एक ओर ग्ख दी।

"वह इस तरह से, इस छोटे वाले दरबे से कूदा होगा न!" पटवारी दरबे से विल्ले की तरह नीचे कूदता है।

"फिर उसने तुझे झप्प से, पीछे से इस तरह पकड़ा होगा न!"

वह उसी तरह गोबिन्दी को पीछे से झप्प से पकड़ता है।

"फिर पयाल की ढेरी पर तुझे पटककर लिटा दिया होगा न!"

पटवारी उसी तरह उसे पयाल की ढेरी पर पटककर लिटा देता है।

"तुझसे विवश होकर तब कुछ भी न बन पड़ा होगा न! तू मुंह भींचकर चुप पड़ी रही होगी...!"

गोबिन्दी से चाहकर भी कुछ विरोध नहीं हो पाता। वह मुंह भींचे चुप पड़ी रहती है...।

कुछ क्षण बाद पटवारी अपने कपड़ों पर लिपटी घास झाड़ता हुआ उठता है।

"चलो, मुआयना आज हो गया। नक्शा कल सुबह आकर, स्साला सटवारी खुद तैयार कर लेगा। किरपुआ ने जरूर 'गलती' की है। उसे फांसी की सज़ा हर हालत में मिलनी चाहिए...।"

किसी सीमा तक बात पूरी हो गई है, परन्तु पटवारी के मन की कसर अब तक अधूरी है। इसलिए सुबह-सुबह उसने सारे गांव वालों की पिटाई आरम्भ कर दी है। वह एक-एक कर लोगों को अपने एकांत कमरे में बुलाता है ओर बेरहमी से पीटता है।

इसी 'सामूहिक पिटाई' के दौरान जब आन्देव के गंजे सिर पर ठलम-से लाठी की एक गहरी चोट लगी, तो वह सिर से पांव तक थर-थर कांप जाता है और अपने बहुत-से पैबन्दों वाले, बदरंग पाजामे मे ही तड़-तड पेशाब कर देता है...।

"इस बारे में तुम क्या जानते हो? सच-सच कहना, नहीं तो खाल के भीतर भुस भर दूंगा।" पटवारी एक चांटा मारता है। अगुलियों की गहरी छाप गाल पर छूट जाती है।

आन्देव के कांपते हुए हाथ अपने-आप जुड़ जाते हैं—"सरकार, माई-बाप.. ।"

"सरकार, माई-बाप का बच्चा! सच-सच कहो—यह किसने किया? किसी और ने या किरपुआ ने...?"

"किरपुआ ने तो नहीं...!"

"फिर किसने...?"

"नरदा पधान ने...।"

"नरिया पधान ने किसके साथ...?" पटवारी की आंखें विस्मय से बडी हो आती हैं।

"किसनुवा की ईजा से...!"

"फिर गोबिन्दी का नाम क्यों लगाया था तुम लोगों ने?"

"लोग कहते हैं..." आन्देव कहता है—कांपता-कांपता..." कि गोबिन्दी

ने अपनी गोठ में उन्हें ऐसा करते देखा था।...गोबिन्दी उनकी बदनामी न कर दे...इससे पहले उसी का नाम साक दिया था—सबने।"

कुछ देर 'सुनसानी' रहती है। पटवारी उसकी जांघों पर तड़ाक् से एक प्रहार करता है—"कुत्ते के...! गधे के...! जरूर तेरा भेजा खराब हो गया है। मूरख की संतान, फिर इन लोगों के बीच, मैं पूछता हूं...किरपुआ साला कहां से आ गया...?"

आन्देव को अब कुछ सूझता नहीं कि क्या उत्तर दे। बहुत देर तक वह कांपता, उकडूं बैठा रहता है, फिर सोचता हुआ कहता है—"वह सुबह भाभर चला गया था। इसलिए उसी का नाम 'पाड़ना' ठीक समझा, माई-बाप!"

"वह कुतिया किसनुवा की ईजा अब कहां है? उसे बुलाओ!" पटवारी दांत पीसता है।

"वह तो देवना, अपनी छोटी लड़की के घर चली गई है। जाड़ों भर वहीं रहेगी।"

लात से मार-मारकर पटवारी उसे धकियाकर सीढ़ियों से नीचे गिरा देता है।

कुछ ही क्षण बाद नरदेव पधान को 'हाजिर' किया जाता है। उसके दोनों हाथों पर गाज्यो की रस्सी बंधी है। उसकी नंगी पीठ पर पटवारी सिंसुड़े (बिच्छू का पौधा) की डंडी से झपाझप प्रहार करता है। ज्योंही एक झाल पड़ती है, नरदेव 'उईजाऽ!' कहकर तड़प उठता है।

"साले सूअर, उस समय नहीं कहता था—'उईजाऽ!'..." पटवारी उसे घसीटकर पास लाता है।

"बता, तूने किसनुवा की ईजा से क्या किया?"

नरदेव अपने दोनों बंधे हाथ जोड़ता है—"सरकार, मैंने कुछ नहीं किया!... वह तो मेरी सगी छोटी बहन लगती है।...ऐसा कलपान्त...!" वह रो पड़ता है।

"...तो फिर किसके साथ...?" उत्तेजना और आवेश से पटवारी देखता है।

नरदेव पधान कुछ सोचता है और रुंधे गले से फुसफुसाकर कहता है—"खिलुवा की...बोज्यू...से...!"

पटवारी खिलुवा की बोज्यू को बुलाता है।

खिलुवा की बोज्यू बड़ी हो-हुज्जत के बाद अपने देवर का नाम बतलाती है—नरदेव पधान का नहीं।

फिर खिलुवा की बोज्यू का देवर घसीटा जाता है। वह कहता है—"बोज्यू के साथ तो केवल छेड़खानी किया करता था, असली बात रुखली के

साथ थी...।"

"रुखली अब कहां है?"

"अपने पति के घर...।"

"तुम्हारे अलावा उसके साथ और किसका संबंध था?"

"टिकुवा का।"

"टिकुवा कहां है?"

"यहीं अपने खेत में कट्‌यूल काट रहा है।"

"अच्छा, उस गधे को हाजिर करो।"

टिकुवा रुखली का नहीं, किसी हुड़कियानी का नाम लगाता है—जो अब मर गई है।

पटवारी उस मरी हुई हुड़कियानी के बूढ़े पति को बुलवाता है।

इस तरह तीन दिन के अन्दर सत्ताईस आदमियों की पिटाई कर पटवारी तीस 'नाजुक' केसों का पता लगाने में सफल होता है। सारे गांव वालों को बांधकर हौलात में डालने लगता है, तो सबके कलेजे एक साथ कांप उठते हैं।

हर मवासे से बीस-बीस रुपये इकट्ठे करके पटवारी-परमेश्वर के पांव पूजे जाते हैं।

*

जुंहों-जुंहों कर रात बीती भी न थी कि एक दिन देखा—पधान के आंगन में, देवदार के पेड़ के नीचे, पीला-सा कागज़ लिए चपड़ासी देवसिंह खड़ा है।

लोग कहते हैं—सरकार-दरबार को सच्ची बात पता लग गई है। पटवारी और सरपंच की करनी का खुलासा दुनिया-जहान में हो गया है।...पेशकार और पटवारी में पुरानी लाग है। पेशकार ने ऊपर बड़े 'हाकिम' से कहकर मामला फिर चलवा दिया है।...तहसीलदार और 'कलक्टर' सबको पता है।

और फिर सच ही एक दिन पूरे दल-बल के साथ, नुकीली सफेद मूंछो वाला बूढ़ा पेशकार बचैसिंह आ धमकता है।

फिर से लोगों की पेशी होती है। 'तहकीकात' फिर नये ढंग से शुरू होती है। लंपट पटवारी ने बदमाशी की है—इसे साबित करने पर पेशकर हाथ धोकर पड़ा है, ताकि उसे नोकरी से निकाला जा सके और इलाके में शांति रहे।

सबको बुलाता है। पहले पुचकारता है और फिर सब पर थूकता है।... सबके बयानों में यही रहता है कि पटवारी डरा-धमकाकर एक मोटी रकम 'उघा' ले गया है।...उसने गांव में बकरा खाया है।...बदफैली की है...सबने अपनी आंखो

से देखा है...और एक पिपिया ठरुवा शराब की रीती कर गया है।

"कितने बकरे खाए उस खबीस की औलाद ने?" धधकते अंगारे-सी आंखें दिखलाता हुआ पेशकार कहता है।

"हुजूर, एक बड़ा 'हेल्वान' था और एक 'पाठी'।"

" 'हेल्वान' किसका था?"

"पदिया का...।"

"बुलाओ उस 'बिलेडीफूल' को...!...और हां, 'पाठी' किसकी बतलाई?"

"तल्ले घर चरनियां की।"

"उस 'डैमफूल' को भी हाजिर करो!"

दोनों 'फूलों' को हाजिर किया जाता है। कांपते हुए दो बुत खड़े हो जाते हैं।

"पटवारी को बकरा तुम बदमाशों ने खिलाया था?"

दोनों के गले से आवाज नहीं फूट पाती, तो पेशकार फिर दुहराता है। फिर भी दोनों सहमे-से चुप रहते है, तो पेशकार उबलता हुआ एक साथ उन दोनों पर कूद पड़ता है।

मारते-मारते उसके हाथ थक जाते हैं और वे दोनों मिट्टी के कच्चे फर्श पर बुरी तरह धूल में लिपटे पड़े रहते है, तो वह उन्हें बगल वाले गोठ में बन्द करवा देता है—बाहर से कुंडा ठोककर।

"घूस किस-किसने दी थी?" वह कहता नहीं, दहाड़ता है।

लोगों की टागें कांपने लगती है।

"गंगानन्द ने...।" कोई बीच में फुसफुसाता है।

गंगानन्द न्योते मे किसी दूसरे गांव गया है। रातों-रात उसे बुलवाया जाता है।

"गंगिया के 'ढण्ठ', तूने घूस दी थी?...जानता है, गधे के...घूस लेना और देना, अदालत में बराबर-बराबर जुरम है।"

गंगानन्द कोई उत्तर दे, इससे पूर्व उसके झुर्रियों वाले गाल पर एक तमाचा पडता है। फिर दूसरा...और तीसरा।

उसके मुंह से झाग निकल जाता है। वह बुरी तरह हांफता है—"मैने नहीं. . सबने। सिरकार, पटवारिज्यू हौलात में डालने को कहते थे...मरता क्या न करता... सिरकार...!"

पेशकार कुत्ते के पिल्ले की तरह उसका कान पकड़कर ऊपर उठाता है और उसे भी बन्द करवा देता है।

फिर दूसरों की बारी आती है।

पेशकार उस गोठ का मुआयना खुद करता है—जहां पर कहते हैं, गोबिन्दी के साथ किरपाल ने शरम-बात की थी। गोबिन्दी बाल-विधवा है। असहाय है। अनाथ है। उसके प्रति बूढ़े पेशकार के मन में स्वाभाविक करुणा जागती है।

इस 'जुल्म' के बदले उसका इरादा पटवारी को नौकरी से ही निकलवाने का नहीं, बल्कि दिन-दोपहर सूली पर चढ़ाने का भी है।...अतः गोबिन्दी को अकेले में, अपने कमरे में बुलाकर, पास बिठलाकर सहज आत्मीयता से पूछता है—"पटवारी नौहाल ने तेरे साथ क्या-क्या किया मुला?"

गोबिन्दी सहमी-सी कुछ कह नहीं पाती, तो वह उसके और पास जाता है। उसके सूखे बालों को सहलाता हुआ पूछता है, "बता न, बिटिया, उस कमीने ने कौन-सी हरकत की थी?...कब? किस तरह से...? कितनी बार...?"

गोबिन्दी चुप रहती है। इतनी आत्मीयता का बोझ वह सह नहीं पाती—दुधमुंही बच्ची की तरह अपने घुटनों में मुंह छिपाए चुपचाप रो देती है।

पेशकार का बूढ़ा हृदय पिघल जाता है। उसे और पास खींचकर, हर तरह से उसे सहलाने लगता है, "सरपंच कमीने के...ने भी तेरे साथ जुलम किया। लोग कहते हैं—बदजात पटवारी ने भी...। सरकार को सब पता चल गया है। ...उनको कालापानी की सज़ा होगी।...सरकार उनसे नाराज है। हम नाराज हैं। सब नाराज हैं...मोची से उनकी खाल उतरवाकर उसमें भुस भर देंगे।...और तुझे इनाम देंगे...तू बहुत अच्छे चाल-चलन की है। तू गऊ है।...तू बहुत अच्छी गऊ है।...बहुत ही अच्छी...!"

पेशकार की सांस रुक जाती है...वह उसे पूरी तरह समेटकर उस पर गिर पड़ता है...कटे पेड़ की तरह...।



अहसास

पानी पर पड़ी छाया की तरह एक विचार आता है और ओझल हो जाता है। वह अपलक देखता हुआ कहता है, "कुछ-कुछ बदल-सी गई हो अब... औरत-सी लग रही हो...।"

"पहले कभी लड़की-सी भी लगी, मुझे तो याद नहीं...!" वह हंस देती है।

प्रत्युत्तर में उसे भी हंसना चाहिए। पर वह हंसता नहीं, कुछ सोचता हुआ कहता है, "तुम्हारे माथे पर यह घाव का-जैसा निशान पहले तो नहीं था न!"

वह मौन सहमति देती है।

"कनपटी के पास एक सफेद बाल दीख रहा है...!"

उसे आश्चर्य नहीं होता। जैसे वह बहुत पहले से जानती हो कि उसकी कनपटी के पास एक सफेद बाल है।

"अच्छे ढंग से रहा करो न! तुम्हारा चेहरा गोल है। उसमें ऊपर की ओर संवरे बाल अच्छे लगेंगे...।"

वह जैसे कहीं गहरी सोच में डूब जाती है। सन्नाटा तोड़ती कहती है, "किसे लगेंगे अच्छे?"

"किसी को भी-ई-ई-ई!" वह अटक-सा जाता है, "आई मी-न...मेरा मत-ल-ब! ऐसा कोई जिसके अच्छे लगने-न लगने की तुम्हें चिन्ता हो...।"

वह कुछ नहीं कहती। गंदले पानी में जैसे कुछ टटोलती है। योंही बुदबुदाती है, "एक था तो सही, जिसके अच्छे लगने-न लगने की चिन्ता रहती थी कभी। ...पर आज आठ वर्ष बीत गए। समय के साथ-साथ सब बदल जाता है न। फिर ओहदे का गुमान कोई कम तो नहीं होता।"

उसकी आंखों में तैरता-उतरता कुछ अनायास विलीन हो जाता है। वह सामने बैठे पुरुष की ओर देखती है, जिसकी अंगुलियों में दबी कीमती सिगरेट सुलग रही है।

"मान लिया आठ वर्ष बाद वह एक दिन फिर तुम्हारे पास आए तो तुम कैसा अनुभव करोगी?"

"कैसा ही नहीं!" वह सोचे बिना ही कहती है।

"तुम्हें अच्छा लगेगा न!"

"ना!"

"तो बुरा...!"

"नहीं...!"

"तो...!"

"सच, कुछ भी नहीं। जीवन में एक स्थिति ऐसी आती है, जब आदमी कुछ भी अनुभव नहीं करता।" वह कहते-कहते चुप हो जाती है।

धीरे-धीरे भरे बादलों का-सा भारीपन बिखरने लगता है।

"तुम्हें उसकी विवशताओं पर भी विचार करना चाहिए न!" वह उसके दोनों हाथ पकड़ता है। यों ही सहलाता है, "सचमुच, अब भी तुम्हारे हाथ उतने ही कोमल हैं। अब भी तुम उतनी ही निरीह हो। बाहर से इतनी बड़ी दीखने पर भी, भीतर कहीं पहले क्री-सी बच्ची हो, जो बिना बात हंस दिया करती थी, बिना बात रूठ जाया करती थी और अकारण रो देती थी...।"

वह देखता है—आज भी वह अकारण रो रही है!

एक छोटा-सा घर। दो-तीन तस्वीरें। काली रेखाओं से घिरा एक गुलाब के फूल वाला। चारपाई। टेबुल-लैम्प। कुछ किताबें।...चारों ओर से निगाहें समेटकर वह फिर उसकी ओर असमंजस से देखती है।

"सामान उठा तो लाए, पर सोचा भी कि कितनी तकलीफ होगी। बतलाओ, इस छोटे-से कमरे में कैसे रहोगे!"

"अधिक जगह से क्या करूंगा? इत्ता-सा भी कुछ कम है!"

"पहले भी तो आते होगे दिल्ली! कहां टिकते थे?"

"सरकारी गेस्ट-हाउस या होटल में।"

"तो अब भी वहीं टिक जाते! आज कौन-सी नई बात हो गई थी?"

वह उत्तर नहीं देता। उसकी ओर न जाने किन निगाहों से देखता है। जैसे कहना चाहता हो—घर आए मेहमान से ऐसा कहते हैं।

टाई की गांठ खोलकर हैंगर पर मरे सांप की तरह टांगता है। सिगरेट

का टिन और लाइटर मेज़ पर बिखरी पुस्तकों के ऊपर रख देता है।

वह दरवाजे के पास खड़ी देख रही है। बिस्तरबंद के ऊपर चमड़े की अटैची, कंटिया के ऊपर तौलिया और नीचे कुछ फल पड़े हैं।

"यों ही दरवाजे पर खड़ी मुआयना करती रहोगी या कुछ चाय-पानी भी बनाओगी?"

"चीनी नहीं है, गुड़ की पियोगे?" वह बनावटी गुस्से से देखती है।

"भई, ज़हर पिला दो, पी लेंगे, सच!" वह शरारत से देखता हुआ हंसने लगता है।

चारपाई के ऊपर वह बड़े विश्वास के साथ इस तरह पसर जाता है जैसे उसकी अपने घर की हो। सिगरेट जलाकर धुआं छत की ओर फेंकता है।

सामने से छाया-सी हट जाती है। पास ही कमरे से भरभराने की-सी आवाज आ रही हे। कुछ प्याले, चम्मच और बर्तनों की खट्...खट्...!

मेज़ सरकाकर वह गरम प्याला थोड़ी ही देर में सामने रख देती है, "कुछ पापड़ तल दूं। भूख लगी होगी...।"

"भूख नहीं...।" वह करवट बदलता है, "क्यों, एक ही प्याला!"

"तो क्या पचास पियोगे?" वह शरारत से देखती है।

"पचास नहीं, अपने लिए भी तो लाओ न!"

"मैं चाय नहीं पीती...!"

"तो क्या अभी तक भी दूध...!" वह हंस पड़ता है।

प्याले से भाप की दुहरी लकीर उठ रही है। वह अंगड़ाई लेकर बैठ जाता हे।

प्याला कुछ और आगे किनारे की ओर सरकाता है।

"सच, तुम लोगों के राज में रोटी-कपड़ा तक मुश्किल हो गया है। लोग तुम्हें कभी चोराहों पर खड़ा कर पूछेंगे—बतलाओ, इतने वर्षो तक क्या करते रहे?"

उत्तर में वह जोर से हंस देता है,"तुम तो खाली सौ-दो सौ की अध्यापकी कर रही हो! पॉलिटिक्स में चली जाओ न! अच्छी रहोगी...।"

वह कहती कुछ नहीं, खड़ी-खड़ी सहमे गुस्से से देखती है।

"बैठो भी।"

बैठ जाती है वह।

"क्या सचमुच चाय छोड़ दी!"

"छोड़ी नहीं, दवा पी है अभी! कुछ समय बाद ले लूंगी।"

"तो सिर्फ एक घूंट ले लो न? हमसे अकेले पी नहीं जाएगी।"

वह प्याला सचमुच उसके होंठों से लगा देता है।

नहाने के बाद वह कुछ हल्कापन-सा अनुभव करता है। थोड़ी देर तक अकेला ही ईंटों से पटी, खुरदरी छत पर टहलता रहता है। अशोक होटल के ऊपर अगारे की तरह धधकती तीन-चार बत्तियां दीखती हैं। शतरंज के मोहरों की तरह अलग-अलग खड़े मकान! मकान-ही-मकान!

"यह क्वार्टर तुम्हें अलाट हुआ है?"

"ना, किसी ने लिया है।"

"स्कूल कितनी दूर है?"

"यहीं मार्केट के पास।"

"पैदल जाती हो?"

"जी!"

"यहां तो काफी अर्से से रह रही हो न।"

"जी हां, अम्मा की डैथ यहीं हुई थी...।"

कुछ सोचता हुआ वह पूछता है, "तुम्हारा एक छोटा भाई भी तो था न। हॉकी-प्लेयर।"

"हां, कुलदीप ने नेवी ज्वाइन कर ली है। आजकल कोचीन में है।"

वह मुडेर पर बैठ जाता है।

मरकरी-बल्ब टिमटिमाने लगते हैं। सडकों की चहल-पहल पहले से काफी बढ जाती है और वह अब अंधियारे मे छाया-सी लगने लगती है। वह सोचता है—वह पहले कभी यहा क्यो नहीं आया! और आज अकारण क्यों चला आया। अपने ही मे जैसे कुछ उलझ-सा जाता है। उसे दूर तक पानी-सा दीखता है—पुल के नीचे वहता-सा—और एक बीतती हुई अनुभूति उसे बाध लेती है।

"नहा लिया?" वह उझककर देखता है।

"जी!" उसके यों ही बधे बालो पर से गोल-गोल मोती-सी बूंदें बिथर रही हैं।

"खाने का घर पर ख्याल न करना, हा! कहीं बाहर ले लेंगे।"

"क्यो? मैंने तो अगीठी सुलगा भी ली।"

"तो क्या हो गया। खाना बाहर ही रहेगा। इसी बहाने घूमना-घामना भी हो जाएगा।"

"एक दिन रूखा-सूखा ही खा लोगे तो क्या गजब हो जाएगा।" वह उलाहने से कहती है, "इतने युगों बाद आज रास्ता भूलकर आए हो! पता नही

फिर कब...सच्ची, अब मैं अधिक बचने वाली नहीं हूं, सच।" उसका गला भर आता है। वह धुंधले अंधियारे में अपनी हथेली आगे बढ़ा देती है, "देखो, इससे आगे रेखा ही नहीं–।"

वह देखता नहीं, अनदेखे ही हथेली थाम लेता है।

"क्या बुरा मान गई?"

"नहीं तोऽ...।"

"ऐसा करो, पहले थोड़ा टहल आएं, फिर खाना बनाना।"

वह मान जाती है। कपड़े बदलती है, बालों को संवारती है और तैयार हो जाती है।

नॉट ठीक नहीं। वह उसकी टाई की गांठ ठीक कर देती है। बालों में कंघी कर देती है।

"इतना भी अधिकार मिल गया तो कुछ कम है।"

दोनों एक-दूसरे की ओर पता नहीं किन निगाहों से देखकर मुस्करा देते हैं।

बिना अधिक भाव-ताव किए वह दो साड़ियां खरीद लेता है। गेहूं के डंठल के आकार की सोने की ईयर-रिंग।

"मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता।" वह दबे स्वर में कहती है।

"शीशे में कभी चेहरा देखोगी तो इसी बहाने याद आ जाएगी। क्या बुरा है?"

"पिछले सात-आठ साल से क्या यही बहाना था, याद करने के लिए?"

वह चुप हो जाता है।

बाजार में घूमते-फिरते काफी वक्त गुजर जाता हे। वे लौटने लगते हैं तो वह ठिठक पड़ती है, "कुछ फल-वल ले लेते। शबरी के बेर फिर कहां खाओगे? सुना है बहुत बड़े आदमी हो अब!"

वह तुनककर देखता है। देखता है–वह यो ही मुस्करा रही है।

एक ही थाली में वे छत पर बैठे भोजन करते हैं। शिकायत से कहती है वह कि जल्दी में कुछ वना भी न पाई। सब्जी तक ठीक ढग से नहीं...।

"घर जाकर अपनी श्रीमतीजी से कहोगे न कि उसे तो खाना भी बनाना नहीं आता!"

वह बड़े इत्मीनान से कहता है, "हां!"

कुछ क्षण सन्नाटा रहता है।

"अब कुल कितनों के पापा हो? मेरा मतलब कुन्नू, मुन्नू, टुन्नू आदि-आदि...।"

"बस, केवल दो का।" वह होंठों के साथ-साथ हाथ भी हिलाता हे। दो

अंगुलियां खड़ी कर उसकी ओर देखता है।

"बच्चे तुम पर गए होंगे न!"

"कभी चलकर देखो!"

"किस बहाने आऊंगी? क्या कहकर?"

वह चुपचाप निवाले तोड़ता रहता है।

"कभी अखबार मे विज्ञापन निकलवा देना कि महरी की आवश्यकता है। उसी बहाने आ जाऊंगी। तुम्हारे, तुम्हारी श्रीमतीजी के, तुम्हारे बच्चों के जूठे बर्तन मांज दूगी। सीढ़ियों के पास कहीं दो हाथ जगह दे दोगे न, पड़ी रहूंगी। सच, दो टुकड़े रोटी के अलावा कभी कुछ नहीं मांगूंगी।"

सन्नाटे में सिर के ऊपर से एक हवाई जहाज निकल जाता है। सडको की चहल-पहल कम हो गई है, बहुत कम।

"कहीं विवाह कर लेतीं...जिन्दगी कट जाती...!"

"कट तो चुकी। थोड़ी-सी जो शेष है, वह भी कट जाएगी।"

"मे जब इग्लैड से लौटा, तुम झांसी गई थी। तब से फिर कभी हमारी मुलाकात नहीं हुई न।"

वह कुछ कह नहीं पाती। बिस्कुट की तरह यो ही रूखी रोटी के टुकड कुतरती रहती हे।

"कुलदीप कब से नहीं आया?"

"कोई दो-तीन साल से।"

वह खाकर अधभरे गिलास मे अगुलिया डुबो देता हे। वेसे ही गीली अगुलिया होंठों पर फेरता हे। फिर रूमाल से पोछता हुआ सिगरेट सुलगा लेता हे।

"अब भी क्या बिगड़ा है...?" वह फिर पहले की बात दुहराता हे।

बडी सरलता से वह उत्तर देती हे, "सच, अब कहीं बंधने को जी नही करता!"

"क्यों?"

"क्यों क्या, बस!" वह थाली परे हटाकर आराम से बैठ जाती है, "भोजन का वक्त गुजर जाने के बाद जिस तरह भूख कम हो जाती है—वैसे ही सारी तमन्नाएं मर-सी गई हें। एक बिखराव-सा आ गया है, सच! क्या तुम्हें नही लगता?" वह उसकी ओर देखकर भी जैसे देख नहीं पाती।

चहल-पहल अब और कम हो गई है। लम्बी यात्रा से वह थका हे। अंगुलियों के बीच दबी सिगरेट राख की लकीर बनकर टूट रही है।

"कहां सोना पसन्द करोगे?"

"जहां तुम ठीक समझो।"

"गर्मी कुछ अधिक है। कहो तो छत पर ही विस्तर लगा दूं?"

वह मात्र सिर हिलाता है।

एक चारपाई ऊपर ढोकर वह विस्तर लगा देती है। सिरहाने के पास पानी का लोटा उल्टे गिलासा से ढंक देती है।

सीढ़ियों से फिर हौले-होले नीचे उतरकर कमरे में पहुंचती है। सुराही उड़ेलकर पता नहीं कितना पानी पीती है। बाजार से खरीदी वस्तुओं को उलट-पलटकर देखती है और फिर उन्हें आगन्तुक की अटेची में चुपके से वैसे ही डाल देती है।

उसका माथा न जाने क्यों इतना भारी है? जिस्म टूट-टूट-सा रहा है। इतनी थकान शायद उसने पहले कभी अनुभव न की थी।

हमेशा की तरह आज वह आधी रात तक पुस्तकें नहीं पलटती, करवटें नहीं बदलती, किसी के बारे में बार-बार नहीं सोचती, बल्कि नींद की गोलियां निगलकर बिछौने पर निढाल गिर पड़ती है...।



यह सब 'अ'सम्भव है

मरने के बाद भी वह तीन-चार दिन यों ही पड़ा रहा। मैंने देखा—इतने ही दिनों में उसके बाल और नाखून बहुत बढ़ गए हैं। मुर्दे के भी बाल और नाखून बढ़ते हैं—कभी-कभी यह सोचते ही कितनी विचित्र अनुभूति होती है।

मेरे सामने की खिड़की लोगों ने अब लगभग पूरी खोल दी है। नीम के वृक्ष, वर्किंग गर्ल्स होस्टल, यूक्लिप्टस के पेड़, विद्याभवन, विदेश मंत्रालय के शाही कर्मचारियों के लिए गगनचुम्बी आवासगृह, और फिर बिल्डिगें, बिल्डिगें ही बिल्डिगें...!

दोपहर का सूरज शायद उसी दिशा में, किसी ऊपर उठती हुई इमारत के ऊपर तप रहा है। कहीं-कहीं बारूद के धुएं के बादल ऊपर की ओर उठ रहे हैं। एक अजीब-सा धुंधलका है...।

आसपास की प्रायः सभी इमारतों की खिड़कियां अब खुल गई हैं। हर दरवाजे पर भीड़ का कार्क लगा है। छतों पर शहतीर की तरह खड़े लोग—आशका से, भय से, जिज्ञासा से, उझक-उझककर झांक रहे हैं।

"अश्रुगैस छोड़ने के बाद, पुलिस ने गोली चला दी है", लोग उत्तेजित स्वर में कहते हैं, "कनॉट-प्लेस में भगदड़ मची है। बहुत से प्रदर्शनकारी मर गए। कितनी ही बसें जलकर राख हो गई।"

दूर तक सड़कों के इर्द-गिर्द खड़ी बसें सचमुच जलकर राख हो रही है। जगह-जगह से काला धुआं आसमान की ओर उमड़ता आ रहा है। सड़कों पर लोग चूहों की तरह भाग रहे हैं। स्कूटर, बसें, कारें—पता नहीं एकाएक कहां गायब हो गई हैं।

मैं कुछ खोजती हुई निगाहों से मुड़कर हॉल की ओर देखता हूं—लगभग

सारी सीटें अब खाली हैं। केवल मेज़ों पर मरी पड़ी हज़ारों फाइलें, खिड़कियों से झांकते राख-पुते चेहरे।

एक अनचाही अराजकता, एक अनचीन्हा आतंक!

मुझे याद आता है, ऐसा ही माहौल पहले भी कभी-कभी हो जाया करता था, जब हम पढ़ते थे। आजाद नहीं हुए थे। और तब पन्द्रह अगस्त भी नहीं मनाई जाती थी। परन्तु तब उसके पीछे जोश ही नहीं, जिन्दादिली थी। मर-मिटने की तमन्ना भी। पर अब मन कहीं लगता नहीं। सब जी रहे हैं, इसलिए हम भी जी रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, कोई भी उद्देश्य नहीं।

मुड़कर सीट पर बैठ जाता हूं। खुली, अधखुली गंदी फाइलें, दूर तक पंख फैलाए पड़ी हैं। आज के चालान में आए कुछ पत्र बिखरे हैं, जिनके किनारों पर अस्पष्ट अक्षरों में तारीखें ही तारीखें लिखी पड़ी हैं। एक ऑफिस से दूसरे ऑफिस तक पहुंचते-पहुंचते पत्र पीले पड़ जाते हैं। वे कब, कहां से, किस उद्देश्य से, किसके द्वारा लिखे गए थे, यह बात भी 'इतिहास की बात' होकर भूली जा चुकी होती है।

वस्तुतः यह भूलने की प्रक्रिया बुरी नहीं। इससे बहुत-सी परेशानियों से लोग स्वतः बच जाते हैं। एक छोटा-सा पिंजर 'पत्थर' का पहाड़ नहीं उठा सकता। पत्थर के पहाड़ से 'कागज' का पहाड़ बहुत भारी होता है न!

मैं फाइलें समेटकर एक ओर रखने लगता हूं कि हमारे सेक्शन का चपरासी भजन गाता हुआ आता है। कहता है—सैनी साहब, गजब हो गया!

मुझे 'गजब' शब्द सुनकर, उसके हाव-भाव देखकर, कुछ तो चौंकना चाहिए था, पर चौंकता नहीं हूं।

वह मेरे और पास आता है। उसकी लम्बी घनी मूंछों के ऊपर अटकी लाल आंखें भय से और बड़ी हो आई हैं। वह कुत्ते की तरह हांफ रहा है। हांफता हुआ कह रहा है—लिफ्टमैन लिफ्ट छोड़कर पता नहीं कहां भाग गए हैं! वह सातवीं मंजिल तक की सैकड़ों सीढ़ियां एक ही छलांग में लांघकर आ रहा है...। और—

सरदार पटेल वाले गोल चक्कर पर 'महाभारत' मचा है—वह बतलाता है। पुलिस और साधुओं में खुल्लम-खुल्ला कुश्ती हो रही है। खून से सनी आठ-नौ लाशें सड़क पर पड़ी वह खुद देख आया है। हे परमेसर!

वह गहरी सांस लेता है। चेहरे से वह बेदह थका हुआ लगता है। मेरे आसपास बहुत-सी रीती कुर्सियां पड़ी हैं, पर वह बैठ नहीं सकता, अतः खड़ा रहता है क्योंकि ऑफिस में आदमी और चपरासी के बीच बहुत बड़ी खाई होती है न!

किन्तु मेरी आकृति वैसी ही है। वह मेरी ओर और अधिक आश्चर्य से देखता है कि भयंकरतम दुर्घटना को सुनकर भी मैं चुप क्यों हूं! क्यों मुझ पर कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हो रही है?

सच पूछा जाए तो मुझे अचम्भा होता ही नहीं। जैसे सब सहज और सम्भव हो। वस्तुतः अब विचित्र से विचित्र बात सुनकर भी अचम्भा नहीं होता। सब स्वाभाविक लगता है। इस वैज्ञानिक युग की यही 'देन' क्या कम है।

मैं कभी-कभी सोचता हूं—किसी दिन अगर प्रातः समाचार-पत्र खोलने पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा मिले कि अमुक महाद्वीप कल रात किसी आकस्मिक विस्फोट के कारण समुद्र में डूब गया और बीस करोड़ लोग जलसमाधि ले चुके हैं, तो लोग बड़े इत्मीनान से, इस समाचार को इतना ही पढ़कर, दूसरी कोई आम-चुनाव की खबर या गल्ला-बाजार का भाव देखना आरम्भ कर देंगे और चाय पीने लगेंगे।

चपरासी किंचित खड़ा रहकर, अपना-सा मुंह लटकाए चला जाता है। उसे लगता है कि उसने अपनी 'महत्त्वपूर्ण खबर' किसी गलत आदमी को सुनाकर 'भूल' की है। उसे पश्चाताप होना स्वाभाविक है।

एक खुली फाइल के पन्ने पलटने लगता हूं मैं। पूरी-शीट के एक नीले कागज में किसी हरविन्दर कौर नाम की महिला ने सरकार नाम की संस्था के सम्मुख अपना दुखड़ा रोया है। वह अनपढ़ औरत (जिसने नीचे दस्तखत के स्थान पर मात्र अंगूठा लगाया है) लिखती है कि उसका पति, पिरीतम उसे रोटी नही देता। मारता है। ब्याह के बाद एक बार भी कपड़े नहीं बनवाए। पिछले तीन साल से वह अपने बूढ़े बाप के घर की रोटियां तोड़ रही है। उसके मां-बाप भी अब अधिक सहायता कर पाने में असमर्थ हैं। न्याय के लिए, अदालत में जाने के लिए, उसके पास पैसा नहीं। अतः अब वह क्या करे!

दुखियारी हरविन्दर क्या करे? बिना पैसे के उसे इस जगत में न्याय कैसे मिले? कैसे उसकी उजड़ती हुई घर-गिरस्ती बसे? इस विकट समस्या पर मैं विचार कर ही रहा था कि चपरासी एक 'आवश्यक' फाइल रख जाता है।

मैं फाइल का आकार-प्रकार और उसका जरूरत से अधिक मटमैला, खरगोश जैसा रंग देखकर समझ जाता हूं कि यह केस नटेशन का होगा। नटेशन का चाचा मिनिस्ट्री में है। अतः वह अपने को किसी भी मिनिस्टर से कम नही समझता। हर दूसरे-तीसरे दिन फोन करता रहता है कि उसके योग्य भतीजे की 'डिमांड' हर हालत में पूरी होनी चाहिए। इस ब्रह्मांड में वह जहां भी ट्रांसफर चाहे, वहां के दरवाजे यदि बंद भी हों तो उसके लिए (मात्र कुछ समय के लिए

ही सही) खोल देने चाहिएं।

मैं सोचता हूं—दरवाजा कैसे खुले कि नटेशन भीतर चला जाए और मुझे इस रोज-रोज के झंझट से त्राण मिले, ताकि मैं कुछ दिन और जी सकूं।

अतः 'प्रैसे' में लिख देता हूं—नटेशन को ल्युना नंबर नौ जैसे किसी शक्तिशाली स्पूतनिक में बिठाकर, उसकी इच्छित दिशा में, इच्छित ऊंचाई तक भिजवा दिया जाए, ताकि वह आसमान में से जिस तारे को भी, जब चाहे, एक ही झटके में तोड़ सके।

"नटेशन स्पूतनिक में जाएगा, पर आज मैं घर कैसे पहुंचूंगा?" तांतिया कहता है—"दिल्ली-परिवहन की बसें बंद हो गई हैं। सारा यातायात ठप्प है।" पार्लियामेंट-स्ट्रीट में कर्फ्यू लगा वह अपनी आंखों से देख आया है।

वह 'कर्फ्यू लगा देख आया है' इस निरीह ढंग से कहता है, जैसे किसी चौराहे पर लगा कोई नया साइनबोर्ड पढ़ आया हो।

मुझे बाबुओं की बुद्धि पर तरस आता है। पता नहीं क्यों मुझे लगता है कि दो-चार सौ साल में, इस देश में बाबुओं की एक नई 'जाति' बन जाएगी, जिसके पास सभ्य समाज में बैठने के अधिकार नहीं रहेंगे और तब उस दलित, शोषित जाति के उद्धार के लिए कानून बनेंगे। और समाज-सुधारक प्राणों को हथेली पर रखकर उन्हें मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने का बीड़ा उठाएंगे।

हमारा समाज इतना गिरा हुआ क्यों है कि नित नई-नई मुसीबतें खड़ी करता चला जाता है! इसका परिणाम भुगतना पड़ता है बेचारे बड़े लोगों को। उन्हें बार-बार इसी धरती पर विवश होकर पैदा होना पड़ता है!

वास्तव में यह दोष व्यक्तियों का नहीं, यहां की आबोहवा का है। यहां विद्यार्थियों को कागज़-किताबों के बदले इस्पात के कारखाने की अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। और पुलिस भ्रष्टाचारियों, चोरों को पकड़ने के बदले बेचारे विद्यार्थियों का पीछा करने में, अपने को अधिक गौरवान्वित मानती है।

मैं उठकर कैंटीन की ओर निकल पड़ता हूं, जहां आधा ऑफिस हर समय बैठा मिल जाता है। पर आज वहां ऑफिस बैठा कहीं भी दीखता नहीं। केवल सफेद रीते प्याले ही मेजों पर बैठे हैं। इक्के-दुक्के कुल आठ-दस लोग।

मैं अकेला चाय पीता हूं। देखता हूं—सामने वाले सिरे पर कुछ आदमी खड़े हैं। जोर-जोर से बातें कर रहे हैं कि एक नागा बाबा जुलूस की भीड़ से छिटककर, पता नहीं किस तरह से ऑफिस के भीतर आ गया था। और अभी-अभी कुछ क्षण पहले यहां कैंटीन में बैठा 'एस्प्रेसो' कॉफी पी रहा था।

नागा बाबा के यहां बैठने और एस्प्रेसो पीने में इतना आश्चर्य क्यों? मैं

समझ नहीं पाता। जहां लोगों को भूखा रहने का हक है, बिना दवा-दारू के मर जाने का हक है, बिना अपराध के किसी को भी मार डालने का हक है यानी कि कुछ भी कर गुजरने का हक—वहां किसी को कॉफी पीने का और नग्न घूमने का हक क्यों नहीं होना चाहिए?

मुझे यहां 'बाबुओं' को फिर उनके पिछड़ेपन के लिए कोसना चाहिए था, पर जान-बूझकर कोसता नहीं। केवल सामने की खुली केबिन से बाहर जाते, ठिगने बन्दर-जैसे कैंटीन वाले के विषय में सोचता हूं; जो कुछ ही वर्षों में फूलकर, पेट्रोल के ड्रम की तरह, चारों ओर से बुरी तरह गोल हो गया है।

मोना कहती है—डार्विन अदूरदर्शी था। मनुष्य का सम्बन्ध बन्दरों से जोड़कर उसने अपने को ही हानि पहुंचाई है। बन्दरों और मनुष्यों के बीच कभी कोई रिलेशन रहा हो या नहीं, डार्विन का अवश्य हो गया है। डार्विन का नाम लेते ही बन्दर का चित्र अनायास उभर आता है।

बाहर भीड़ छंट गई है। आज समय से पहले ही सब खाली हो गया है। कहीं-कहीं धुआं अब भी उठ रहा है।

कर्जन रोड से लोग इंडिया गेज की ओर इस तरह से जा रहे हैं जेसे किसी शव-यात्रा का अंतिम सिरा गुजर रहा हो।

ऐंबुलेंस की कुछ सफेद गाड़ियां आहतों को लिए सफदरजंग अस्पताल की ओर भाग रही हैं। घरों को पैदल जाने वाली, काम करने वाली लड़कियों को 'लिफ्ट' देने का इससे अच्छा अवसर कार, स्कूटर वालों को फिर कब मिलेगा।

कहते हैं—बहुत-से आदमी मर गए हैं। किन्तु मुझे सच नहीं लगता। जहा लोग जीना नहीं चाहते, वे मरने का महत्व कैसे समझ सकते हैं। अतः मर ही नहीं सकते। यह सब 'अ'सम्भव है!



फासला

माथे पर रूखे, घुंघराले बाल बिखरे हैं। काली-काली झाइयों से घिरी आंखों मे अजीब-सी रिक्तता है। पुतलियों का गहरा नीला रंग मटमैला लग रहा है। लग रहा है—कच्चा रंग जैसे अभी-अभी धुल-पुंछ गया है।

"पहाड़ से कब आए?" मैं जैसे पूछने-भर के लिए पूछता हूं—मात्र औपचारिकता से।

"अर्सा हो गया...।" उसके सूखे होंठों पर पपड़ी-सी जमी है। सामने की ओर देखकर भी लगता नहीं कि वह कहीं देख रहा है। दृष्टि जैसे शून्य पर निराधार अटक गई हो।

"पहले क्या करते थे...?"

"करता क्या था? काम तो कहीं मिला नहीं। कितनी जगह सिर टकराया, पर हाथ कुछ आया नहीं। बरेली में किसी ने कोयले के टाल में चौकीदारी पर लगा दिया था, परन्तु उन लोगों ने दो महीने बाद निकाल दिया—चोरी का इल्जाम लगाकर ताकि तनख्वाह न देनी पड़े! जमाना ही ऐसा आ गया है।" वह हताश होकर कहता है।

"अब तो सरकार ने पहाड़ों में भी अनेक रोजगार खोल दिए हैं। वहीं कोशिश करते। कुछ-न-कुछ तो हो ही जाता...!" मैं किंचित सोचता हुआ कहता हूं।

"कहीं-कहीं दिखावे के लिए कुछ खोले तो हैं। पर वहां भी उन्हीं की चलती है, जिनकी थोड़ी-बहुत जान-पहचान हो, फिर कोई मुझे काम क्यों देने लगा...!"

"पढ़े कहा तक हो?"

"तीन साल हो गए दसवीं पास किए?"

"आगे क्यों नहीं पढ़ा...?"

वह बड़ी मासूमियत से कहता है, "पढ़ने को मन तो बहुत था, पर पढ़ता कैसे? दो वक्त की रोटी का ही जुगाड़ नहीं था, तो फिर फीस कहां से भरता? किताबें कैसे खरीदता?...इसके अलावा एक मुसीबत और थी, घर में मैं ही था ऐसा, जो कुछ कमा सकता था, मैं पढ़ने चला जाता तो औरों का क्या होता?"

"कौन-कौन हैं घर में...?" मैं पूछता हूं।

"पिताजी को गुजरे सात-आठ साल हो गए। भाई-बहन छोटे-छोटे हैं, मां बीमार रहती है। मुझसे बड़ी एक बहन थी, पिछले साल उसने नदी में कूदकर आत्महत्या कर ली...।"

"क्यों की...आत्महत्या?" मैं अचरज से चौंककर पूछता हूं।

"उसके ससुराल वाले कसाई निकले। बिना बात उसे तंग करते थे। मारते-पीटते थे। दिन-भर काम कराने के बाद भी भरपेट खाना नहीं देते थे।"

"तुम लोगों ने ऐसा न करने के लिए उनसे कभी कहा नहीं?"

"पिताजी तो रहे नहीं। हम छोटे-छोटे, हमारी सुनता ही कोन? उन्हें किसी का डर ही होता तो ऐसा जानवरों जैसा व्यवहार करते?" वह ठंडी सांस भरता हुआ कहता है।

वातावरण तनिक बोझिल होने लगा है, असह्य। मेरी निगाहें उसके धूल से सने, खुरदरे पांवों पर अटक जाती हैं। भूरे रंग की टूटी हवाई चप्पल, जगह-जगह से सिली हुई है। आगे का टुकड़ा टूटकर अलग होने को तैयार है।

"दिल्ली में कब से हो?"

"इस चैत में दो साल पूरे हो जाएंगे।"

"रहते कहां हो?"

"यहीं पास ही, नेताजीनगर में दूर के रिश्ते के एक मामा हैं बी.एस.एफ. में। उनके वरामदे में सिर छिपा लेता हूं। बच्चे उनके पहाड़ में ही रहते हैं, इसलिए चौके-वर्तन का काम कर देता हूं। इसके एवज में दो वक्त की रोटियां मिल जाती हैं। लगता है, वे भी अव मुझसे तंग आ गए हैं। परसों कहते थे—घर से भतीजा आने वाला है, इसलिए कहीं अपना बंदोबस्त कर लो।"

"नौकरी के लिए कहीं कोशिश तो की होगी?" मैं 'होगी' पर अधिक जोर देता हुआ पूछता हूं।

"कोशिश करते-करते तो अब थक गया हूं।" सचमुच वह रोने को हो आता है, "कभी-कभी तो मन करता है कि रेल के इंजन के नीचे सिर दे दूं,

पर जैसे ही घर का खयाल आता है, कांप-कांप उठता हूं। मुझ पर ही उन्होंने सारी उम्मीदें लगा रखी हैं, मुझे कुछ हो गया तो वे सब क्या करेंगे...?" उसकी बुझी-बुझी निस्तेज आंखों के कोर भीग जाते हैं।

मैं पत्नी से चाय के लिए कहता हूं, साथ में कुछ खाने के लिए भी।

चिड़िया की तरह वह प्लेट में से चुपचाप दाल-मोठ और तली हुई नमकीन मूंगफली के दाने बीनने लगता है–सिर झुकाए, निगाहें नीचे किए, उसके रूखे हाथ की सूखी, पतली अंगुलियां कांप-सी रही हैं।

"बड़ी उम्मीद से आया हूं, आपके पास। आपके अलावा हमारी तरफ का और है भी कौन...!" माथा ऊपर उठाकर वह मेरी ओर देखता है।

मैं उसे तरह-तरह से आश्वासन देता हूं कि कहीं कुछ बन सका तो अवश्य कोशिश करूंगा, वह कभी-कभी आता-जाता रहे। उसकी निगाह में कहीं कोई जगह हो तो मुझे सूचित करे। मैं अपनी ओर से भरसक प्रयत्न करूंगा।

इसके कुछ ही दिन बाद, सुबह-सुबह कोई दरवाजा खटखटाता है। द्वार खोलकर देखता हूं, उसका बी.एस.एफ. में काम करने वाला रिश्तेदार सामने खड़ा है। कह रहा है–"सदानन्द का रिंग रोड के चोराहे पर एक्सीडेंट हो गया है। सफदरजंग अस्पताल में अभी-अभी ऑपरेशन होना है। आप चल सकें तो थोड़ा धीरज रहेगा, आपकी कुछ जान-पहचान तो होगी ही।"

सुबह का अखबार परे पटककर, झटपट कपड़े संभालता हुआ, मैं वैसा ही बदहवास-सा बाहर निकल पड़ता हूं।

उसकी हालत सचमुच बहुत नाजुक लगती है। चेहरा एकदम सफेद, ठण्डा, सारे शरीर पर पट्टियां, सामने स्टेंड पर ग्लूकोज की बोतल लटक रही है।

मौत से पूरे छह घंटे तक संघर्ष के बार डॉक्टर उसे बचा पाने में किसी तरह सफल हो जाते हैं।

लगभग दो-ढाई महीने वह अस्पताल में रहा। दो-चार बार फोन से मैं उसके हाल-समाचार मालूम करता रहा।

उसकी बदकिस्मती पर सोचता रहा–इसे कहते हैं भाग्य? जब काम करने लायक स्थिति में ही काम नहीं मिल पाया, तो अब कैसे करेगा गुजारा!

कुछ महीने बाद बैसाखियों पर झूलता हुआ वह फिर मेरे घर आता है। मेरे सामने खड़ा हो जाता है, प्रश्नवाचक चिह्न की तरह।

"क्या हाल है अब?" मैं उसकी ओर देख नहीं पाता।

"सब ठीक हे!" वह मुस्कराता हुआ कहता है।

"कहां रह रहे हो आजकल?"

"यहीं पास ही कृष्णनगर में", कहता-कहता वह सहसा चुप हो जाता है।

मैं भी चुप उसकी ओर देखता रहता हूं।

कुछ ही क्षणों में सन्नाटा-सा छा जाता है—दुर्भेद्य! उसे तोड़ता हुआ पूछता हूं—"एक्सीडेंट हुआ कैसे था?"

"ट्रक से...।"

"ट्रक वाला पकड़ा नहीं गया?"

"नहीं!" वह कुछ सोचता हुआ आगे कहता है, "उसी ने तो मुझे अस्पताल तक पहुंचाया था। वास्तव में उसका कोई कसूर नहीं था!"

"तो फिर...?"

"मैं ही पहिये के नीचे आ गया था—जान-बूझकर।"

"क्यों? क्यों?"

"मरता क्या न करता! जब कहीं जीने का कोई किनारा नहीं दीखा तो मैंने यही रास्ता चुन लिया।"

"मरने का...?"

"जी नहीं, जीने का।" वह बोला, "अपंग लोगों को सरकारी नौकरी में रियायत मिलती है न! देखिए, पिछले महीने से मैं काम पर लग गया हूं। मुझे एक ऑफिस में नौकरी मिल गई है। यदि यह पांव साबुत होता तो शायद अब तक भूखा मर रहा होता या मर चुका होता...।" अपने कटे पांव की ओर देखता हुआ वह ठहाका लगाकर हंस पड़ता है।

मुझे लगता है—वह हंस नहीं रहा, बल्कि दहाड़ मारकर रो रहा है। जीवन में एक ऐसी स्थिति भी तो आती है, जब इन दोनों के बीच कहीं कोई फासला नहीं रह जाता।



आदमियों के जंगल में

"आखिर कुछ तो करना ही होगा!" कंधे के नीचे सरकते पश्मीने को बांहों पर टिकाते हुए उन्होंने कहा, "इतने दिन यहां हो गए, पल-भर के लिए तिनका तोड़ने की बात तुमने कभी सोची? पढ़े-लिखे हो, जवान हो। बताओ, दुनिया में तुम क्या नहीं कर सकते! दिन-रात जब देखो, किताबें! किताबें!! किताबें!!! अखिर क्या होगा इन सूखी किताबों में डूबने से? किताबों के कपड़े पहनकर अपनी इज़्ज़त तो नहीं ढंक सकते! किताबों के पन्ने थाली पर परोसकर पेट तो भर नहीं सकते! जिन्दगी कोरी किताबों से नहीं, पैसे से चलती है, बेटे! नकदनारायण पल्ले न हों! तो उम्र-भर सड़क नापते फिरोगे। इसीलिए कहता हूं हाथ-पांव हिलाओ, कुछ करो। सुना है, तुम्हारा बूढ़ा बाप, बेचारा अब चल-फिर नहीं पाता। किसी दिन दम तोड़ गया तो दर-दर भीख मांगते फिरोगे...।"

आवेश में अवनि काका न जाने क्या-क्या कहते चले गए! जितेन स्तब्ध-सा देखता रहा काठ-सा। पहले जैसा होता तो शायद एक भी शब्द सहन नहीं कर पाता, परन्तु अब जड़-सा हो गया है, हर तरह से।

अजीब-से वीतरागी भाव से देखते हुए, वह चुपचाप आगे बढ़ा। भिड़े किवाड़ धकेलकर अन्दर घुसा। मेज़ के सहारे खड़ा, खिड़की की राह बाहर झांकता रहा। अपलक देखता रहा शून्य-भाव से।

उसे भी कुछ करना चाहिए, उसका भी कुछ कर्त्तव्य है—यह तो सचमुच वह भूल ही चुका था। दूसरों की दया पर पलते-पलते इतने दिन हो गए थे। पिताजी ने हर तरह से हारकर, लाचार होकर, पुरानी मित्रता का लाभ उठाकर उसे यहां भेजा था, ताकि दो रोटी का जुगाड़ हो सके—बुढ़ापे का कुछ सहारा।

सबसे बड़े बेटे के ही लक्षण ऐसे हों तो दूसरों का क्या होगा—यही चिन्ता घुन की तरह उन्हें खाए जा रही थी। उनके जीते-जी, इतना पढ़ाने-लिखाने के बाद भी अगर कुछ न कर सका तो आगे क्या होगा?

वह भी क्या करे! वर्षों की बेकारी ने उसे हर तरह से बेकार बना दिया था। उसे अपने में कुछ भी करने-धरने की सामर्थ्य न लगती। उस पर आए दिन की चिन्ताओं ने उसे बुरी तरह कुण्ठित कर दिया था। फिर वह किताबों में न डूबे तो क्या करे।

"बाबूजी ने आपसे क्या कहा?" अचकचाते हुए उसने मुड़कर देखा—शकुन्त सामने खड़ी थी।

जितेन ने सुनकर भी जैसे सुना नहीं।

"उनकी बात का बुरा न मानिए। पैसे का ही सम्बन्ध सबसे बड़ा सम्बन्ध रह गया है न दुनिया में! बाबूजी हर प्रश्न को इसी दृष्टि से देखते हैं...।" शकुन्त सामने की ओर देखती रही।

कुछ क्षण बाद मुड़कर बोली, "जितेन भैया, एक बात कहूं?"

"कहो।"

"बुरा तो नहीं मानेंगे?"

"ना।"

"कुछ काम-धाम ख़ोज क्यों नहीं लेते! बाबूजी कुछ कहें, या आई (मां) कुछ कहे या बाहर के लोग, सच मुझे अच्छा नहीं लगता। क्या आपको लगता है, जितेन भैया?" जितेन के कंधों को झकझोरते हुए, शकुन्त ने न जाने क्या सोचते हुए कहा। शायद वह कुछ और भी कहने जा रही थी कि बाहर से आवाज सुनाई पड़ी। वह सरपट भागकर ओझल हो गई।

पर, अभी तक भी वैसा ही खड़ा था जितेन, न जाने क्या-क्या सोचता हुआ। उसे खयाल आया—सच ही तो कहते हैं अवनि काका। पिताजी बूढ़े हैं। उम्र-भर मुनीमगिरी करते-करते, दूसरों के तलुवे सहलाते-सहलाते हथेलियां घिस गई हैं। भली-भांति अब चल-फिर भी नहीं पाते। पढ़-लिख भी नहीं सकते। थोड़ा-सा काम करने पर आंखों से पानी झरने लगता है।

इतने दिन बीत गए, उसने भूलकर भी यह बात क्यों नहीं सोची? अम्मा घर में महरी, धोबिन का सारा काम मरती-जीती स्वयं करती रहती हैं। दमे का पुराना रोग है। दिन-रात खौं-खौं कर खांसती रहती हैं। अम्मा के रूखे सफेद बालों पर टिका, जीर्ण धोती का फटा पल्ला उसे साफ नज़र आया। सचमुच उसका दिल भर आया।

दूसरे दिन अवनि बाबू के कमरे में दाखिल होता हुआ जितेन बुदबुदाया, "बतलाइए काका, मैं क्या करूं?"

अपने चश्मे की ओट में छिपी आंखों से अवनि बाबू उसकी ओर ताकते रहे—एड़ी से चोटी तक। एक पढ़ा-लिखा नवयुवक। ऐसा प्रश्न?

"कहीं एप्लाई करो। अखबारों में विज्ञापन देखो। लोगों से मिलो...पर हां, तुम्हारी 'एज' क्या है?"

"एज!" माथे पर पड़ी सलवटें सहलाता हुआ जितेन बोला, "यही तो मुसीबत है। ओवरएज हो गया हूं, काका! सरकारी काम का तो रहा नहीं।"

'बरखुरदार, किसी भी काम के नहीं रहे तुम!' अवनि काका कहना चाहते थे, लेकिन चुप रहे। फिर पश्मीने को बांहों पर से संभालते हुए बोले, "तो प्राइवेट कोशिश करो : कुछ पते मैं दे दूंगा।"

जितेन चुप रहा।

वह भी चुप रहे।

जितेन जब जाने लगा तो उन्हें सहसा कुछ याद आया, "अच्छा देखो, जब तक काम ढूंढो, एक घंटा बच्चों को ही दे दिया करो। शन्तू के इम्तहान करीब हैं।"

"अच्छा!" जितेन चुपचाप चला गया।

शाम को बस्ता बगल में दबाए शकुन्त कमरे में दाखिल हुई, "आप पढ़ाएंगे? बाबूजी ने कहा है।"

"हां, पढ़ाना तो है, लेकिन मुझसे पढ़ाया भी जाएगा? अब मैं सब-कुछ भूल गया हूं। कुछ भी तो याद नहीं।" बाल-सुलभ भोले भाव से वह बोला।

"क्यों नहीं पढ़ाया जाएगा? लेकिन, जितेन भैया, अब मैं पढ़ना नहीं चाहती।"

"क्यों?"

"क्यों क्या? बस यों ही।"

"तो क्या चाहती हो?" जितेन ने उसकी ओर देखते हुए पूछा।

"बताऊं...?"

"हां, बताओ।"

"बस, मर जाना चाहती हूं, जितेन भैया।" शकुन्त जैसे रोती-रोती अकारण खिलखिलाकर हंस पड़ी।

जितेन ने किताब हाथ में ले ली और सरसरी निगाह से देखने लगा कि उसे पढ़ाना क्या है। कुछ पन्ने पलटने के पश्चात् जैसे ही वह कहना चाहता

था कि अब पढ़ो, शकुन्त चहक उठी—

"जितेन भैया! जितेन...!"

"क्या है?" विस्मय से उसने देखा।

"देखो न, आपकी कमीज की सारी आस्तीन साफ हो गई। अब कल से क्या पहनेंगे?" उसने पास पड़ी कमीज खींचकर थोड़ी-सी और फाड़ दी।

जितेन देखता रहा—शकुन्त चारपाई की पाटी पर बिल्ली की तरह सिमटी बैठी है और फटी आस्तीन की ओर देख रही है।

"बैठो, पढ़ो न!" उसने खीझकर कहा।

पर शकुन्त ने जैसे सुना ही नहीं।

"अरे, सुनती नहीं?" और ऊंचे स्वर में जितेन बोला।

शकुन्त इस बार सच ही सामने बैठ गई—नन्हीं बच्ची की तरह।

"पढ़ोगी नहीं?"

"ना।"

"क्यों?"

"क्या पढ़ूं?" उसने मुंह बनाते हुए कहा, "सुबह-शाम, कॉलेज-घर...जब सुनो—पढ़ो, पढ़ो, पढ़ो! सच, मुझे नहीं पढना है, जितेन भैया, माफ करो। आखिर क्या होगा इन सूखी किताबों में डूबने से? किताबों के कपड़े पहनकर हम अपनी इज्जत तो नहीं ढंक सकते! किताबों के पन्ने थाली पर परोसकर पेट तो नही भर सकते। किताबों का घर बनाकर, सिर टिकाकर रह तो नहीं सकते। जिन्दगी कोरी किताबों से नहीं...।" शकुन्त बड़ी गंभीर, बनावटी मुद्रा में हंसी रोकती हुई बाबूजी का सारा सवाद शब्द-शब्द दुहरा गई।

जितेन देखता रहा।

फिर वह हाथ जोड़ती हुई बोली, "माफ करो, जितेन भैया, पढ़-लिखकर क्या होगा, देख लिया।"

"क्या देखा?"

"यह!" मुस्कराती हुई शकुन्त बोली, "आस्तीन साफ हो गई। तलुवे घिस गए!" वह हंस पड़ी। न चाहते हुए भी उसकी शरारत पर जितेन हंसे बिना न रहा।

शकुन्त फिर चारपाई पर बैठ गई। सुई-डोरा लिए कमीज सिलने लगी, जितेन की ओर पीठ फेरकर।

जितेन की समझ में नहीं आ रहा था कि वह इस ढीठ लड़की का क्या करे? हारकर वह भी चुपचाप बैठ गया और फिर किताबों में खो गया।

बहुत देर बाद उसने देखा—शकुन्त चली गई है। पर सारा कमरा सुव्यवस्थित है। किताबें करीने से लगी हैं। हैंगर पर लटकी कमीज की आस्तीन ठीक है। बटन ठीक हैं। बिखरे कागज के पन्ने सब एक साथ बंडल में बंधे हैं। अखबारों की गड्डी एक कोने में धरी है। जूते के फीते ठीक ढंग से चढ़ गए हैं।

सुबह कॉलेज जाती हुई वह फिर सामने आ खड़ी हुई।

"जितेन भैया, अभी तक आप पढ़ने में लगे हैं। सूरज माथे पर चढ़ आया है।"

जितेन ने अपराधी की तरह उसकी ओर देखा, जैसे सच ही भूल हो गई हो।

"आपको एम्पलायमेंट एक्सचेंज जाना था न आज!"

वह भूल ही गया था कि उसे कहीं जाना भी है। अतः वैसे ही बोला,"हां।"

"देखा है आपने?"

"नहीं।"

"तो किसी से पूछा?"

जितेन क्या उत्तर देता!

शकुन्त ने पर्स में से एक कागज निकाला, जिसमें घर की देहरी से एक्सचेंज के गेट तक का नक्शा पेंसिल से खिंचा था। उसके ऊपर उसने चुपके से एक रुपए का नोट भी रख दिया।

"यह क्या...?"

"कुछ नहीं।"

"क्यों?"

"आई ने जेब-खर्च के लिए आज दो रुपए दिए थे न!" आठ-बारह आने में अपना गुजारा चल जाता है। अधिक से क्या करूं?"

जितेन कुछ कहना चाहता था, पर कह न पाया।

कुछ दिन इसी तरह पद-यात्रा करता रहा। अंधियारे बादलों के बीच में सुनहरी रेख कभी चमकती, कभी ओझल हो जाती। जितेन का जूता जवाब दे गया। चुपके से शकुन्त ने अपने जेब-खर्च के बचे-बचाए पैसों से एक चप्पल खरीदकर रख दी। कमीज सिलाई की सीमा से बाहर हो गई तो कपड़ा लाकर, अपनी सहेली के घर सिलाकर, आई-बाबूजी की निगाहें बचाकर, जितेन के कमरे में टांग दी।

जब भी जितेन काम ढूंढने के लिए जाता, जब भी शकुन्त उसके कमरे में आती हमेशा दुहराती, "जितेन भैया, कहीं काम-काज ढूंढो न फुर्ती से। ताई को भी यहीं बुला लेंगे। सब साथ रहेंगे।"

एक दिन एक पत्र आया। जितेन अभी तक लौटा न था घर। शकुन्त ने उलट-पलटकर ध्यान से देखा—महिला की राइटिंग लगती है। जितेन के कस्बे के डाकखाने की मोहर है। शकुन्त अपने को खत खोलने से रोक न पाई।

लिखा था टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में—"भैया, आप पत्र क्यों नहीं देते? हम हर रोज डाकिए की राह देखते है। पिताजी अब काम पर नहीं जा सकते। अम्मा अक्सर बीमार रहती हैं। कहती हैं—जितेन को कहीं कुछ काम मिले तो उसके पांव उलझे देख...हम हर रोज प्रतीक्षा करते हैं—कब भैया को काम मिले, कब भैया घर आएं, कब भाभी...!"

पत्र पढ़कर देर तक आंखें मीचे, शकुन्त न जाने क्या-क्या सोचती रही! इतने में चप्पल की आइट आई बाहर से। देखा—जितेन हमेशा की तरह मुंह लटकाए आ रहा है।

"देर हो गई आज!" माथे का पसीना पोंछता जितेन स्वयं ही बुदबुदाता हुआ बैठ गया।

शकुन्त ने पत्र आगे बढ़ा दिया।

जब वह पढ़ चुका तो शकुन्त ने कुछ सोचते हुए कहा, "जितेन भैया, आप ब्याह क्यों नहीं कर लेते?"

एक बार जितेन ने भरपूर उसे देखा, एड़ी से चोटी तक। फिर व्यंग्य भाव से मुस्कराया।

"हंसे क्यों?" कुछ लजाए स्वर में शकुन्त बोली।

"यों ही।"

"फिर भी।"

"बस, यों ही।"

"बताओ भी न, बस यों ही क्या?"

"क्या बताऊं?" जितेन पास रखे अखबार से पंखा झलने लगा। तनिक सोचता हुआ बोला—"एक आदमी की आंखें सावन-भादों के महीने में निकाली गईं न, शकुन्त!"

"तो!" शकुन्त ने उसकी ओर देखा, जिज्ञासा से।

"तो क्या, उसके बाद जब कभी कोई उससे पूछता—क्यों भाई, कैसा दीखता है! जानती हो वह क्या उत्तर देता?"

शकुन्त अवाक् उसकी ओर देखती रही।

वह अट्टहास कर हंस पड़ा, "सो हाल है तुम्हारा।"

बहुत दिन इसी तरह बीत गए। एक दिन एकान्त में बुलाकर अवनि काका ने कहा, "बेटा, यहां काम-काज के आसार दीखते नहीं। अच्छा है तुम घर जाओ। सुना है तुम्हारे पिताजी की तबीयत खराब है।"

"अच्छा...!" कहकर जितेन अपने कमरे में चला आया।

देर तक उदास बैठा रहा—न जाने किस आल-जाल में उलझा-सा! तभी शकुन्त भागती हुई आई, "जितेन भैया...जितेन...!"

देखा—जितेन की आंखों में आज गहरा काला रंग है। चेहरा एकदम फीका-पीला!

शकुन्त ठिठक पड़ी।

"जितेन भैया!" दबे स्वर में बोली।

"क्या?" बिना उसकी ओर देखे जितेन ने कहा।

"आज उदास क्यों हैं?"

"नहीं तो?"

"आप झूठ बोलते हैं।" शकुन्त और पास आ खड़ी हुई।

जितेन चुप रहा। शकुन्त उसकी ओर देखती रही।

"कुछ काम मिला?" मोन बेधती बोली वह।

"मिल गया।"

"कहां?"

"यहीं।"

शकुन्त खिल उठी, "क्या काम?"

"बस, ऐसा ही।"

"तो कल से काम पर जाओगे न।" शकुन्त ने मुस्कराकर कहा।

"हां!"

"नहीं, जितेन भैया, आप ठगते हैं। यों ही ठगते हैं!" जितेन की ओर वह निर्निमेष ताकती रही।

जितेन कुछ भी बोल न पाया। किसी भी तरह नहीं। शकुन्त ने हज़ार बार पूछा, लाख बार पूछा, तब भी नहीं। अतः वह रूठकर बाहर चली गई।

उसके बाद जितेन ने फिर किसी से कोई बात न की। हर समय वह एकांत में बैठा रहता। न पढ़ता-लिखता, न घूमता-फिरता, न बोलता-चालता।

खाना रख दिया तो खा लिया, नहीं तो वह भी नहीं।

जितेन भैया को क्या हो गया है। शकुन्त की समझ में न आता।

कॉलेज से लौटते हुए एक दिन उसने देखा—बाबूजी, आई, नौकर-नौकरानी सब खड़े हैं। जितेन का सारा सामान बिखरा पड़ा है बाहर। मुंह लटकाए जितेन चुप खड़ा है। कोई कुछ बोलता नहीं। सभी मौन साधे हैं।

अपनी फटी दरी में मैला कंबल लपेटकर जितेन ने अपनी बगल में दबाया। पुरानी तार-तार फटी कमीज, पुराना बिना तलुवे का जूता यों ही पहना। फिर नीची निगाहें किए बाहर की ओर निकल पड़ा।

शकुन्त देखती रही—जितेन के कपड़े बुरी तरह फटे हैं। घुटने छिले हैं। एकाध जगह से लहू टपक रहा है।

"चलो, सुकर करो...!"

"मुसीबत गई। पगला किसी दिन कुछ बिचपात करता जरूर।"

"अरे, कर तो रहा था। हाथ उठाता था। नौकरों ने पीटा, नहीं तो न जाने क्या कर बैठता।"

शकुन्त ने जैसे कुछ सुना नहीं। लपककर वह छत की ओर गई।

देखा—जितेन, आंखें मींचे, भरी दुपहरी में, सड़क पर चला जा रहा है। कुछ बच्चे उसके पीछे-पीछे भाग रहे हैं। उस पर पत्थर फेंक रहे हैं। ढेले उछाल रहे हैं। पर, जितेन को जैसे कुछ भी सुध नहीं।

'जितेन भैया, ऐसे कहां जाओगे—कहां?' शकुन्त पुकार-पुकारकर पूछना चाहती थी। पर शब्द कण्ठ में ही अटककर रह गए। केवल बेबस, अपलक ताकती रही वह—जब तक एक काली छाया-सी आदमियों के घने जंगल में ओझल न हो गई।



भेड़िए

मछेरा जैसे जाल समेटता है—वह निगाहों का पैमाना छोटा कर लेती है। एक बिन्दु की परिधि एक दुनिया समा लेती है...।

"आज पहला दिन है।" किसी का भारी हाथ कटकर उसके कन्धों पर गिरता है, "कुछ तो रहम करो बेचारी फाइलों पर। इनसे आज का ही नहीं, अब उम्र भर का वास्ता है।" मिस अनिल सामने खड़ी है। अकारण मुस्करा रही है।

अनिल उसे किसी फिल्म एक्ट्रेस जैसी लगती है—भारी...नाटी...कुछ-कुछ मूंछों वाली...। आज लेडीज़-रूम में मंजीत ने उसका परिचय कराया था।

अनिल ने हाथ मिलाया। सहलाया। दबाया और हौले-से शरारत से चूम लिया।

"तुमने माइण्ड तो नहीं किया?"

नन्दिता कुछ न कह पाई थी।

"तुम मेरी बेटी की उम्र की हो। भले ही मेरी मैरेज नहीं हुई तो क्या हुआ...।"

हरविन्दर हंसती है, "मिस अनिल की मूंछों का भी तो कुछ लिहाज करो!"

सब हंस पड़ती हैं।

कोई मिस अनिल के कन्धों पर हाथ रखती है, "रियली, डेली शेव करती हो?" फिर सम्मिलित ठहाका।

कोई वाश-बेसिन से परे खड़ी है। किसी दूसरी के कान में कुछ फुसफुसा रही है।

नन्दिता समझ जाती है। उसका एक हाथ कटा है। उसी की बात है...।

"आइए, बैठिए न।" वह फाइल परे हटाकर कहती है। बगल की खाली कुर्सी कोई अपने मेहमानों के लिए खिसका ले गया है। अतः रैक की फाइलों पर ही अनिल बैठ जाती है। फाइलें बुरी तरह कुचलकर दब जाती हैं।

"काम कैसा है?"

"ऐसा ही...।" होंठों की सिकुड़न के साथ-साथ वह हाथ हिलाती है, "बोरिंग...।"

"कुलीग!"

"ठीक हैं।"

"और असिस्टेण्ट...?" उसकी पलकें बड़ी हो आती हैं। "मिसेज़ कपूर ने उसे बड़ी लिफ्ट दी।" वह कहना चाहती है, पर कहती नहीं।

"ठीक है।"

"ठीक नहीं अच्छा...।"

"अच्छा-वच्छा क्या।" नन्दिता कहती है, "सुबह से पांच दफा चाय मंगा चुका है।...लोफर जैसा लगता है।...नई फाइल में टैग बांधने को कहा। मुझसे एक हाथ से ठीक ढंग से बांधी न गई, तो घोड़े की तरह मुंह फाड़े हंसने लगा, "तुम्हें तो नाड़ा बांधना भी नहीं आता, मिस...।"

मिस अनिल हंस पड़ती है, "और क्या कहा?"

"कुछ नहीं।"

"हाथ-वाथ तो नहीं दबाया अभी?"

नन्दिता सशंकित दृष्टि से देखती है, "न्ना।"

"वाणिज्य-विभाग.का 'बायरन' है यह। बचकर रहना...। इसका कोई दीन-ईमान नहीं, कब क्या कर बैठे!"

नन्दिता चुप हो जाती है, जैसे बचकर रह गई हो।

उसका बायां कटा हुआ हाथ साड़ी के पल्लू से हमेशा की तरह छिपा है। दाएं हाथ को मेज पर रखे, पिन से ब्लाटिंग-पैड पर टिक्-टिक् छेद कर रही है।

"हाथ काले क्यों कर लिए?" मिस अनिल उसकी हथेली में डाकखाने की मुहर लगाने वाली काली चिकनी स्याही का निशान जैसा देखकर पूछती है।

"उस कलमुंहे डीलिंग-क्लर्क ने काले कर दिए।" वह सरोष कहती है।

"कैसे?"

"कैसे क्या!" विचित्र वितृष्णा से नन्दिता कहती है, "सर्विस-सीट परद पर्टिकुलर्स लिखने के बाद अंगूठे का निशान लगाया। फिर हर अंगुली का अलग-अलग। मुझसे कहने लगा तुम्हें अंगूठा लगाना भी नहीं आता! यों दबाओ—यों...! एक-एक कर फिर मेरी अंगुलियों को दाईं से वाईं ओर सर्विस-सीट पर खुद ही दबाने लगा। मेरी साड़ी पर भी एक डोग लग गया। मैंने खीझकर देखा, तो मुस्कुराने लगा—साड़ी

पर कोई बात नहीं, कालिख मुंह पर नहीं लगनी चाहिए...। बेशरम!" नन्दिता मुंह बिदोरकर देखती है और मिस अनिल पिन की नोक से दांत कुरेदती मुस्कराती है।

"अभी तीन भी नहीं बजे!" नन्दिता अंगड़ाई लेती है, "कैसे साढ़े पांच बजेंगे! कैसे दिन कटेगा! इस माहौल में कैसे जिन्दगी बीतेगी...।" उसकी आकृति उदास हो जाती है।

मिस अनिल चली जाती है। नन्दिता साड़ी में छिपा कटा हुआ हाथ देखती है—जैसे एकान्त में अपने मन की गहरी गुप्त बातें अनायास उभर आती हैं...।

उसका मन गहरे में डूब जाता है।

अपना बायां हाथ वह हमेशा साड़ी में छिपाए रखती है। न जाने क्यों उसे विचित्र-सा लगता है। किसी को भी जाने या अनजाने वह इसका आभास नहीं होने देना चाहती। भले ही इसी कारण से उसे सर्विस में रखा गया है कि वह 'विकलांग' है, नहीं तो भर्ती कब से बन्द है। सरकारी दफ्तरों में इमर्जेन्सी के बाद नौकरी मिलना और भी कठिन हो गया है—असम्भव-सा।

वह फिर फाइल पर पुते अक्षरों को पढ़ने लगती है। सूझ नहीं पाता—यह कोन-सा केस है? कहां से आरम्भ होकर कहां पर समाप्त होता है?

असिस्टेण्ट ने सुबह चाय के साथ-साथ बर्फी भी खिलाई थी। 'मिस नन्दिता' कहकर बनावटी ढंग से होंठों को सिकोड़कर दो-तीन बार बुलाया भी था। और अब फिर किसी फाइल के साथ वह बुला रहा है।...पूछ रहा है, उसके कुल कितने भाई-बहन हैं...? कहां रहती है...? किस बस से जाती है...? उसे बड़ा आश्चर्य होता है यह जानकर कि उसकी बड़ी बहन अब तक कुंवारी है...। फिर वह उसकी उम्र के बारे में पूछता है और फिर यह भी पूछना नहीं भूलता कि दिन-भर घर में पड़ी-पड़ी क्या करती है...? किसी दिन वह अपनी बहन के साथ उसके घर आए तो अच्छा रहेगा। वह उसकी बहन को लेकर अपने दोस्त के घर जाएगा और फिर कहीं न कहीं नौकरी पर भी लगा देगा...।

काठ की वर्गाकार मेज पर पानी की बूंदें बिखरी हैं। पानी-भरे तीन गिलास। टिन की दो कुर्सियां मुंह बाए रूठी हैं।...नीचे रेलवे प्लेटफॉर्म की तरह लोगों का शोरगुल है। केबिन में इस समय और कोई नहीं है।

"इससे पहले कहां थीं?"

"किसी प्राइवेट कॉलेज में।"

"किस पोस्ट पर?"

"ऐज ए क्लर्क...।"

"चाय में चीनी कितनी लेती हो?"

"एक चम्मच—बस्।"

"यहां का माहौल ऐसा ही है।" मिस उपाध्याय की आवाज है, "सब सर्कमस्टेंसेज हैं। कौन नहीं चाहती, उसकी एक गृहस्थी हो, फूलता-फलता एक सुखी परिवार हो।...पति ऑफिस से आए, तो वह घर की देहरी पर प्रतीक्षा में खड़ी रहे। किन्तु सारा ढांचा ही अब बदल गया है। जिन्दगी एक व्यवसाय बन गई है...!" वह एक गहरी सांस लेती है।

नन्दिता कुछ कहती नही। जिज्ञासा से उसकी ओर ताकती रहती है।

"सुमन और बूढ़ी असिस्टेण्ट सोबती के चक्कर से बचना। उनकी सोहबत में बिगड़ जाओगी।...ऐसी कोई रात नहीं, जिसे वे घर पर बिताती हैं। परसों प्रभा कहती थी, कनॉट-प्लेस के रीगल वाले बस-स्टॉप पर सुमन रात के ग्यारह बजे खड़ी थी। तभी एक टैक्सी रुकी। दो आदमी पता नहीं उसे कहां ले गए ...डेढ़ सौ रुपए महीने की नौकरी में दो-दो सौ की साड़ियां कहां से पहनी जाती हैं...?"

नन्दिता को यह सुनकर अचरज नहीं, अजीब-सा लगता है। मिस उपाध्याय के साथ-साथ वह कैण्टीन से आती है...। मिस उपाध्याय को सब 'मीरा' कहती हैं। कहती हैं कि उसके गिरधर नागर किसी ऐंग्लो-इंडियन लडकी से इसी पिछली मई में चर्च में जाकर ब्याह रचा चुके हैं। किन्तु वह अभी तक भी अपने को उन्हीं' की मानती है। ज़हर का घूंट अमृत मानकर पीती है।

ऑफिस पहुंचकर मिस उपाध्याय को अपने कमरे में चला जाना चाहिए था, पर वह जाती नहीं, नन्दिता की सीट पर बैठ जाती है। उसे नन्दिता बछिया-जैसी निरीह लगती है।

कुछ क्षण चुप रहकर वह सामने की सीट की ओर इंगित करती है। नन्दिता समझ नहीं पाती।

"आज सेटरडे है न! कल फुल सन-डे मनाया जाएगा।...गंजी टांट वाला बूढ़ा पडित भी साथ जाएगा। (उसका तात्पर्य ए.ओ. से था) कोमलसिंह अपना सफारी बैग, कम्बल, कोट, सारा 'किट' उठाकर लाया है। देख रही हो न सामने! आज मेरिना या किसी दूसरे होटल में रात कटेगी। जगह भी तो चाहिए न!...एम. को सबने खराब कर दिया है। तीन-तीन चार-चार साथ जाते हैं...।"

नन्दिता की पलकें फैल-सी जाती हैं। टाइपिंस-सेक्शन की ओर उपाध्याय

चली जाती है। नन्दिता फिर फाइलों की ओर देखती है। फिर घड़ी की ओर। उसे लगता है, फिर वह अकेली रह गई है...।

सामने की पांचवीं सीट पर सुमन चहक रही है। बड़े भद्दे ढंग से हाथ हिला रही है। हंस-हंसकर बातें कर रही है। उसके बाहर की ओर उभरे मसूड़े बड़े भद्दे लगते हैं। छाती बच्चों वाली औरत की तरह भर आई है। नितम्बों का भार सम्भाल नहीं पा रही है। अभी उम्र ही क्या है। वह झटके से गरदन हिलाती है।

"जमीन से जितना ऊपर दिखती है, उससे ज्यादा जमीन के भीतर है।" कोई पिछली सीट पर बातें कर रहा है।

"देख तो ठाकुर, तेरी चाची कैसे कूल्हे मटकाकर चल रही है। मछली के कटे हुए लाल टुकड़े जैसी वीभत्स लग रही है।"

नन्दिता सारी फाइलों की धूल झाड़ती है। उन्हें करीने से लगाती है। सारे लेटर्स एक पैड में बांधती है। सीट को साफ करती है, जैसी तुलसी का चौरा ठीक कर रही हो।

मां की बातें उसे फिर याद आ रही हैं, जो उन्होंने आज सुबह फिर कही थीं, "सुन जल्दी आना! हां, तुम देर से लौटती हो तो मेरा खून सूखने लगता है। हमें तुम्हारे पैसे का मोह नहीं, पर जिन्दगी गुजारने के लिए कोई सहारा तो चाहिए न! मां-बाप कब तक रहते हैं। हम गुजर गए, तो क्या करोगी?"

वह अपने बित्ते-भर के रूमाल से पैड के तिकोने किनारे साफ करती है।

असिस्टेण्ट पास से गुजर रहा है, "तुमने तो सचमुच सीट चमका दी!"

"जी नहीं, ऐसे ही कुछ ठीक-ठाक कर दिया।"

"मेरी बात का बुरा तो नहीं मानतीं !"

"नहीं, सर! आप मेरे पिताजी के समान हैं। जो कुछ कहेंगे, सब मेरे भले के लिए ही तो न!"

उसे झटका-सा लगा। जिस गहराई से, जिस सहजता से, उसने यह सब कहा, वह कल्पना भी नहीं कर सकता था।

सवा पांच पर वह सीट से बैग थामे उठ ही रही थी कि चपरासी ने बताया, साहब बुला रहे हैं।

वह डरी-डरी-सी बैग थामे सुपरिण्टेण्डेण्ट के कमरे में जाती है।

"काम आ रहा है समझ में?"

"जी हां।"

"एक हाथ से काम चल जाता है?"

"जी!"

"कुछ परेशानी हो तो कहना! आइ विल हेल्प यू...।"

नन्दिता सिर हिलाती है—कृतज्ञता से।

वह चलने लगती है, तो फिर सामने से स्वर आता है, "कभी हमारे घर आओ न, आजकल हम अकेले हैं!"

"क्यों नहीं आऊंगी, सर!" बड़े सरल भाव से नन्दिता कहती है।

उसे बड़ी कोफ्त होती है—यह लड़की कैसी है—बुद्धू!

लेडीज़-रूम में सब अपने होंठों को पोतने, बाल और साड़ी के पल्लू ठीक करने लगती हैं। जैसे बाहर फैशन-परेड की तैयारी हो।

कोई आंखों पर जल के छींटे डाल रही है, "तुम्हारे केस का क्या हुआ?" दूसरी से पूछ रही है।

"कौन से केस का?"

"वही, फरीदाबाद वाला...।"

दोनों खिलखिलाकर हंस पड़ती हैं।

"यह साड़ी कैसी पहन रखी है, मिस नन्दिता! कितनी रफ है!" अपनी इम्पोर्टेड साड़ी पर फाल देती हुई सुमन कहती है।

नन्दिता कहती नहीं कुछ, हंस भर देती है।

"शाम का क्या प्रोग्राम है?" किसी ने अपने बया के घोंसले जैसे बालों को दूर से ही सहलाया।

"कोई खास नहीं।"

"सीधी घर जाती हो?"

"हां।"

"काफी फ्रेश लगती हो! मुंह पर कौन-सा क्रीम लगाती हो?"

"कोई नहीं।"

"आज कॉफी लो न हमारे साथ...!"

"कॉफी कड़वी लगती है।" नन्दिता मुस्कराती हुई कहती है।

"इस उम्र में तो ज़हर भी मीठा लगता है, डियर!" वह हंसती हुई मिस उपाध्याय की तरफ देखती है। फिर छोटे-से रूमाल से होंठों को पोंछती हुई कहती है, "तुम्हारे गिरधर नागर के क्या हाल हैं?"

"किस गिरधर नागर के!" कोई पास ही शीशे में अपनी आकृति ठीक करती हुई बीच में बोल पड़ती है।

"मीरा के, नागर नम्बर नौ के!"

सब हंसने लगती हैं। मिस उपाध्याय झेंप जाती है।

नन्दिता शीशे में नहीं देखती। मोर की निगाह अपने पांवों पर जाती है, वैसे ही उसकी पलकें भी कहीं अटक जाती हैं।

वह भीड़ के साथ बाहर आती है। बर्र के छत्ते पर जैसे अंगारा गिर पड़ा हो—सब इधर-उधर, अपनी-अपनी दिशा में बिखरने लगती हैं। साइकिल सवारों का जुलूस-सा चला जा रहा है।

उसके मन में कुतूहल का भाव जागता है। पीले-पीले टिफिन-कैरियर उठाए लोग जा रहे हैं, भागे जा रहे हैं।

खुली हवा में उसे ताज़गी महसूस होती है—हल्कापन-सा।

अब वह अकेली ही फुटपाथ पर चलने लगती है। सामने रेल-पुल की सीढ़ियों पर पांवों पर उलझी साड़ी का किनारा ठीक करने के लिए झुकती है। चुपके से अपना कटा हाथ फिर देखती है, जो अब सचमुच बहुत छोटा नज़र आ रहा है।



सीमा से कुछ और आगे

कल रात तार मिला और मिलते ही वह जाने की तैयारी में जुट गया।

तैयारी के नाम पर कुछ भी ऐसा न था, जिसे 'नया' कहा जा सके। वे ही तन पर टंगे कपड़े। अधफटे, पुराने जूते। टूटी हुई चितकबरी अटैची। जमा पूंजी कुल मिलाकर छब्बीस-सत्ताईस रुपए, जो होटल वाले के लिए रख छोड़े थे।

टिकट हो जाएगा—उसने सोचा। अटैची में दो-चार जरूरी वस्तुएं ठूंसीं और मुंह-अंधेरे स्टेशन की ओर निकल पड़ा। सुबह छह बजे वाली 'जनता' मिल गई तो दोपहर तक बरेली पहुंच जाएगा। उसके बाद बस या ट्रेन, सुभीते से जो भी मिले।

सारे कामों में कहीं उतावली न थी। वह इत्मीनान के साथ हर काम पूरा कर रहा था, जैसे सब सहज और स्वाभाविक हो।

परंतु रेल में बैठते ही कुछ अजीब-सा अहसास हुआ उसे। जो कुछ हुआ या हो रहा है—सच नहीं लगा...कोट के भीतर वाली तिरछी जेब से उसने तार फिर निकाला। फिर पढ़ा। विश्वास तब भी न हुआ। टाइप के गिने-गिनाए केवल चार-पांच शब्द। लिखा था—'फादर एक्सपायर्ड। कम सून!' नीचे हस्ताक्षरों की जगह बच्चू का नाम था।

जमुना-ब्रिज से जब ट्रेन खड़खड़ाती हुई आगे बढ़ी, तो उसने खिड़की से बाहर झांका—सूरज उग रहा था और जमुना का काला, हरा जल अजीब ढंग से जगमगा रहा था।

शायद उस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई। विस्फारित नेत्रों से बस ताकता रहा। पिताजी गुजर गए, उसका दिल अब तक भी गवाही देने के लिए तैयार न हो पा रहा था।

गत कितने वर्षों से वह घर नहीं गया...पिताजी ने घर आने के लिए एक

तरह से लिखना ही छोड़ दिया था। कहते-कहते हार चुके थे। अम्मा बच्चू से यदा-कदा पोस्टकार्ड गिरवा देती थीं—"तुम्हारे पिताजी आंख से नहीं देख पाते। कारोबार अब कुछ शेष रहा नहीं। जिनके पास जितना उधार था, सब डूब गया, पर दूसरों की देनदारी सिर पर टंगी है। छोटा मकान गिरवी रख दिया। बच्चू अब आठवीं पास कर लेगा। उसको आगे पढ़ाने के लिए भी सोचना है। रिचा सयानी हो गई है। इतनी बड़ी लड़की घर रखते भी लाज आती है। इसके साथ की सभी के ब्याह हो गए...जब से तुम्हारे जीजा गुजरे, निर्मल भी अपने बच्चों के साथ यहीं रहती है। वहां है ही कौन जो...।"

पत्र अधूरा पढ़कर वह रख देता था...कभी-कभी यों ही पड़ा छत की ओर देखता हुआ रात गुजार देता—अजीब-सी एक ठंडी उदासी उसके जिस्म के भीतर कहीं स्पंज का तरह भीग गई थी। आंखो के नीचे गहरी झाइयां उभर आई थीं। उसे सूझता न था कि क्या करे!

धीरे-धीरे सब सिकुड़ने-सा लगा। घर के बारे में विचार आने कम हो गए। पता नहीं क्यों बातें भूलने की उसे बीमारी-सी हो गई थी। ऐसी बीमारी, जिसका कहीं कोई इलाज दीखता न था...।

खिड़की से सनसनाती हुई धूल-भरी ठंडी हवा आ रही थी, उसे खबर न थी। इंजन का कोयला दो-तीन बार आंखों में गिरा, पर वह पलकें मींचे वैसा ही बैठा रहा।

अंतिम बार पिता को उसने तब देखा था, जब कुरुक्षेत्र-स्नान के लिए ताऊजी के साथ दिल्ली आए थे। चंद्र-ग्रहण या सूर्य-ग्रहण का कोई पर्व था। शायद जाड़ों के दिन। इतनी बड़ी दिल्ली में घर कहां खोजते! अतः मिल के गेट पर, चादर ओढ़े आधी रात को ही बैठ गए थे। सुबह छह बजे सायरन बजते ही वह जब कर्मचारियों की भीड़ के साथ गेट के भीतर घुसने लगा तो विस्मय से देखा—पिताजी उसकी बांह पकड़कर खड़े हैं और बच्चों की तरह लिपटकर, सिसक रहे हैं...।

हां, उस दिन वह काम पर न जा पाया था; उन्हें साथ लेकर उल्टा डेरे पर लौट आया था, जहां नीचे मकान-मालिक की भैंसें बंधी थीं। तमाम कीचड़ था। बित्ते-भर की दुछत्ती में टूटे किवाड़ से आया पानी भीतर भरा था। जूठे बर्तन और गंदे कपड़े। रजाई बरसात में बुरी तरह गल गई थी।

"अरे, तू ऐसी जगह रहता है, नीरे!" ताऊजी ने सहज आश्चर्य से पूछा।

वह कुछ उत्तर न दे सका। पिता ग्रामीण-सुलभ अबोध भाव से देखते रहे।

चाय पीने के बाद उठने लगे तो कहा, "तेरी अम्मा भी साथ आई है, बसंत (छोटा मामा) भी। गांव के ही और बहुत जने हैं—स्टेशन पर। कहते थे—नीरेन के डेरे पर आराम से नहा-धोकर, खाना बनाएंगे। रूखा चबैना खाते-खाते ऊब गए हैं। पर ऐसे में उन लोगों को लाना कैसे हो सकेगा...हां, तू ही चल। सबसे वहीं मिल लेना...।"

किसी तरह, कहीं से कुछ पैसे जुटाकर वह तैयार हुआ, तो पिता ने टोका, "दाढ़ी तो बना ले। कपड़े ठीक ढंग के पहन ले! गांव के भाई-बिरादर देखेंगे तो क्या कहेंगे...अरर, ऽअऽ...इस सर्दी में चप्पल पहने है! तेरे पास जूता नहीं!"

वह दाढ़ी बनाकर उन्हीं कपड़ों में, जब वैसा ही चप्पलें घसीटे चलने लगा, तो इस बार किसी ने कुछ कहा नहीं...तीनों चुपचाप चलते रहे।

प्लेटफॉर्म के किसी एकांत कोने में, यात्रियों की भीड़ से अलग, सब बिखरे पड़े थे—धूप के पीले चकत्तों के ऊपर मधुमक्खियों की तरह।

इन सब परिचितों की भीड़ में वह अपने को अजनबी-सा अनुभव कर रहा था, निपट अकेला।

वह देखता रहा—मां इन चंद वर्षों में बहुत बदल चुकी हैं। अभाव और गहरे संघर्ष की छाप उनकी बूढ़ी आकृति पर स्पष्ट पढ़ी जा सकती है। पिता लाठी के सहारे भी अब मुश्किल से चल पाते हैं। शरीर कांपता है।

स्टेशन पर कुछ देर उखड़ा-उखड़ा-सा यों ही खड़ा रहकर, जब वह सबसे विदा लेकर चलने लगा तो पिता ने पीछे से भागते हुए पुकारा। एकांत में कुछ पास आकर, हौले-से बोले, "कुरुक्षेत्र से लौटते समय अब शायद भेंट न हो सकेगी...हां, घर लौटने का इरादा तूने अब कतई छोड़ दिया है?"

वह चुप रहा।

"मिल में कब से है?"

"पिछले महीने से।"

"कुल कितने मिल जाते हैं?"

"नब्बे-पिचानवे।"

"कब तक की नौकरी है?"

"फिलहाल दो महीने की।"

"फिर क्या करेगा?"

वह कुछ कह न सका।

ढलती ज़िन्दगी में यह सब भी होना है। बूढ़े पिता इसके लिए तैयार न थे। कुछ और पास आकर, अपनी अंगुली से चुपके से अंगूठी उतारकर उसकी

जेब में डालते हुए बोले, "अब कुछ नहीं बचा है मेरे पास। इतना पढ़ाने-लिखाने के बाद भी तू अपना ही गुजारा न चला सकेगा, सोचा न था। खैर, हरि इच्छा! अपने लिए दूध लगा लेना। घर की चिंता न करना। मैं दो-चार साल और जी गया, तो सब ठीक कर जाऊंगा।" उनका गला गदरा आया था।

अमरोहा से आगे टिकट-चेकर ने टिकट मांगा, तब भी वह वैसा ही पड़ा रहा। विना देखे टिकट उसने सामने बढ़ा दिया।

ट्रेन कब कहां पहुंची, कब कहां बदली, उसे ठीक-ठीक याद न रहा। तीसरे दिन, रात के झुटपुटे में वह बस की धूल से सना, घर पहुंचा तो वहां एक अजीब-सी उदासी मिली—एक विचित्र-सा वातावरण।

उसे देखते ही अम्मा बिलख-बिलखकर रोने लगीं—जैसे सारा रुदन उसी के आने के लिए रुका प्रतीक्षा कर रहा हो। रिचा एक कोने में खड़ी, फटी धोती के आंचल मे मुह छिपाए सिसक रही थी...गत वर्ष पिता ने बच्चू का यज्ञोपवीत पता नहीं क्या सोचकर कर दिया था। नीरेन के आने की आशा अधिक न देखकर, उसे ही ब्राह्मणों ने सिर मुड़ाकर क्रिया-कर्म पर बिठला दिया था...बड़े भैया को देखते ही वह भी रुलाई न रोक सका, बिफरकर रोने लगा...।

ब्राह्मणों के अलावा निकट के नाते-रिश्ते के कुछ और लोग भी आए थे। मब चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए।

नीरेन की आंखों में अजीब-सा वीतराग था। कहीं कोई स्पष्ट भाव नहीं—न दु:ख का, न सुख का। तटस्थ दर्शक की तरह वह सबसे अलग—सब देख रहा था।

"तार कब मिला नीरी?" निर्मल'दी ने पूछा।

"परसों।"

"टनकपुर में कोई मिला था?"

"मैं किसी से मिलने नहीं गया।"

"तो कल रात कहां रुका?"

"वस के अड्डे पर।"

सर्दी अधिक थी। कोई काली-मिर्च की चाय लाया तो वह पी न सका। गिलास हाथ में थमा का थमा रहा।

"खाना कहां खाया था?"

वह चुप रहा। सूखे होंठों पर जमी पपड़ी दांतों की सहायता से अनजाने अनायास उतारने लगा।

"रिचा, खाने की जुगत कर! बैठी रो क्यों रही है?"

रिचा अभी उठ भी न पाई कि नीरेन वैसा ही बुदबुदाया, "भूख नहीं, आज नहीं खाऊंगा।"

"क्यों नहीं खाएगा?" अम्मा रुलाई-भरे स्वर में गुस्से से बोलीं, "जब से दिल्ली से चला है, इसने खाना नहीं खाया होगा। मैं जानती हूं। तभी तो इसके यह हाल हैं। सूरत कैसी हो गई है, पहचाना तक नहीं जाता।"

बच्चू ने सिर मुड़ाया है। सफेद कंबल ओढ़े पयाल के बिछौने ऊपर बैठा बौद्ध भिक्षु-जैसा लग रहा है। ग्यारह दिन तक उसे यहीं सोना है, जब तक क्रिया-कर्म का टंटा पूरा नहीं होता। सिर के समीप, बगल के कोने में, जौ की ढेरी के ऊपर तांबे की छोटी पतीली है, जिसके भीतर रखा घी का दीपक दिपदिपा रहा है। पास ही दो-तीन ब्राह्मण लेटे खर्राटे भर रहे हैं।

बाहर के प्रायः सभी मेहमान अब सो गए हैं, बस वह जाग रहा है, अम्मा जग रही हैं।

"...पिछली सर्दियों में बीमार हुए थे। उसके बाद थक-थक-से आए..." अम्मा जैसे अपने को सुनाकर कह रही हैं, "पिछले हफ्ते तबीयत एकाएक अधिक खराब हो गई तो बच्चू वैद्य बुला लाया, पर उन्होंने दवा न ली। उल्टे बेचारे वैद्य पर उबल पड़े। कहने लगे, 'तू भी हमारा धुआं देखना चाहता है। मुझे दवा नहीं लेनी। खुद-ब-खुद मैं ठीक हो जाऊंगा...तू जा...।'

वैद्य चला गया तो बच्चू पर बिगड़े—'क्यों बे, तू बिना मुझे पूछे क्यों गया था? नब्ज़ देखकर वह लाल पानी पिला देगा। दस-पंद्रह का बिल हाथ में थमा देगा। बता, कहां से चुकाएगा पैसे?'

वह चुपचाप सुनता रहा।

मां आगे बोलीं, 'अन्न बहुत पहले छूट गया था। दूध भी नहीं लेते थे ...तेरा मामा पचास रुपए दे गया था, उससे कुछ खर्चा चला। कभी-कभी कुछ फल रमा भिजवा दिया करता था। मरते समय घर में धेला तक न था। तेरे ताऊजी ने ही सब इंतजाम किया। उनका भी सौ-सवा सौ चुकाना होगा...ऐसी हालत में—'गरुड़-पुराण' कैसे होता...अस्थियां हरद्वार बहा आते, पर अभी तो क्रिया-कर्म का ही काम सिर पर पड़ा है। सब कैसे निभेगा'...?"

वह आंखें मींचे बैठा था। सब सो गए, तो वह भी अपने कमरे में चला गया।

यहां पिता सोते थे, उसे याद आया। संभवतः यहीं उनकी मृत्यु हुई होगी। दीवार पर धुएं से पीला लक्ष्मी का पुराना रंगीन चित्र अब तक टंगा है। नीचे मोटे-मोटे अक्षरों में आरती के भजन लिखे हैं। आले में उसके भेजे हुए कुछ पुराने पत्र बेतरतीब पड़े हैं, जो धूल और धुएं से इतने पीले पड़ चुके हैं कि

पढ़े तक नहीं जा सकते...और बगल वाले कमरे में करम का दीया अकेला जल रहा है। उसी के पास बच्चू प्रगाढ़ निद्रा में सोया है। पास ही कमरे में किसी के रोने का स्वर अब तक व्याप रहा है...।

अंधेरे में वह सारी रात बैठा रहा, सो न सका। सुबह सब उठे, तब भी वह वैसा ही जागा बैठा रहा!



हंसा

"बिन्नी, रात मैंने ममी देखी। क्या तूने भी देखी? डैडी झूठ बोलते हैं। अभी मरी कहां ममी! मर गई होती तो क्या यों दिखाई देती!" निनि ने बिछौने पर से उठते हुए बिन्नी को झकझोरते हुए कहा।

बिन्नी ने आंखें मलीं, "नहीं, मैंने तो नहीं देखी—!"

"चुप, झूठा! कैसे कहता है कि तूने नहीं देखी? तू भी तो था मेरे साथ! ममी तेरे बालों को सहला रही थी। तुझे दूध पिला रही थी। अपने हाथों नहला-धुलाकर नये कपड़े पहना रही थी। कह रही थी कि वक्त-बेवक्त यों न रोया कर। इससे सबको परेशानी होती है। निनि को, डैडी को न सताया कर।" निनि कुछ सोचती हुई तुनककर बोली, "तू झूठा है! ममी ने तुझे इतनी देर तक प्यार किया, तुझसे इतनी देर तक बातें कीं और तू कहता है कि तूने देखी भी नहीं?"

बिन्नी आंखें मलता हुआ उसकी ओर देखता रहा, "झूठा मैं हूं कि तू?" वह मचलता हुआ इठलाया।

"क्यों?" निनि ने होंठों पर अंगुली रखी।

"आई बड़ी क्यों कहने वाली! खुद तो झूठ बोलती है और कहती मुझसे है। बता, ममी कब आई? वह आती तो क्या मुझे नहीं दिखाई देती!"

"चुप!" निनि इस बार उबल पड़ी, "डैडी खाली थोड़े ही पीटते हैं तुझे! तेरी शरारतों से सच डैडी परेशान हो गए हैं। सारी रात उन्हें सोने नहीं देता। आया बेचारी को सोने नहीं देता। रोता-चिल्लाता रहता है। फिर क्यों न...।"

निनि बिस्तरे पर से उठ ही रही थी कि सामने डैडी खड़े दिखलाई दिए।

"डैडी, यह बिन्नी झूठा है!" निनि ने सहसा शिकायत के स्वर में दुहराया,

"डैडी, कल रात ममी आई थी। इसे देर तक प्यार करती रही। इसे दूध पिलाया। अपने हाथों नहलाया-धुलाया। इसके बाल काढ़े। फिर समझाती रही कि डैडी वैसे ही परेशान रहते हैं, उन्हें अधिक तंग न किया कर। न सताया कर। और यह कहता है कि इसने देखी तक नहीं!"

बिन्नी अभी तक भी आंखें मल रहा था। उस पर लगाया गया इतना बड़ा इल्जाम उसका नन्हा-सा बाल-हृदय सह न सका। अपनी नन्ही अंगुलियों से उसके बालो को नोचता हुआ टूट पड़ा, "मुंहजली, मुझे झूठा बताती है। खुद बोलती है झूठ और कहती मुझसे है!"

डैडी ने बीच-बचाव करके झगड़ा शांत किया। वे बिन्नी की बांह पकड़कर परे धकेलते हुए बोले, "दीदी से झगड़ता है रे!"

"तो यह झूठ-मूठ क्यों कहती है? मुझे बिना बात के तंग क्यों करती है?" बिन्नी रुआंसा हो आया।

"क्या तंग किया मैंने?" निनि ने अपने बचाव में डैडी का समर्थन लेते हुए ऊची आवाज में कहा। फिर बिल्ली की तरह घूरकर उसकी ओर देखा, जैसे सामने वाले ने जान-बूझकर कोई गुनाह किया हो।

अपना पक्ष यों कमजोर देखकर बिन्नी तिलमिला उठा। गुस्से से उठ खड़ा हुआ, "झूठी! ममी कहां आई रात! कहती है, मेरे बाल काढ़े, मुझे दूध पिलाया। कहा काढ़े, देख...!" उसने अपने बिखरे बालों को झकझोरा, "कहां नहलाया? कहां दूध पिलाया? दूध पिलाती तो क्या मुझे अभी भूख लगती? अंधी...अंधी...!" वह भागता हुआ ममी के कमरे में गया और खाली पलंग पर औंधा लेटकर फूट पड़ा।

अवनींद्र बाबू चुप खड़े देखते रहे, फिर बैठक में पहुंचकर धम्म से बैठ गए।

जब से हंसा गई, अवनींद्र बाबू के चेहरे पर रौनक न आई। रोज ही बच्चों मे ऊधम मचता। रोज ही उन्हें डांटना-डपटना और फिर एकांत में बैठकर अपने किए के लिए देर तक पछताना पड़ता।

बच्चों को कॉन्वेंट में भेजकर देख लिया, लेकिन सफल न रहे। रिश्तेदारों को सोंपकर भी आखिर में अपने ही घर वापस बुलाना पड़ा।

तब बार-बार हृदय में आता कि लौट जाएं उसी संसार में। उसी पुरानी बीती दुनिया में। सुख न अब है, न तब था। सब मृगतृष्णा है, भ्रम है। लेकिन उनका स्वाभिमान, उनका अहं अपनी पकड़ कमजोर न कर सका।

पर जब होश आया, आंखों के आगे फैला भ्रांति का परदा सरका, तो जैसे

वे सातवें आसमान से पाताल पर आ गिरे हों। फिर उसी अतीत की ओर बेतहाशा भागे, लेकिन अतीत, फिर वर्तमान बनकर न लौटा। कभी भी न लौटा।

पैसा है डॉ. अवनींद्र के पास। यश है। अच्छा सरकारी ओहदा है। अमेरिका से लगभग पांच-सात साल पहले पत्रकारिता में विशेष योग्यता प्राप्त करके भारत लौटे थे। तब से केंद्रीय सरकार के कार्यालय में महत्वपूर्ण दायित्व निभा रहे हैं। नई दिल्ली में अपना निजी फ्लैट है। कार है। सब-कुछ है, लेकिन चित्त मे शांति न होने के कारण कुछ भी नहीं है।

उन्हें अच्छे कपड़े पहनना अच्छा लगता है। अच्छे समाज में घूमना अच्छा लगता है। क्लबों के, नाचघरों के, वह पुराने शौकीन हैं। लेकिन उनका यह शौक कभी खुले दिल से पूरा हुआ नहीं। पहले भी नहीं, अब भी नहीं। जाते अभी भी हैं, पर जैसे कोई गुनाह कर रहे हैं छिपकर। उनकी सारी उमंग, सारा उत्साह तब ठंडा पड़ जाता है।

अमेरिका से लौटने तथा निश्चित दिशा ढूंढने के बाद उनका तीसरा काम रहा था—भावी जीवन के लिए जीवनसंगिनी की तलाश करना।

बचपन से ही वह रंगीन तबीयत के आदमी थे। अंग्रेजी स्कूलों में पढे और उसी समाज के उसी वातावरण में बढ़े। सुरा-सुंद्री एवं उन्मुक्त प्रेम के हिमायती। लोगों को तो इसी बात पर कम आश्चर्य न था कि वे अमेरिका से रीते हाथ कैसे लौटे।

लेकिन, बात आगे चलकर कुछ विचित्र रही। दिल्ली में ही किसी महाराष्ट्रियन परिवार से घनिष्ठता हो गई और अंत में बढ़ते-बढ़ते इतनी प्रगाढ़ हो आई कि वे हमेशा के लिए मैत्री के बंधनों में बंध गए।

उसी कुलीन ब्राह्मण परिवार की पढ़ी-लिखी कन्या थी हंसा, जिसे उनकी जीवन-सहचरी होने का सौभाग्य मिला।

सच पूछा जाए तो आग्रह उन्हीं की ओर से हुआ। हंसा की सीधी-सादी चाल-ढाल पर, भोले-भाले स्वभाव पर, अद्भुत सरलता-सुंदरता पर वह मोहित हो गए।

हंसा का सुमधुर व्यवहार उन्हें बड़ा अच्छा लगता। शील स्वभाव की ऐसी सुंदर पत्नी प्राप्त करने के कारण वे अपने को भाग्यशाली समझते। लेकिन, एक किरकिरी हमेशा आंखों में खटकती रह जाती। नयन मूंदते हुए कल्पना करते—इसके चांद-से मुखड़े के साथ बॉब हेयर कितने अच्छे लगते! गुलाबी होंठों पर लिपस्टिक, गुलाबी गालों के ऊपर लाली, लंबे-लंबे नाखूनों पर नेल पॉलिश। ऊंची एड़ी की सैंडिल पर लचक-लचककर चले तो कितनी सुंदर लगे। तब उन्हें

अमेरिकन, जर्मन, फ्रांसीसी—सारी सुंदरताएं फीकी-फीकी लगतीं।

उनके दिल में बड़ी तमन्ना थी कि इस रूप में यदि वह क्लबों में उनके साथ नाचे, सभा-सोसाइटियों में उनका साथ दे, तब उन जैसा गौरवशाली जोड़ा होने का सौभाग्य शायद ही किसी दूसरे को मिले!

दो बच्चों का बाप बनने पर भी उनकी आकांक्षा बुझी नहीं। उन्होंने ज़िद करके उसके नागिन-से लहलहाते केश कटवा दिए। तब वह एकांत में बहुत दिनों तक मुंह छिपाए रोती रही। पति के जीते-जी यों बाल कटवाना उसे अपशकुन लगा। पर चुप रही।

महीनों तक उसने बरामदे में नुकीली एड़ी की सैंडिल पर चलने का अभ्यास किया। होंठों पर न चाहते हुए भी लिपस्टिक लगाई। क्लबों में मन मारके जाना पड़ा। पर व्हिस्की के प्याले होंठों पर, लाख कोशिश करने पर, आंखें मूंदकर भी उससे लगाए न जाते।

यह सब देखकर उसे सच ही बड़ा अचरज होता—हर औरत अपने ही नहीं, पराये पुरुषों के साथ भी चुहल करती है। शराब के जाम भर-भरकर अपने ही नहीं, दूसरों के ओंठों से भी लगाती है। सिगरेट के कश खींचती है। खिलखिलाकर हसती है। सबके सामने परपुरुषों के गले में बांहें डालकर, मदहोश होकर नाचती है।

उसकी आंखें खुली की खुली रह जातीं। हंसी सुनते ही वह कानों पर हथेली रखकर खड़ी हो जाती। अवनींद्र को जब दूसरों की पत्नियों की बगल में बांहें डाले नाचता देखती तो कुछ कहते न बनता।

एक दिन अवनींद्र बाबू ने ज़िद की, बहुत ज़िद की और नृत्य का आग्रह कर उसे भी मंच पर घसीटकर ले गए।

बॉल-डांस शुरू हुआ। झनझनाते बाजे बजे। अपने-अपने जोड़े के साथ लोग नाचने लगे। पर वह एक कदम भी साथ न दे सकी। उसके पांव लड़खड़ाने लगे। तब अवनींद्र बाबू ने झुंझलाकर, झिड़ककर उसे परे खड़ा कर दिया और दूसरी परिचिता की बांहों को थामकर, शराब के नशे में झूमते हुए फिर सह-नृत्य प्रारंभ किया।

हंसा विस्मित खड़ी रही। जैसे सारी चेतना खो चुकी हो। काठ-सी खड़ी, आंखें फाड़े देखती रही। इतने में किसी दूसरे ने उसकी कलाइयां पकड़कर नचाने की कोशिश की, पर हंसा का सारा शरीर केले के पत्ते की तरह थरथर कांपने लगा। आंखों पर धुंध छाने लगी। वह किसी तरह पकड़ छुड़ाकर बाहर की ओर बेतहाशा भागी और फिर कभी मुड़कर क्लब में न आई।

इस घटना का दोनों के हृदय पर गहरा असर पड़ा। हंसा ने ऊंची एड़ी की चप्पल, लिपस्टिक की शीशियां, अंग-प्रत्यंग का प्रदर्शन करने वाले झीने कपड़े, सब एक साथ बांधे और नौकर को हुक्म देकर जमुना में बहा दिए। पर अंतर-बाहर का यह आक्रोश उसने भूल से भी अवनींद्र के आगे प्रकट न किया। लेकिन दूसरी ओर से डोर लंबी खिंचती गई। दरार अनजाने बढ़ती गई। दिनों तक अवनींद्र हंसा से बोले नहीं। एकदम मुंह फेर लिया।

न अब ऑफिस से सीधे घर की ओर पांव बढ़ते, न दोनों में कभी मीठी-मीठी बातें होतीं। न बच्चों से ही उनका कोई खास संबंध रहता। रात को देर से घर लौटना होता। कोई एंग्लो-इंडियन महिला अकसर बगल में बैठी कार चलाती दिखलाई देती। उनकी बांहें थामकर कार से उतारती और टाटा कहती हुई आंखों से ओझल हो जाती।

अवनींद्र के लड़खड़ाते पांव सम्हल न पाते। वह अचेत होकर धम्म से सोफे पर गिर पड़ते। शराब की मात्रा बहुत बढ़ गई थी शायद।

हंसा तब भी कुछ प्रतिरोध न कर सकी। अंदर से बहुत कुछ उमड़ता-घुमड़ता लेकिन प्रकट कुछ न हो पाता। केवल खून का गहरा घूंट पीकर चुप हो जाती।

कुछ ही महीनों में अवनींद्र ने अपना बंगला अलग ले लिया। बच्चों को फुसलाकर साथ बुला लिया और हंसा को विवश करके हमेशा के लिए संबंधविच्छेद कर लिया। कुछ पैसे बैंक में अलग से उसके लिए रख दिए, जिससे उसका खर्च चलता रहे।

हंसा तब भी कुछ न कह सकी। सिर झुकाकर उसने आज्ञा मान ली। "जिसमें तुम्हें सुख हो, तुम्हें शांति हो, वैसा करो।" कहते हुए उसने सीने पर पत्थर रख लिया। पैसे छुए तक नहीं। चैकबुक लौटा दी। बंगला त्याग दिया। बच्चों को मजबूर होकर छोड़ना पड़ा। वह शहर छोड़कर कहीं दूर चली गई। जाते समय एक बार, अंतिम बार अपनी निनि से, दुधमुंहे बिन्नी से मिल भी न सकी।

लोग कुछ दिनों तक तरह-तरह की बातें करते रहे। किसी ने कहा, अभी जिंदा है और किसी ने कहा, मर गई है। अवनींद्र ने तब दोनों बच्चों को पास बुलाया और स्पष्ट शब्दों में समझा दिया कि उनकी ममी मर गई है। अब कभी भी लौटकर फिर नहीं आएगी। इसलिए उसे बिल्कुल भूल जाना चाहिए।

लेकिन ममी रोज ही सपने में जीवित होकर आती रही और वे अबोध उसे याद करते रहे।

एक दिन अवनींद्र ने निनि को आवाज़ देकर पास बुलाया।

"क्या है डैडी?" वह खड़ी हो गई सामने।

"तुझे ममी रोज दिखलाई देती है रात को?" पूछा उन्होंने।

"हां।"

"क्या कहती है?"

"मुझसे तो कुछ नहीं कहती डैडी, लेकिन बिन्नी को बहुत प्यार करती है। उससे कहती है—यों रोया न कर। डैडी को तंग न किया कर। वे वैसे ही बहुत परेशान रहते हैं। लेकिन डैडी, वह इतना निठुर है कि देखकर भी कहता है कि उसने ममी को कभी नहीं देखा।"

अवनींद्र चुपचाप सुनते रहे।

डैडी के उतरे-उतरे चेहरे को देखकर निनि का नन्हा हृदय मुरझा आया। उनकी अंगुलियों को थामती हुई बोली, "डैडी, मैं अब ममी को नहीं देखूंगी। कभी भी याद नहीं करूंगी। सोते समय रोज हथेली से जोर से आंखें बंद कर लूंगी। फिर तो नहीं दिखलाई देगी न ममी!"

वह वैसे ही चुप सुनते रहे। फिर सन्नाटा छा गया।

निनि फिर उस असह्य मौन को भंग करती हुई बोली, "डैडी, आप कहते हैं, ममी मर गई। तो फिर सपने में क्यों दिखाई देती है? क्यों डैडी, ममी सच ही इतनी बुरी थी?"

अवनींद्र बाबू ने जैसे कुछ सुना नहीं। वैसे ही खांसते हुए बोले, "अगर तुम्हारी नई ममी आ जाए तो तुम उसे प्यार कर सकोगी बेटा? खुश रह सकोगी न तब?"

"डैडी, मैं तो कभी रोती नहीं। बिन्नी ही सारा ऊधम मचाता है। उससे पूछूं डैडी कि वह खुश रहेगा या नहीं?" निनि ने उनके मुंह की ओर ताका।

"हां!" वैसे ही विचारों में खोए वह बुदबुदाए।

इतने में उसने बिन्नी को ला खड़ा किया। "डैडी कहते हैं कि नई ममी आएगी तो तुम खुश रहोगे?"

"हां!" ममी का नाम सुनते ही उसकी नन्ही आंखें बड़ी-बड़ी होकर इधर-उधर झांकने लगीं।

वह अभी तक भी चुप थे। गहरे विचारों में डूबे। दोनों बच्चे उनकी गंभीर मुखाकृति की ओर जिज्ञासा से ताक रहे थे।

इतने में वह उठने लगे तो निनि ने फिर प्रश्नसूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा, "क्यों डैडी, नई ममी के साथ क्या डैडी भी नये होंगे?"

वे अपनी धुन में थे, "हां!" कहकर बाहर चले गए।

कुछ ही दिनों में नई ममी सच ही आ गई। दोनों ने तब बड़ी आत्मीयता के साथ उसका स्वागत किया। डैडी ने एकांत में समझा-बुझाकर पहले ही कह रखा था, "अब घर में अपनी पुरानी ममी की तरह प्यार करना। वह झिड़के, मारे तब भी बुरा न मानना। अच्छे बच्चों की तरह उसकी बातें मानना, नहीं तो वह भी रूठकर चली जाएगी। वह भी मर जाएगी।"

ममी का मरना अब उन अबोध बच्चों से सहा न गया। "नहीं, नहीं डैडी," दोनों अधीर होकर एक साथ बोले, "हम ममी को नाराज नहीं करेंगे, उसे मरने नहीं देंगे।"

अवनींद्र के कुछ दिन आराम से कटे। नये का नया आकर्षण धीरे-धीरे पुराना पड़ने लगा। जब भी वे एकांत में होते, उन्हें सामने खड़ी हंसा दिखलाई देती। कभी हंसती, कभी रोती।

क्लबों में, नाचघरों में, पहले वे खूब जाते रहे। शराब के प्याले फिर खनखनाते रहे। रात-रात-भर नाइट क्लबों में नृत्य चलता। अब कोई उन्हें रोकने वाला न था। लेकिन धीरे-धीरे इन सबसे वे शिथिल पड़ने लगे। जब कभी वे प्याले में शराब उड़ेलते उन्हें उस हल्के रंग के पारदर्शी पानी में झांकने पर हंसा का चेहरा साफ झलकने लगता। हंसा की बातें साफ सुनाई देने लगतीं—भले पुरुषों को यों शराब पीना शोभा नहीं देता!

जब कभी वे किसी की कमर में हाथ डाले नाचते, उनकी पुतलियों पर रह-रहकर हंसा नाचने लगती—सुंदर पत्नी जब घर में हो तो फिर इन बाजारू औरतों की बगल में बांहें डालकर नाचना अच्छे लोगों के लिए उचित नहीं।

जब कभी वे ताश खेलते उन्हें बार-बार बाजी जीतने पर भी लगता कि हर बार, हर बाजी वह हार रहे हैं। हर बार, हर बाजी में वे हंसा को दांव पर लगा रहे हैं। बाजी जीतने पर भी हाथ कांपते। फिर ताश के हल्के पत्ते थामने की भी सामर्थ्य न रहती। लोग उनकी जीत पर बधाई देते, खिलखिलाकर हंसते, तब वे ठगे-से सबके मुंह की ओर ताकने लगते। जैसे वे साथी नहीं, अपरिचित, अनजाने हों और किसी अनहोनी बात पर ठहाका लगा रहे हों।

बाहर की दुनिया बोझिल हो गई।

धीरे-धीरे बाहर का असीम संसार सिमटने लगा। घर-आंगन की परिधि का सुख ही मन को भाने लगा।

कभी-कभी नई पत्नी को देखकर, अपने-आपको कहने से रोक न पाते,

"इनु, ये छोटे-छोटे, लड़कों के जैसे बाल तुम्हें अच्छे लगते हैं?" इससे आगे वे कहना चाहते थे—क्या हंसा के जैसी कूल्हों को छूती लट तुम नहीं रख सकतीं, परन्तु उनके अधर खुलते न थे। गले में ही शब्द भंवर की तरह एक ही परिधि में घूमकर दम तोड़ देते!

हंसा को घर की बगिया में रजनीगंधा के फूल बहुत पसंद थे। धीरे-धीरे सारे फूलों का रंग सफेद रह गया।

हंसा को धीमी-धीमी रोशनी, धीमा-धीमा मधुर, करुण संगीत अच्छा लगता था। अब घर में सारा माहौल ही धीमा, सुरुचिपूर्ण होने लगा।

बिन मां के बच्चे!

अवकाश के क्षणों में, देर तक वे उनके साथ खेलते, हंसते, बोलते, ताकि मां का अभाव उन्हें न अखरे। नई पत्नी को भी प्यार से, इस नये खेल में भागीदार वना लेते। चारों हमउम्र बच्चे बन जाते एक साथ।

एक दिन अवनींद्र एकान्त में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। निनि स्कूल का काम पूर कर आराम कर रही थी। किसी वर्ग-पहेली का वर्गाकार ढांचा सामने था, शायद शब्द खोज रही थी—रिक्त स्थानों में भरने के लिए।

बैठे-बैठे वह सहसा उठी। डैडी के पास जाकर बैठ गई। उनके हाथ की खुली पुस्तक छीनती हुई बोली, "मम्मी अब सपने में नहीं आती डैडी! बिन्नी को तो पहले भी नहीं दीखती थी। झूठा कहीं का...!"

अवनींद्र ने प्यार से उसके सिर को सहलाया, 'वह कहां से आएगी बेटा! यहीं तो रहती है।' वह कहना चाहते थे, पर कह न पाए। केवल टेबुल-लैंप पर लगी, शीशे की पालदार नौकाओं को चुपचाप देखते रहे।



हरे सूरज का देश

शीशम और सागौन के ऊंचे-ऊंचे वृक्ष। दूर तक बिखरी हरियाली। एक-दूसरे से परत-दर-परत जुड़े पर्वत—आधे भारत के, आधे नेपाल के। बीच में उन्हें विभाजित करती—काली गंगा, जो दूर से पारदर्शी दरार-सी दीखती है।

सहसा झटका-सा लगता है मुझे। चौंककर देखता हूं, स्टेशन से पहले ही गाड़ी रुक रही है। इस ट्रेन से मुझे यही शिकायत है कि यह जब जहा चाहे रुक जाती है और फिर आगे बढ़ने का नाम ही नहीं लेती। कहते हैं—ड्राइवर और गार्ड 'कच्ची' पीते हैं।...पिछले साल टकनपुर और बनबसा के बीच जगल में ही ट्रेन रुक गई थी। घास काटने वाली किसी मजदूर औरत से ड्राइवर मजाक करने लगा था। कुछ भद्दे-से इशारे हुए और फिर शायद अंत में औरत को उसन इंजन में ही बिठा लिया था।...लंबी-लंबी लाठियां और बहंगियां लिए बहुत स थारू इधर-उधर बैठे, जोर-जोर से बातें कर रहे हैं। शायद मंडी से लौट रहे है। सामने की बर्थ पर एक महिला-जैसी लड़की बैठी है। उसकी बातों से लगता हे वह पिथौरागढ़ के पहाड़ी जिले में कहीं विकास-विभाग में नौकरी करती है। छुट्टी में शायद घर लौट रही है। उसकी बाहरी बनावट के भीतर मध्यम वर्गीय सस्कार रह-रहकर झांक रहे हैं—जो नहीं है, उसे प्रदर्शित करने का विफल प्रयास. .।

मैं सोचने लगता हूं—चंद पैबंदों को छिपाने के लिए हम कितने ही दूसरे पेबंद ओढ़ लेते हैं। क्यों ओढ़ लेते हैं?

मेरी वगल में मां बैठी हैं। महिला की निगाहें बार-बार मां के नंगे पावो की ओर जाती हैं। मां की उमर अब सत्तर से ऊपर होगी। वे चप्पल नहीं पहनती। बर्फ पर भी नंगे पांव ही चलती हैं। उनकी अपनी मान्यताएं हैं, अपने संस्कार

हैं। अतः मैं जिद नहीं करता। उनके चप्पल न पहनने पर मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर यह महिला बार-बार अकारण क्यों देख रही है?

जो हम हैं उसे छुपाने की आवश्यकता मुझे कभी अनुभव नहीं हुई। अतः मैं उसकी ओर ध्यान न देकर बगल में बैठे सैनिक से बातें करने लगता हूं और महिला अपनी बेंत की टोकरी में से कोई सस्ता-सा जासूसी उपन्यास निकाल लेती है।

सैनिक से बातें करते हुए पता चलता है कि उसका गांव हमारे गांव से अधिक दूर नहीं। बीच में केवल एक डांडा है। शादी करने वह घर आया था और, अब मोर्चे पर वापस लौट रहा है।

"अच्याल कां छऽ?" मैं पहाड़ी भाषा में पूछता हूं।

"दद्दा", वह मेरी ओर आत्मीयता से देखता है, "बहुत दूर हूं...।"

"कहां?"

"सिक्किम के पास—"

"किस जगह?"

"नाथू-ला में—"

"खास नाथू-ला दर्रे में?"

वह सिर हिलाता है।

सुरेन्द्र की भी एक बार नाथू-ला में ही नियुक्ति हुई थी। बेचारे को देशभक्ति बड़ी महंगी पड़ी थी। मुझे याद आता है—कुछ समय पहले उसी दर्रे में चीनी सैनिकों के साथ हमारी जोर की झड़प हुई थी, जिसमें दोनों पक्षों के सैकड़ों सैनिक काम आए थे।

"हां, कब से हो वहां?" सहसा कुछ सोचते हुए कहता हूं।

"काफी अर्से से।"

"चीनियों के साथ जब मुठभेड़ हुई थी, उस समय वहीं थे?"

वह एक बार यों ही इधर-उधर देखता है, "हां, मैं वहीं था...।"

"तुम्हें कैसा लगा था उस समय?" मैं पूछता हूं तो वह फिर ठेठ पहाड़ी बोली में आंखों-देखा सारा हाल सुनाने लगता है। बताता है कि खूब गोलाबारी हुई थी और इतने सैनिक और पुल उड़े थे...।

"हमारी स्थिति कैसी थी तब?"

उसके भोले-भाले चेहरे पर आत्मगौरव की गहरी रेखाएं उभर आती है, "बहुत अच्छी थी। चीनियों के मुकाबले हम पीछे नहीं थे।"

"क्या हम उनका मुकाबला कर सकते हैं?"

"क्यों नहीं ! हमारे पास अब लड़ाई का वह सारा सामान है, जो हमें चाहिए... ।"

उसकी क्या उमर होगी अभी! मूंछें भी तो भलीभांति फूटी नहीं! सारी सैन्य स्थिति के बारे में वह क्या जानता है? फिर भी उसका मनोबल देखकर मुझे खुशी होती है।

"अच्छा, लड़ाई के समय तुम्हें कैसा लगा था, सच-सच बताना?" मैं उसकी ओर जिज्ञासा से देखता हूं।

वह यों ही हंस देता है, "कैसा ही नहीं।"

"फिर भी–"

"बस्स, पहले तो कुछ भय-सा लगा, लेकिन जैसे ही मोर्चे पर पहुंचे, गोलाबारी शुरू हुई, सारा डर न जाने कहां गायब हो गया। फिर न घर की याद रही, न अपने जीने-मरने की। एक गहरा नशा-सा छा गया। बस, यही सूझता था कि शत्रु को कैसे पराजित करें! कैसे आगे बढ़ें!"

बीड़ी सुलगाता हुआ वह पांवों को दूर तक पसारता है। उसके बेडौल काले बूटों पर धूल की मोटी परत जमी है। खिड़की से नीचे झुककर वह सिंगाड़े खरीदने लगता है।

ट्रेन धीरे-धीरे फिर आगे सरकने लगी है। चालीस मील का सफर, पांच-छह घंटे! इतने समय में तो साइकिल से भी पहुंचा जा सकता है!

कल रात नींद न आ सकी थी। मैं यों ही आंखें मूंद लेता हूं। बहुत प्रयास करने पर झपकी-सी भी नहीं लगती तो अजीब-सी बेचैनी मुझे घेर लेती है... ।

"यह पैन तू रख ले।" शिव'दा ने कहा था।

पैन बहुत अच्छा था। दस्तखत करने के लिए मैंने मांगा था। उलट-पलटकर देखकर उन्हें लौटाने लगता हूं।

"पसंद नहीं!"

"है क्यों नहीं?" मैं यों ही हंस देता हूं।

"तो रख लो फिर!"

"नहीं शिव'दा!"

"क्यों, ठीक नहीं चलता क्या?"

"चलता तो बहुत अच्छा है!"

"फिर?"

मैं कुछ क्षण चुप रहता हूं। अंत में जब वे बार-बार विवश करते हैं तो

कहता हूं, "बुरा न मानना, शिव'दा! अपनी-अपनी समझ है। तस्करी का माल उपयोग में लाना में ठीक नहीं समझता।"

वे ठहाका लगाकर हंसते हैं, "अरे बड़े-बड़े 'यमैले', 'यम्पी', 'कलैक्टर', 'कमिस्नर' इन्हें इस्तेमाल में लाते हैं। तुम क्या उनसे भी बड़े हो?" वे फिर हंसने लगते हैं।

"मैं छोटा हूं न, तभी तो डरता हूं!" मैं हंसता हूं तो वे खिसियाते हुए पैन जेब में रख लेते हैं।

शिव'दा खादी के कपड़े पहनते हैं। इस इलाके के प्रतिष्ठित नेता हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि मैं अब तक भी बदला क्यों नहीं!

लोग कहते हैं—टनकपुर, बनबसा—सीमावर्ती मंडियों में नेपाल से लाया गया तस्करी का माल बिकता है। लोग अब इसे बुरा नहीं समझते। शायद यह भी व्यापार का एक हिस्सा बन गया है।

पिछली गर्मियों में घर आया तो एक दिन मनीराम मास्टर कह रहा था, "यहां के लोग जब अकाल में मर रहे थे तो हज़ारों मन राशन का चावल ट्रकों में लाद-लादकर रात को नेपाल की सीमा के पार भेजा जाता था और वहां से भेड़-बकरियों पर ढोकर चीन पहुंचता था। ठेकेदार, बनिए और मुलाजिम—सब इस षड्यंत्र में शामिल थे।"

सरकार किसे कहते हैं? मुलाजिम कौन हैं? समाज की ठेकेदारी का दायित्व किन पर है? सारी बातें अब समझ से परे हो चुकी हैं। मुझे लगता है परिभाषा बदल चुकी है। हमारे गांव-घरों में जहां पहले तम्बाकू पीना पाप समझा जाता था, वहां आज घर-घर में 'कच्ची' पी जाती है, बच्चों के तन पर फटे चीथडे नहीं होते, औरतें दिन-रात खटती रहती हैं, लोग दाने-दाने को तरसते हैं। पटवारी किसी भी निरपराध के हाथों में हथकड़ी बांधकर मनमानी रकम वसूल कर लेता है। डिप्टी कलेक्टर, सौ-सौ, पचास-पचास रुपए में मुकदमों के फैसले बदल देता है। 'देशभक्त' तस्करी करते हैं। क्या हो सकता है यहां? कुछ भी तो नहीं रहा शेष...!

"दद्दा, सिंगाडे खाओ होऽ!"

मैं अचकचाकर देखता हूं और अखबार के ऊपर रखे सिंगाड़ों में से एक उठा लेता हूं। एक छिला हुआ सफेद टुकड़ा दांतों में दबाया ही था कि कसैला-सा लगता है। अतः खिड़की के बाहर फेंक देता हूं।

"तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?" बातों की दिशा बदलने के लिए कहता हूं।

"मां हैं। दो विधवा भाभियां और एक छोटी बहन।"

"भाई नहीं...!"

"नांऽ।" वह सिंगाड़ा छीलना भूलकर मेरी ओर देखने लगता है, "दो थे कुमाऊं रेजिमेंट में। दोनों ही बालौंग की लड़ाई में मारे गए थे।"

"तुम अकेले ही परिवार की परवरिश करते हो?"

प्रत्युत्तर में वह कुछ बोल नहीं पाता। केवल सिर हिलाता है। पता नहीं क्यों, उसका चेहरा उदास हो जाता है!

मझौला स्टेशन पर अब गाड़ी खड़ी है। यात्री बेसब्री से चढ़-उतर रहे हैं। मैं ताजा अखबार खरीदता हूं। लगता है इतने दिनों तक किसी अंधेरी गुफा में रहा—दुनिया की हलचलों से एकदम दूर!

मां टिफिन-कैरियर से नाश्ते का सामान निकालने लगती हैं। बड़ी हो-हुज्जत के बाद उस सिपाही को भी साथ देने के लिए मना पाता हूं। हम सब साथ-साथ नाश्ता करते हैं। इस तरह मिल-जुलकर खाना मुझे अच्छा लगता है।

सामने बैठी महिला ने उपन्यास फिर बन्द कर दिया है। 'प्लीज' कहती हुई वह अखबार मांगती है।

अभी क्या उमर होगी? उसकी ओर देखने पर मुझे खयाल आता है। आंखों के नीचे काली-काली झांइयां। पसीने से भीगी, पाउडर की परत कितनी भद्दी लग रही है! क्या मिलता होगा इसे! पता नहीं किसकी क्या समस्याएं हैं! इतनी कच्ची उम्र में ही दो रोटियों के लिए अकेले ही इतना दूर भटकना पड़ता है।

उस साल लंबी छुट्टियों में घर गया था। कोई सरकारी बड़ा मुलाजिम दौरे पर आया था। रात को डाक-बंगले में ठहरा था। कहते थे उस सारी रात नई ग्रामसेविका को पांच आदमियों ने अपने ही कमरे में रखा था। सुबह वह किसी रजिस्टर पर दस्तखत कराने हमारे घर आई थी, उसका चेहरा कितना उतरा हुआ था!

"यह तो आम बात है।" गांव के लोगों का कहना था।

माहौल बिगड़ गया है। जहां पहले सत्संग होता था, वहां जुआरियों की टोली सुबह से शाम तक जमी रहती है। जिस दिन लाठियां न चलती हों वह दिन ही नहीं!

नाश्ते के बाद बैग में से कोई पुस्तक निकालकर पढ़ने लगता हूं। ट्रेन बैलगाड़ी की तरह लड़खड़ाती फिर आगे बढ़ रही है।

मां बैठी-बैठी सो गई हैं। सैनिक खिड़की से दूर गन्ने के खेतों में पता

नहीं क्या देख रहा है! सामने बैठी लड़की अखबार लौटाकर इस बार बिना पूछे कोई मैगजीन उठा लेती है।

पीलीभीत स्टेशन आने से पहले ही मुसाफिरों में हलचल शुरू हो जाती है। पढ़ने में मन नहीं लगता। मैं सैनिक की ओर देख रहा हूं—उसके रूखे बालों पर धूल जमी है, होंठों पर पपड़ी। बैठा-बैठा, गाड़ी के हिचकोले खाता ऊंघ रहा हे। बेचारा साल-दो साल बाद 'छुट्टियों में अब घर आया होगा, पता नहीं फिर कब आना हो! उसका चेहरा मेमने की तरह मासूम लग रहा है, जिस पर कोई विकार नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर इन मेमनों की बलि हम कब तक चढ़ाते रहेंगे? उन बियाबान बर्फीली चट्टानों पर ये किसके लिए लड़ते हे? अब यहां रहा ही क्या है, जिसकी हम हिफाजत करना चाहते हैं?

"उठते क्यों नहीं, भाई?" मैं झुंझलाकर कहता हूं तो वह अचकचाता है। इधर-उधर देखता हुआ जल्दी-जल्दी सामान समेटने लगता है।

गाड़ी धीरे-धीरे प्लेटफॉर्म पर रुक जाती है।

मेरे रूखे व्यवहार की उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। वह बड़ी आत्मीयता से हाथ मिलाता है। मां के पांव छूता हे, "जिंदा रहा तो दद्दा, फिर मिलूगा—हाऽ।" कहता हुआ भीड़ में ओझल हो जाता है।



अनचाहे

विचित्र-सा लगता है कभी, जब उसके बारे में सोचता हूं।

उसका सवा साल का नन्हा गुड्डो अकसर जाफरी का दरवाजा खुलते ही, अपने पिंजड़े से निकलकर मेरे कमरे में रेंगने लगता है और आते ही तोड़-फोड़ शुरू कर देता है। किताबें उलटता है। कागज़ों को विखेरता है। नाचता है। फिर चहककर किल-किल शोर मचाता है। अभी कुल दिन कितने बीते हैं, जब वह मेरी नई 'क्विंक' की दवात सीमेंट के नंगे फर्श पर चूर-चूर कर नौ-दो ग्यारह हो मया था।

तब कुछ ही देर में बेसन से सने हाथों को लिए वह घबराई हुई मेरे दरवाजे पर ठिठक पड़ी थी। सकुचाते हुए उसने मेरी ओर देखा। जैसे अपराध बच्चे से नहीं, उसी से हुआ हो। छल्ले की तरह आंचल अंगुली पर लपेटकर उसके उदास चेहरे ने, उसकी झुकी आंखों ने, उसके फड़कते होंठों ने, चुप रहकर भी बहुत कुछ कहने की चेष्टा की थी, यानी कि जरूरत से भी अधिक।

वह बिना कुछ बोले, बिना कुछ कहे, जिस तरह आई थी, चुपचाप उसी तरह चली गई। एक शून्यता फिर छा गई। परन्तु लगा कि अपने जाने के बाद इस शून्यता में एक और शून्यता छोड़ गई है, जो इस घुटन-भरे वातावरण में घुल-मिलकर कहीं ओझल हो चली है।

थोड़ा-थोड़ा मुझे याद आ रहा है, जब मैंने उसे पहली बार देखा तो मुझे शायद ऐसा ही लगा था, जैसा कि औसत दर्जे की एक साधारण-सी औरत को देखकर लगता है, जिसे ढंग से कपड़े पहनने का शऊर नहीं, बाल काढ़ने का शऊर नहीं, उठने-बैठने तथा बातचीत करने तक का भी शऊर नहीं। क्योंकि

उसने हमारे सम्मिलित गुसलखाने में ढेर सारे कपड़े पटक रखे थे। खूंटी पर बादामी रंग की अपनी पुरानी चोली टांग रखी थी, पसीने से भीगकर जो एकदम पीली पड़ गई थी।...बच्चों के कच्छों पर मैल साफ दीख रहा था। बदबू आ रही थी। उसी के बाहर कूड़े का टूटा कनस्तर और कोयले की फटी बोरी औंधे मुंह बिखेर रखी थी।...लकड़ी की गिट्टियां दूर-दूर तक छितरी पड़ी थीं।

जब मैं टैक्सी से अपना असबाब उतार रहा था तो उसने मुझसे बिना बात देर तक बात की थी और कहा था कि अब वह प्रसन्न है। क्योंकि जो सज्जन यहां पहले रहते थे, वह भले नहीं थे। छत पर टंगी उसकी चौखानेदार नीली चादर, जो एक बार नदारद हो गई थी, छठे दिन उसके ही घर पर दिखी। और किसी ने जब कुछ कहा तो ऐसा हो-हल्ला मचाया कि पड़ोसियों तक के कान खड़े हो गए थे।...और जब उनकी बीमार पत्नी तीन-चार महीने के लिए अपने मैके चली गई तो हजरत तहमत बांधे सांझ-सकारे छत पर ही टहलते नजर आते थे। लोगों का तो खयाल भाई साहब यहां तक है कि वो...वोऽ जो आपके ऊपर 135 में, जो विधवा भैनजी रहती हैं उनसे...लोग तो यहां तक कहते हैं कि...।

मैं सिर हिलाकर केवल 'हां हू, हा हूं' करता रहा। दरअसल बात यह है कि अधिक बातूनी लोग मुझे पसन्द नहीं, उस पर औरतें तो रत्ती भर भी नहीं...। मेरे साथ एक कमजोरी भी है—अकेले में औरत से बातें करते मुझे न जाने क्यों हिचकिचाहट-सी महसूस होने लगती है—घबराहट-सी।...इसलिए जहां तक बन सकता है, मैं बचने की कोशिश करता हूं।

किन्तु जब वह मेरे कमरे में आई और सहानुभूति से बोली कि—कमरा कित्ता गंदा पड़ा है, तब मैं उसकी ओर देखता रहा। उसने भी शायद मेरे चेहरे पर कुछ पढ़ने की चेंष्टा की थी। क्यों की थी? यह बात मेरी समझ में आज तक नहीं आई।

तभी कांच का लम्बा गिलास भर, नींबू का ठंडा पानी भी वह रख गई थी और उसने पूछा था कि मैं उसकी 'भैनजी' को भी साथ क्यो नहीं लाया?

तब मेरे यह कहने पर कि अभी तक मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ और मैं अकेला ही हूं और फिलहाल आगे भी अकेला ही रहने का विचार है—वह अनायास उदास होकर चली गई थी।

शाम को जब उसका पति घर आया तो वह उससे मेरा ही बखान किए जा रही थी—बगल वाले भाई साब आदमी नहीं हैं। हां, सचमुच देवता हैं। आंखें उठाकर भी किसी की ओर नहीं देखते। बेचारे जब से आए हैं तब से, इस गर्मी

में भी दरवाजे-खिड़कियां सब बन्द किए पड़े हैं। लाख मनौती करने पर भी बाहर बैठने को राजी न हुए। मैंने 'भैनजी' की बात पूछी तो शरमाते थे।...और आपके बारे में बार-बार पूछते थे कि भाई साब कहां गए! बेचारों को अकेलापन अखर रहा होगा। आखिर हमीं उनके दुःख-सुख में शरीक नहीं होंगे तो दूसरा कौन होगा...?

फिर कुछ देर तक कोई आवाज न आई।

फिर पुरुष का-सा स्वर टकराया—"उनके कमरे में तो अंधेरा लगता है अभी। जल्दी क्या है? कल मिल लूंगा—सुबह।"

"सुबह...! क्यों...? अभी क्या बजा है? कोई सोए थोड़े ही होंगे!"

फिर बच्चों का छीना-झपटी का शोरगुल सुनाई देता है। फिर—

"क्यों जी! लोग बिना ब्याह किए उम्र-भर कैसे रहते होंगे?...आप तो दो दिन भी नहीं ठहर सकते...।"

पता नहीं वह इसका क्या उत्तर देता है! लेकिन इतना अवश्य आभास हुआ कि वह अब आने की तैयारी में है।

मैं घबरा जाता हूं। अब वह मेरे गले टंगेगा। रात-भर 'बोर' करेगा। मैं थका हुआ—परेशान! भलामानुस, रोशनी बुझाकर सोने का बहाना बनाकर भी चैन नहीं लेने देगा।...ऐसे लोगों के पड़ोस में कैसे रहूंगा! सूझता नहीं।

मैं चुपके से ताली ठोंककर बाहर निकल पड़ा और इधर-उधर पार्कों में निरुद्देश्य पड़ा रहा और बहुत रात गए तब तक मुड़कर न लौटा, जब तक उनका पूरा परिवार खुली छत पर बिखरा खर्राटे न भर रहा था।

प्रातः मुझे कुछ आवश्यक कार्य से बाहर जाना था। केवल गीले तौलिए में लिपटा जल्दी-जल्दी गुसलखाने से लौट रहा था कि वह टकरा गई। उलाहने से बोली—"इत्ती रात गए कल आप कहां चले गए थे? आपके भाई साब कम-से-कम चार बार आपके दरवाज़े तक आए और निराश होकर लौट गए। ...खैर, गाजियाबाद जाने के कारण जरा हड़बड़ी में थे। कल जमकर बातें करेंगे। खैर, कोई बात नहीं...खैर...।"

अभी मैं कमरे में पहुंचा नहीं था कि उसे न मालूम क्या याद आ पड़ा! लौटकर फिर सामने खड़ी हो गई। कमर पर सिर्फ गीला तौलिया लिपटा होने के कारण मेरी हालत अजीब थी, पर वह बेधड़क कहे जा रही थी—"आप रात को चले कहां गए थे?"

"क्यों?" झुंझलाकर मैंने कहा।

"चोरी का डर रहता है न आजकल!" वह बोली—"कोई आपका असबाब

लपेटकर ले जाता तो हम आपको कौन-सा मुंह दिखलाते, बतलाइए! मुझे तो रात-भर नींद न आई आपकी ही फ़िक्र में घुलती रही। मुए रोज ताले टूट रहे हैं।"

तीसरे या चौथे दिन!

प्रेस वाला कपड़े तह कर लाया। जल्दी में, आलस्य के कारण या लापरवाही से अथवा अपनी नासमझी से उसने मेरे सूखे कपड़ों पर बेरहमी से सिंचाई कर डाली थी। अतः धूप में सुखाने के लिए, बाहर बरामदे पर लटकी तार की डोरी का सहारा लेना पड़ा।

गुड्डो ने लकड़ी की गिट्टियां इधर-उधर फेंक दी थीं। कोयले की बोरी में घुसकर तमाम मुंह पोत डाला था। कुत्ते के पिल्ले की तरह उसका कान घसीटती हुई वह आई।

"आप हरदम यों किवाड़ बन्द क्यो किए रहते हैं, भाई साब?" उसने मुड़कर देखा, "लोग कहते हैं, साफ़ खुली हवा न मिलने से तन्दुरुस्ती पर खराब असर पड़ जाता है...।" कुछ ठहरकर फिर उसने हवा में झूलते मेरे कपड़ों की ओर निहारा, "आप बड़े प्लेन कपड़े पहनते हैं जी! मेरे मंझले ताया की तरह खद्दर के। गुड्डो के पापा तो इतनी तंग मोहरी की पैंट पहनते हैं कि...।"

मैं सामने खड़ी नारी की ओर देखता रहा। पर वह थी, उसी बहाव में बही चली जा रही थी। गुड्डो को दो-तीन बार ऊपर बांहों में उछालकर चूमती हुई वडी बेफिक्री से बोली, "आपको रंगीन कपड़े कतई अच्छे नहीं लगते, क्यों जी?—यही कि तड़क-भड़क वाले...बेल-बूटे वाले...!"

"नहीं तो...!" उत्तर में कुछ तो कहना ही चाहिए, इसलिए मैं कह रहा था, "अपनी-अपनी पसन्द है। इसमें क्या?"

तो एक दिन देखता हूं—वह दो नन्हे सफ़ेद पैट और दो बांह कटी नन्हीं बुश्शर्ट लिए खड़ी है। "भाई साब, ये कपड़े आपको पसन्द हैं? यहीं खादी भण्डार से लाई हूं—गुड्डो के लिए।"

मैंने यों ही परखा, देखा और कह दिया—"ठीक हैं।"

"नहीं!" वह अपना धीरज रोक न पाई। बोली—"आपने अच्छी तरह देखा कहां? देखिए न! आराम से देखिए!" कपड़े उसने फिर मेरे हाथों में धकेल दिए ओर दीवार की तरह सामने खड़ी हो गई।

मुझे एक बार फिर उन्हें देखना पड़ा। कॉलर पर लगे नाइलॉनी सफ़ेद बटन को देर तक दो अंगुलियों के बीच थामे घुमाता रहा, "हां-हां! कह तो रहा हूं, बहुत अच्छे हैं। गुड्डो पर खूब सजेंगे। सादगी में भी तो सौन्दर्य होता है न!"

वह खीले की तरह खिल उठी। होंठों पर अंगुली रखकर बोली, "आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। सादगी में भी तो सौन्दर्य होता है न! जरूर होता है तभी तो आप पहनते हैं।"

अपनी हंसी मैं रोक न पाया।

"मुझ पर भी तो ये सादगी वाले कपड़े अच्छे लगेंगे न!" उसने फिर मेरी ओर देखा।

इतनी सादगी से उसने यह बात कही कि मैं जोर से हंस पड़ा।

इसका शायद उसने गलत अर्थ लगाया। अपनी बात पर तूल देती हुई बोली—"भाई साब, क्या नहीं लगेंगे अच्छे! मैं तो सच एक जोड़ी ब्लाउज खरीद भी लाई हूं। मैंने पहनकर शीशे में देखा तो बहुत अच्छा लगता था। बस थोड़ा-सा चुस्त—कुहनियों पर लगता है। वैसे बुरा नहीं। सुदेस की अम्मा कहती थी कि...। आप देखेंगे, भाई साब! पहनकर दिखलाऊं...!"

उसकी इस तरह की बातों ने सचमुच मुझे बहुत परेशान कर दिया। मैंने टाल दिया कि फिर देख लूंगा, जब वह पहनेगी!...उस पर भी खद्दर के कपड़े खूब जंचेंगे...।

मेरी आदत है कि देर तक पढ़ता हूं। रात को जब तक नींद नहीं आती, पढ़ता रहता हूं। व्यर्थ की बहसें सुहाती नहीं। अधिक बोलने से न जाने क्यो मुझे परेशानी होती है। जिस दिन ज्यादा बोलता हूं, रात को देर तक नींद नहीं आती और फिर स्वयं पर झुंझलाहट होती है। इसलिए पास-पड़ोस वालों से ज्यादा सम्पर्क मैंने जान-बूझकर बढ़ाए नहीं!...सम्पर्क बढ़ाने के नतीजे मैं पहले ही बहुत भुगत चुका हूं। अतः आदमियों के इस घनघोर जंगल में अकेला ही पड़ा रहता हूं।

लेकिन इसके बावजूद मुझे न जाने क्यों बार-बार यह लगता है कि परेशानी फटे कम्बल की तरह मेरा साथ छोड़ने वाली नहीं है।

हमारी पड़ोसिन, यानी कि मेरी 'बहनजी' यानी कि 'गुड्डो की ममी' ने यह खबर मुहल्ले-भर में फैला डाली है कि उनका पड़ोसी यानी मैं 'सटूडैण्ट' हूं। शायद 'परभाकर' की 'परिच्छा' के लिए जान खपा रहा हूं।...नौकरी मुझे मिली नहीं, तभी तो दिन-भर घर पर बैठा अखबारों के पन्ने पलटता रहता हूं। शायद इसीलिए इत्ता बड़ा होकर ब्याह की बात नहीं सोच पाता!...लेकिन मैं खादी के कपड़े पहनता हूं, इसलिए भला आदमी हूं।

तब सम्भवतः उसकी किसी 'भैनजी' ने बतलाया कि आजकल खद्दर के

कपड़े पहनने वाले सब भले नहीं होते। कुछ तो एकदम लफंगे होते हैं—चोट्टे!

उस दिन मैंने देखा उसने पहली बार मुझे सन्देह की दृष्टि से देखा। फिर किसी बहाने मेरे सामने से गुजरकर पूछा, मैं रात को देर से क्यों आता हूं?

मुझे इस बार क्रोध नहीं आया, सहानुभूति ही जागी। विस्तार से मैंने उसे देर से आने का कारण समझाया तो उसे बेहद सन्तोष हुआ। अपनी भूल पर उसने पश्चाताप प्रकट किया और बतलाया कि अमुक भैनजी ने उससे यह बात कही थी। वह बड़ी झगड़ालू है। अपनी बूढ़ी सास के हाथ बांधकर बड़ी बेरहमी से पीटती है। दो-दो दिन तक खाना नहीं देती...।

लेकिन उस दिन सचमुच ही उसकी आकृति देखने लायक थी, जिस दिन उसने सुना कि मैं 'सटूडैण्ट' नहीं, किताब लिखता हूं, अखबार में लिखता हूं और मैंने 'परभाकर' कब का पास कर लिया है।

लिखने वाला आदमी भला आदमी होता है, अच्छा आदमी होता है—उसकी इस अबोध धारणा ने उसमें कितने ही परिवर्तन एक साथ ला दिए थे, जिन्हें देखकर मुझे हंसी आई, दुःख भी हुआ। हंसी इसलिए आई कि वह ऐसी क्यों हे और दुःख भी शायद इसी बात पर हुआ।

उस दिन से उसने गुसलखाने में एक भी तिनका धरने न दिया। कोयले की फटी बोरी काठ के टूटे बक्से में समेटकर अन्दर रख दी। गुड्डो को उस दिन से कभी भी अपने पास रोता नहीं देखा। पेटीकोट के ऊपर कसा हुआ काला ब्लाउज लगाकर बालकनी में झुककर खड़ी होकर, अपने सामने की पड़ोसिन से गला फाड़-फाड़कर बातें करते भी कभी नहीं सुना।

मैं देर तक क्यों पढ़ता हूं, रात को देर से क्यों लौटता हूं—उसने कभी शिकायत नहीं की...।

दो-चार दिन के लिए मैं बतलाए बिना ही एक बार बाहर चला गया (अपनी पुरानी आदत के अनुसार) और जब लौटा तो उसे बेहद उदास पाया। उसने चुपके से वे सारी पत्र-पत्रिकाएं मेरी ओर बढ़ा दीं, जिन्हें मेरी अनुपस्थिति मे गलती से पोस्टमैन उसे दे गया था। उसने उन्हें कितना सहेजकर रखा था, मुझे आश्चर्य हुआ।

पास ही मार्केट से वह किराए पर कुछ किताबें ले आती। मेरे सामने अपने दरवाजे के आगे खटिया बिछाकर खाली समय में पन्ने पलटती। दूसरों को भी बिना पूछे नसीहत देती रहती कि पढ़ना बहुत अच्छा है। उसके पिताजी मरते

दम तक उर्दू की रामायण और 'पंच-महाभारत' का पारायण करते रहे।

को-ब्वाय टाइप की तंग पैंट पहनने वाले अपने पति को जिस दिन उसने खादी के ढीले-ढाले कपड़ों से विभूषित किया और मुझे चाय पर बुलाया—सचमुच मुझे अजीब-सा लगा। उसके पति की हालत भी विचित्र थी। फिर भी न जाने क्या सोचकर काठ के बुत की तरह चुप था। शायद पत्नी से डरता था।

चार-छह फटी किताबें, चार-छह फटी-पुरानी मैगजीनें उसने बड़े करीने से खुली अलमारी में सजा रखी थीं।

उसने सारा समय किताबों की ही बातें कीं। बचपन में उसे भी पढ़ने का शौक था—बेहद शौक। प्रेमचन्दजी की किताबों के उर्दू तर्जुमे उसने बड़े चाव से पढ़े थे। अपने मैके में उसने 'रवींदर'जी का एक रंगीन फोटू किसी अखबार से उतारकर फ्रेम करके रखा था जो आज तक उसके पिताजी की बैठक म ज्यों-का-त्यों टंगा है। इधर ब्याह के बाद सब-कुछ उलट-पुलट गया है। अपने 'इनसे' यह कितना कहती है, लेकिन ये सुनी की अनसुनी कर देते हैं।...अब मुझसे पुस्तकें मांगकर वह कभी-कभी पढ़ लेगी और पढ़कर लौटा भी देगी। जहा तक हो सकेगा वह गुड्डो के हाथ में नहीं देगी, क्योंकि वह नोच-नोचकर फाड डालेगा।

इन फिजूल की बातों से ऊबकर जब उसका पति सिगरेट सुलगाने के बहाने बाहर गया तो उसने कुछ क्षण का मौन भंग कर कहा—"इन्हें ऐसी बातो में कुछ भी रस नहीं आता। शायद इसलिए कि उन्होंने खुद भी तो अधिक पढ़ा नहीं। कित्ता कहती हूं, कोशिश करके मुझे कहीं प्राइमरी-पाठशाला में पढ़ाने का काम मिल सकता है, लेकिन ये हैं कि...।"

उसने फिर शिकायत से देखा और कहा कि मैं उसे अपनी पुस्तके क्यों नहीं पढ़वाया करता!...जब से पहली बार उसने मुझे देखा तो उसे लगा...। वह बाहर रद्दी के कनस्तर में से मेरे कागज़ों को ढूंढ-ढूंढकर पढ़ती है। क्या वह कहानी छप गई जिसमें एक अबोध अनाथ बालिका अपनी मां की लाश दोनों हाथों से पीटती है, क्योंकि वह उससे नहीं बोलती...।

आसमान पर उनीली, सुरमई चादरें बिखर गई हैं। एक परत के बाद एक—न जाने कितनी तहें। हवा में तनिक शीतलता है। इतनी लम्बी गर्मी के बाद—कजरारे बादलों की लटें! ठंडी-ठंडी बयार। मैं दरवाजे-खिड़कियां सभी खोल लेता हूं। कुछ लिखने में डूबा हूं। सामने ही दरवाजे के पास वह खुरड़ी खटिया पर गुड्डो को खिला रही है। गुड्डो नन्ही-सी गेंद छिटककर फेंकता है जो फुद्-फुद्

उछलती मेरे कमरे की ओर निकल भागती है और पांवों के पास रुकती है।

उसकी निगाहें ठहर जाती हैं। गेंद लेने के बहाने वह दरवाजे तक आती है और ठिठक जाती है।

"सुबह से आज आप क्या लिख रहे हैं, भाई साब?"

"कुछ भी नहीं।"...उसकी कभी न खत्म होने वाली बातों का सिलसिला में शुरु होने से पहले ही खत्म कर डालता हूं।

लेकिन वह भी तो कुछ कम नहीं है—"नहीं, कुछ तो है...।"

मैं चुप रहता हूं।

पर वह फिर कुरेदती है—"कुछ तो लिख रहे हैं!"

"हां, मैं चिट्ठी लिख रहा हूं...।" विना ऊपर देखे ही बुदबुदाता हूं।

"चिट्ठी... ई...ई!" 'ई' के साथ-साथ उसकी आंखें बड़ी हो जाती हैं—"इत्ती बड़ी चिट्ठी- आठ-दस पेजों की! हाय दय्या !" वह विस्मय मे देखती है। विश्वास नहीं हो पाता, "नहीं, यह चिट्ठी नहीं है। आप झूठ बोल रहे हैं।"

फिर कुछ क्षण ठहरकर धीरे-से कहती है, जैसे अपने आपसे बातें कर रही हो—"नहीं, नहीं, आप भी क्या कहीं झूठ बोल सकते हैं!... पर, यह चिट्ठी...!"

मैं झुंझलाता हूं, हां-हां, तुम ठीक कह रही हो। मैं झूठ बोल रहा हूं—मैं चिट्ठी नहीं लिख रहा।"

उसे जैसे मन की बात मिल जाती है—"तो फिर...?"

"मैं गाय पर निबन्ध लिख रहा हूं...।" परेशान होकर मैं कलम रख देता हू और उसके चेहरे की ओर ताकने लगता हूं।

कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। मुझे गम्भीर देखकर वह कुछ सहमती है, फिर चुपचाप चली जाती है।

मैं फिर लिखने का मूड बनाता हूं।

आधा पेज भी पूरा हुआ नहीं कि देखता हूं—वह फिर धमाधम कमरे में चली आ रही है—हाथ में गिलास थामे।

"यह क्या?"

"क्या आपको प्यास भी नहीं लगती? कब से गर्दन झुकाए लिख रहे हैं। गुड्डो के पापा तो....!"

न चाहते हुए भी पीना पड़ता है।

रीता गिलास दोनों हाथों में थामे वह मेरे स्याह-सफ़ेद कागज़ों की ओर देखती रहती है।

"गाय पर निबन्ध लिखकर क्या होता है, भाई साब?"

"गाय दूध ज्यादा देती है।"

वह किलककर हंसने लगती है, "आप झूठे हैं...कहानी लिख रहे हैं!" फिर तनिक सोचती हुई कहती है–"आप 'धारावाहिक उपन्याय' क्यों नहीं लिखते? सुना है आजकल बहुत चलन है उसका !"

मैं निरूत्तर उसकी ओर देखता रहता हूं।

"भाई साब!" वह एक दिन कहने लगती है–कुछ संयत स्वर में। जैसे बहुत महत्त्वपूर्ण बात कहने जा रही है–"आप प्रेम-कहानियां लिखते हैं न?"

"..."

"तो...तो...तो यानी! आप किसी से...!" वह कुछ हिचकिचाती है, "मतलब–किसी से प्रेम किया है न।"

मैं सिर हिलाता हूं–"ना।"

"झूठे कहीं के !" वह अजीब-सी सूरत बनाती है, "नहीं तो प्रेम-कहानियां कैसे लिखते?" कहते-कहते उसे कुछ याद आता है–"लेकिन भाई साब, आप इत्ते सीधे हैं। फिर आपने प्रेम कैसे किया होगा? लोग तो कहा करते हैं कि प्रेम करने वाले लोग अच्छे नहीं हुआ करते...।"

मुझे हंसी आ जाती है उसकी बातें सुनकर।

वह दरवाज़े के सहारे खड़ी हो जाती है–"भाई साब, प्रेम शादी के बाद हो सकता है? गुड्डो के पापा तो कहते हैं कि वह बचपन में ही होता है, शादी से पहले। क्या वे सच कहते हैं...?"

मैं चुप रहता हूं।

"प्रेम क्या होता है, भाई साब?" वह फिर बड़े चिंतन के पश्चात् कहती है–"सनीमा वाले तो कहते हूं। कि..."

मैं चुप रहता हूं, पर वह ज़िद पर है–"क्या होता है, भाई साब! आप बतलाते क्यों नहीं? लोग तो कहते हैं, आप दुनिया-जहान की सारी बातें जानते हैं। तभी तो लिखते हैं...।"

मैं बेहद परेशान हो उठता हूं। तभी दरवाज़ के बाहर खट्-खट् जूतों की आवाज आती है। उसका पति सामने से निकल जाता है। मुझे बड़ी सकपकाहट होती है, लेकिन उसे चिन्ता नहीं।

उसके कमरे से फिर आवाज टकराती है–"भाई साब को इत्ता भी नहीं आता। पता नहीं कहानी कैसे लिखते हैं?...क्यों जी, क्या होता है...?"

मुझे उसके स्वभाव में हौले-हौले काफी परिवर्तन महसूस होने लगता है।

न वह अब अधिक बोलती है, न हंसती है। गुमसुम चुप बैठी रहती है। एक बार उसने कभी शिकायत से कहा था--"गुड्डो के पापा की तरह इधर आप भी दिन-रात मुंह फुलाए क्यों रहते हैं, भाई साब?...एक बार भी आपने मुझसे यह नहीं कहा कि खादी के कपड़े मुझ पर अच्छे लगते हैं। पुस्तकें पढ़ना अच्छा होता है। लिपस्टिक लगाना छोड़कर मैंने अच्छा किया।" उसका स्वर रेत की तरह रीता हो गया था।

पत्थर के ढेले की तरह मैं चुप था, कुछ कहना चाहता था, लेकिन वह उसके लिए तैयार न थी...।

अपने कांपते गुलाबी अधरों को दांतों से भींचते हुए उसने आंचल का किनारा कसकर जकड़ लिया--"भाई साब...!" वह कुछ कहती-कहती चुप हो गई और झटके से मुड़कर ओझल हो गई।

इधर मुझे काम कुछ अधिक रहता है। अतः सुबह जल्दी निकल पड़ता हू और काफी रात गए लौटता हूं। वह दिखलाई नहीं देती।

गर्मी के दिनो में जमुना ही नहीं सूखती--नल भी सूख जाते हैं। प्रातः नो से पहले ही नल सीटी बजाने का पूर्वाभ्यास करने लगते हैं। ऊपर की मंजिलों म तो बूंद भी नहीं चढ़ पाती, इसलिए सारी व्यवस्था नीचे से ही करनी होती है।

मैं फुरसत में था--एक दिन। बाहर खड़ा-खडा प्रेस वाले की प्रतीक्षा में था, तभी वह सामने से गुजरी। एक हाथ में अधभरी पानी की बाल्टी, दूसरे में पट्टी। माथे पर रिबन-सा संकरा सफेद टुकड़ा आर-पार बधा था।

"क्यों--क्या हुआ?" चौंककर मैंने पूछा।

हवा जैसे थम गई। पानी जैसे ठहर गया। उसने बाल्टी नीचे रख दी। दोनों हाथों से मुंह पर बिखरे बालों को पीछे धकेला और शून्य में न जाने क्या टटोलने लगी?

उसकी इस चुप्पी से मैं सकुचा-सा आया--"क्यों, गिर पड़ी थीं क्या सीढ़ियों मे?"

वह उसी तरह देखती रही।

फिर मुंह को आंचल से पोंछा और चुपचाप चली गई।

मैं असमंजस में डूबा खड़ा सोचता रहा ।

करीब बारह का घंटा ठनका। मैंने करवट ली। उठा और सुराही उड़ेलकर

फिर सो गया। रात अभी काफी थी।

तभी दरवाजे पर आहट-सी आई—खट्-खट्!

मैंने ध्यान नहीं दिया। शायद चूहे उछल रहे होंगे।

फिर वही टिक्-टिक्। और फिर लगातार...

मैं झुंझलाकर उठ बैठता हूं—"कौन?"

कोई आवाज नहीं। केवल सफ़ेद चादर में लिपटी एक छाया-सी खड़ी सामने आ जाती है।

मेरे मन में तरह-तरह की शंकाएं जगीं। बिजली के बटन पर हाथ गया और धूल की तरह ढेर सारी रोशनी बिखर पड़ी। उनींदी आंखों में दर्द-सा होने लगा।

"क्यों...?" मैंने प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा।

"भाई साब, मुझे नींद नहीं आती। गुड्डो के पापा मुझे रोज मारते हैं।" उसने भोले भाव से कहा।

"क्यों? क्यों मारते हैं?"

"पता नहीं।" हताश होकर उसने कहा—"मुझसे कहते हैं कि मैं भली औरत नहीं हूं...।"

"क्यों ?"

"कहते हैं—मैं सब जानता हूं। तुम अब लिपस्टिक क्यों नहीं लगाती? किताबें क्यों पढ़ती हो? खादी की धोती क्यों पहनती हो?...भला देखिए, इसमें क्या हरज है...?" वह कुछ और समीप आकर ठिठक गई।

"भाई साब, वे कहते हैं, तू अपने भाई साब को प्यार करती है। घुल-घुलकर बातें करती है। क्या वे आपसे बातें नहीं करते? फिर मैं भी कभी बोल ली तो कौन-सा अपराध कर बैठी? बतलाइए...?"

मेरा रक्त जमने लगा। मुझसे कुछ कहते न बना।

पर वह कहती गई—"कल मुझे कोयला तोड़ने वाली मूंगरी से मारते थे। कहते थे—तू उसी साले के साथ भक्तन बनकर हरद्वार चली जा और ब्याह कर ले...।" वह दांतों से जीभ काटती है, "च्चऽ।...देखिए न, ऐसा पाप बोलते हैं?. ..ऐसा भी कहीं हो सकता है ? मैं भक्तन बनकर आपके साथ हरद्वार क्यों जाऊं ? जिस औरत का ब्याह हो गया—वह कहीं किसी और के साथ जा सकती है? ऐसी बातें सोचने से परलोक बिगड़ता है न! फिर पता नहीं उन्हें क्या हो गया है...?"

वह मेरी ओर भयभीत आतुर आंखों से देखती है—"आप ही बतलाइए क्या मैं आपको प्यार करती हूं? कहीं ऐसा हो सकता है!—खुद ही तो वे एक दिन

कहते थे कि प्रेम, विवाह से पहले होता है—बचपन में। फिर मेरा ब्याह हुए आज कित्ते बरस बीत गए...!"

उसकी रीती आंखों में अजीब उदासी उभर आई—"आप पढ़े-लिखे हैं? समझा दीजिए न ! कहिए कि हम एक-दूसरे को प्यार नहीं करते, केवल बातें करतें हैं... ।"

वह मेरी ओर देखती है, "आप चुप क्यों हैं? देखिए न, उन्हें कितना गुस्सा आता है? मेरी कलाई की हड्डी तोड़ डाली ! किसी दिन वे मेरी जान लेकर रहेंगे। ...सोचिए, तब मेरे गुड्डो का क्या होगा...?" उसकी पलकों पर ओस की बूंदों की झालर लटक गई। और बच्चों की तरह उसकी नाक बहने लगी।

मैं किसी तरह उसे चुप कराता हूं। मनाता हूं। विश्वास दिलाता हूं कि कल सब ठीक हो जाएगा। मैं उन्हें समझा दूंगा।

वह आंखे पोंछती है, "सच, समझा देंगे न! भूलेंगे तो नहीं!"

मैं सिर हिलाता हूं और वह चली जाती है।

सुबह घड़ी-भर रात पहले जागता हूं। असबाब बांधकर तांगा मंगवाता हूं।

तांगे पर सामान लादकर मैं चलने को ही था कि देखता हूं वह खिड़की पर खड़ी है। दोनों आंखों की खिड़कियां खोले—"भाई साब, आप क्या चले जा रहे हैं....?" उसका मुंह खुला-का-खुला रह जाता है।

"हां।"

"पर, आपने उन्हें समझा दिया न कि...!" सहसा उसे जैसे कुछ याद आ गया। वह अधीर होकर देखती है।

मैं क्या कहूं उससे ! सिर हिलाकर स्वीकृति देता हूं। और तांगे वाले से चलने का इशारा करता हूं।

"अरे, सुनिए...सुनिए तो...ओ...ऽऽऽ!"

तांगा सहसा रुक जाता है।

वह भीतर जाकर फिर खिड़की पर खड़ी हो जाती है। अपने पति का हाथ थामे है—"जी...देखिए, देखिए वो भाई साब जा रहे हैं...! देखिए उन्होने आपको समझा दिया न कि...वे...! तो अब तो आप मुझे गाली नहीं देंगे ! रोज हथौड़ी से नहीं मारेंगे न!" वह जोर से रो पड़ती है, "देखिए, मेरा हाथ टूट गया...!"

तांगा खट्-खट् दूर निकल भागता है। मैं पिछली सीट पर बैठा देखता रहता हूं—आंसुओं से भीगा, उसका पट्टी बंधा सफेद हाथ साफ दीख रहा है।



नंगे पांवों के निशान

पूरा मन-भर सामान लादे ले जा रहा था वह! चिट्ठी पहले ही भेज दी थी कि वह छुट्टियों में घर आ रहा है। दस गते को रवाना होगा। तेरह को टनकपुर और चौदह को खेतीखान—मोटर से। मुंहनियां या सोहन को खेतीखान भेज देना। हो सके तो घोड़े का बन्दोबस्त कर लेना...।

लेकिन कोई भी तो उसे लेने नहीं आया। दो साल बाद परदेस से घर लौटने पर...। उसका जी उदास हो आया। ऐसा पहले तो कभी नहीं हुआ!

दिन-भर वह सारा बाजार टटोलता रहा, पर घर की तरफ का कोई भी दीखा नहीं।

दिन ढलते-ढलते घाटियों में सांझ के साए उतरने लगे। तब झुंझलाकर मिलिट्री का लम्बा गोल थैला कन्धे पर उठाया और भारी-भरकम बूटों से ऊबड़-खाबड़ धरती को रौंदता हुआ निकल पड़ा वह।

कभी-कभी खयाल आने पर इधर-उधर देखना न भूलता। शायद उस तरफ का कोई टकरा ही पड़े। 'हौल्दार सैप, कैसे हो? कब आए पलटन से...?' उसे यों सामान उठाए चलते हुए कोई कहेगा तो कितनी फजीहत होगी! तब वह कुमाऊं रेजिमेंट का हौल्दार डिकरदेव नहीं, मात्र डिकरुवा रह जाएगा, जो कभी बेंत-भर लम्बी धोती पहने भेड़-बकरियां चुगाता था। हल जोतता था। सड़क की रोड़ी तोड़ना या मौकार पधान ज्यू का हुक्का भरता था।

एक अजीब-सी, बिना बात की उधेड़बुन में वह उलझता चला जा रहा था। लपालप तेजी से पांव फेंक रहा था—खिंचा हुआ-सा।

अठारह गते को मुंहनियां का साग-भात। उन्नीस को ब्याह। कुछ दिन घर पर, कुछ दिन ससुराल, गोपुलि के साथ। दो-चार दिन चम्पावत, लोहाघाट

की हवाखोरी। छक के ठरुवा पीएगा। नरदेव और हरकसिंह के साथ खूब जमकर ताश खेलेगा। लधिया से मछली पकड़कर लाएगा। हो सका तो नैनुवां से कहकर बकरा कटवाएगा और ऐश करेगा...।

अम्मा, बाबू के लिए ही नहीं, गोपुलि के लिए भी, ढेर सारे कपड़े लाया है। गोपुलि देखेगी तो कितनी खुश होगी।

गोपुलि का नाम लेते ही उसके सारे शरीर में झुरझुरी-सी होने लगी। पहले भी वह अच्छे कद की थी, पर अब कुछ और लम्बी हो गई होगी—सल्ल के पेड़-सी। भरे-पूरे बदन की।

सच, कितनी अच्छी है वह, बिना सींग की गाय जेसी। आज के जमाने मे क्या कोई औरत इतनी भली, इतनी भोली भी कहीं होती है! जब जो कहा, कभी भी उसने कोई प्रतिरोध नहीं किया। उसकी बातों की याद से ही उसका रोम-रोम भींग आया।

पथरीली पगडंडी पर तभी एकाएक पाव लचक आया। ठोकर लगी तो मुह के वल गिरता-गिरता बचा।

अंधियारा अब सच में काफी घिर आया था। आसमान पर तने पुराने कम्बल पर छलनी की तरह अनगिनत छेद उभर आए थे। उमर-भर का जाना-पहचाना रास्ता टटोलना ही उसे भारी लग रहा था। तीन-चार दिन का लम्बा मफर। अनिद्रा, उस पर मन-सवा मन का भारी बोझ।

पहाड़ के डांडे तक पहुंचते-पहुचते वह उस सर्दी में भी पसीने से नहा आया था। पल-भर सुस्ताने के लिए वह सड़क के किनारे थैले के ऊपर ही बैठ गया।

डांडे के उस पार अंधियारे में डूबा एक गांव। कहीं-कहीं घरों में टिमटिमाते दीये या आग की रोशनी। उस ओर नई आबाद जमीन। आलू के खेत। देवदार का वन, जो चारों ओर से कट-छंटकर मात्र एक गुच्छे की तरह रह गया है। नीचे कमलेकियों की पनचक्की। दूर एक हल्की-सी नदी की धारा।

पनचक्की के पास आग जलती-सी नजर आई। उसे याद आया—बड़े पत्थरों के पिछवाड़े यहां का मसान था कभी। क्या अब भी होगा? हो सकता है, आग वही जल रही हो। उसका दिल अनायास, अकारण धडकने-सा लगा।...तभी याद आया, आजकल आलू का मौसम है। हो सकता है, जंगली जानवरों से रखवाली के लिए खेतों में आग जला रखी हो!

उसने मिट्टी-पाथर के घरों में टिमटिमाते दीयों की ओर फिर देखा। उस सघन अंधकार में कुछ न दीखने पर भी उसे बहुत कुछ दीख रहा था...।

सबसे नीचे का घर। मिट्टी का, पत्थर का, पयाल से छंहा...।

उसकी आंखों के आगे घूमने-सा लगा कुछ।

पिता आंगन के चौड़े पाथर पर बैठे चिलम गुड़गुड़ा रहे होंगे। अम्मा गाय-भैंसों के गोठ में घास-पात डाल रही होगी। आज सारे दिन उसी की चर्चा हो रही होगी। गांव-गिराम के आदमी उसी की बातें करते होंगे—डिकरदेव पलटन से छुट्टी में घर आ रहा है आज...।

गोपुलि के लिए सारी दीवार कान बन गई होगी। बार-बार उसकी निगाहें राह देख रही होंगी। कहीं सामने की पहाड़ी पगडंडी पर कोई आ तो नहीं रहा है। दो साल, पूरे दो साल का अर्सा इस दो दिन की जिंदगी में कुछ कम तो नहीं होता! फिर इस उमर में तो एक-एक दिन, एक-एक युग बन जाता है। कई मीठी स्मृतियां सहलाती, छूती हुई-सी निकल गईं—एक सिहरन-सी छोड़ती हुई।

कहीं सियारों के हुई-हुई उदास स्वर से, उस अंधकार में उसकी तन्द्रा-सी टूटी। समय का अहसास हुआ। थैला कंधे पर धर, बुझी बीड़ी की ठूंठी सुलगाकर वह फिर तेज़-तेज़ कदमों से उतार उतरने लगा। वैसे 'पासिंग-सो' के चार-छह डिब्बे वह टनकपुर मण्डी से खरीदकर लाया है, जिन्हें वह गांव पहुंचकर ही सबके सामने खोलेगा। यहां इस अंधेरे में कौन देख रहा है उसे!

नीचे गहरी घाटी में भयावना, भिसाला जंगल आया। नदी के साथ-साथ डरावना गधेरा। छन्-छन्, मन्-मन् करता पानी सूखे पत्तों के नीचे से बहता। 'चं चं चं' करते बरसाती कीड़े। घुप्प अंधकार में हाथ को भी हाथ सूझता न था।

गुनमुन की-सी आवाज आई तभी। यहां के भूत-प्रेतों की रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानियां सुनी थीं उसने बचपन में। एक क्षण भय-सा लगा। फिर झट से 'हनुमान चालीसा' याद कर झटके से आगे बढ़ा। पलटन की तरह धमाधम लैफ्ट-रैट।

मोड़ के उस पार तभी आवाज कुछ और जोर से टकराई। जैसे कोई हवा में खांसा। हवा में बोला। हौले से हवा में रुदन का कंपकंपाता स्वर व्यापा।

उसके प्राण सूखने लगे।

"को-न?" सशंकित भाव से इधर-उधर ताकता हुआ वह चिल्लाया।

"...?"

"कौन-न?"

"अरे, हम हैं, हम! कौन, पोस्टमैन सैप! गस्त में जा रहे हैं क्या? इत्ती

रात!"

"न्नां! मैं हूं मैं।"

"मैं कौन–?"

"मैं–डिकरदेव...।"

"अरे, हमारा डिकरू!...तू आ गया रे! तेरी ही इन्जारी में इत्ती रात हो गई यार...।" आहत होकर, भरे कण्ठ से कहा किसी ने, "हरे राम! यह है परमेसर की लीला! थोड़ी देर पहले आता तो...!"

"कौन, ठुल काका! किसका जिक्र कर रहे हैं...?" अंधकार में ही आवाज पहचानने की कोशिश की डिकरदेव ने। वैसे ही नमस्कार किया, "कका, इतने जने कहां से आ रहे हो? नाज पीसने या खेतीखान की बजार से...या...।"

"अरे, यार...!"

"...!"

तभी कोई पीछे से, अपने घुटे हुए सिर पर हाथ फेरता हुआ, गहरी सांस भरकर बोला, "क्या कहें? दाज्यू फौत हो गए हो डिकरू!"

डिकरदेव के कंधों पर से थैला गिर पड़ा। अपने कानों पर उसे विश्वास नहीं हुआ, "क्या कहा कका–?"

"यही यार...।"

"बौज्यू (पिताजी) खत्म हो गए? कब? केसे...?"

"आज सुबह...। करनी की रेख भी क्या कोई टाल सकता है। परसों आंगन में बेठे कह रहे थे–हमारा डिकर आने वाला है। पिछले महीने से सुना हौल्दार हो गया हे...उन्नीस को हमारी मुहनियां का ब्या है। बस, फिर सिर से सारा बोझ टल जाएगा। लड़के कमाएंगे, खाएंगे। हमारा क्या! जो दिन जैसे बीत जाए...।"

डिकरदेव की कमर टूट गई। कवायदी पांव कांपने लगे।

"कका, क्या हुआ...?" उसकी जीभ तालू पर चिपक गई।

"क्या कहें यार! बुढ़ापे में न जाने क्या मती हरी गई! बिना बात गले पर रस्सी बांधकर दाड़िम के पेड़ पर लटक गए...।"

डिकरदेव को अब तक विश्वास नहीं हो पा रहा था।

बटिया पर ही बैठ गया वह–माथे पर दुहत्ती मारकर। कपाल थामकर।

उसे याद नहीं कब और कैसे लोगों ने उसे घर के आंगन में खड़ा किया।

घर में घटाटोप अंधियारा था। सुबह से रो-रोकर सब थक गए थे। केवल बरामदे में किसी की सिसकियां सुनाई दे रही थीं। वह समझ गया–मां होगी।

उसे देखते ही घर के सारे लोग फफक-फफककर रोने लगे। बूढ़ी अम्मा उसे सीने से लगाकर फूट पड़ीं। नन्हे बच्चे बिलख पड़े—जोर से।

डिकरदेव को अब तक होश न था। वह आंखें मीचे पत्थर की तरह बैठा था। एक भी आंसू आंखों से ढुलकता न था, केवल अन्तर में आग उमड़ रही थी। धुआं घुट रहा था।

—अरे, बौरा गए क्या? रोते क्यों हो? कका भागवान हुए। इत्ती लम्बी उमर खाकर कौन जाता है? अपने पीछे इत्ता फलता-फूलता परिवार छोड़ गए। खाने-कमाने वाले चार ज्वान-जवान लड़के हों जिसके...।

—ठुल बबा जैसे पुन्नवान सदेह स्वरग जाते हैं। कितनी पूजा-पाठ करते थे रोज। ऐसा नेम-नियम वाला आज की दुनिया में क्या कोई हो सकता है!... ठुल आमा, तू भी नादान हो गई है क्या? तू ही रोने लगेगी तो बच्चों का क्या होगा...?

—हं ओ मुंहनियां, जा बेटा, आग बाल। डिकर के बाल उतार। बामनों की जुगत जुटा। बाती जलाकर करम पर बैठ...।

—अरे डिकरू, जा भीतर। इतना दाना-सयाना होकर तू ही ऐसा करेगा तो औरों का क्या होगा यार?

डिकरदेव की बांह पकड़कर कोई भीतर ले जाता है—"अरे, कुछ देर पहले आ जाता तो पितर का मुंह देख लेता। चिता पर अपने हाथ से काठ देता। सन्तान के हाथ का काठ किसी पुन्नवान को ही मिल पाता है...।"

डिकरदेव ने जैसे सुना नहीं...वह सबका मुंह ताकने लगा।

धीरे-धीरे गांव के लोग छंट गए।

ज्यों-ज्यों रात ढलने लगी, श्मशान की-सी असह्य उदासी चारों ओर छाने लगी। डिकरदेव बाहर आंगन में उतरकर, दाड़िम के पेड़ के सहारे खड़ा होकर ताकने लगा। दूर मसान में अंगारे अब तक धधक रहे थे।

सच, पिताजी चले गए। उसका मन मानता न था।

रात अब तक काफी ढल चुकी थी। 'खर्कूवाल तारा' झांडे के उस पार छिपने ही वाला था। तीन त्याड़ियां उतार पर उतर रही थीं। घर के सारे लोग सो गए थे, केवल भीतर से किसी के निरन्तर सिसकने की आवाज आ रही थी।

पास ही रखे, कांसे के लोटे से उसने जल पिया। कुछ सांस आई।

अपने घुटे सिर पर हाथ रखे, वह वैसा ही बैठ गया। अम्मा के हाथों की चूड़ियां...रोते-बिलखते लोग...पिता का बिना किसी कारण यों फांसी खा लेना

...उसे कुछ भी समझ न आ पा रहा था।

सहसा उसे याद आया, इस भीड़ में हां, गोपुलि तो कहीं दीखी नहीं।... शायद मैके गई हो! मैके कैसे जा सकती है, इसी उन्नीस को लगन ठहरा है। फिर वह आने वाला है, चिट्ठी-पतरी एक महीने पहले से भेज रखी थी।...फिर कहीं बीमार तो नहीं...? फिर! फिर—उसका माथा घूमने लगा। पूछे भी किससे? कैसे...?

फिर कहीं से उसे सिसकने की जैसी आवाज आई।

करवट बदलते हुए उसने आंखें खोली। देखा। लेकिन, दीखा कुछ नहीं।

पलकें मींचकर वह फिर लेट गया। एक झपकी-सी अभी लगी ही थी कि किसी के चहककर चीखने का जैसा स्वर टकराया। वह हड़बड़ाकर बिस्तर से उठा। पलन्न का खाकी कम्बल छिटककर दूर फेंका। भीतर घुसा, हड़बड़ाता हुआ, परन्तु वहां कुछ नहीं, सब जहां-तहां फर्श पर बिखरे सोए हैं।

कानों का भ्रम होग शायद! अपने पर बहुत झल्लाया वह और फिर कम्बल तानकर लेट गया।

लेकिन कुछ क्षण पश्चात् फिर वैसा ही रोने-कराहने का स्वर फूटा।

उसने इस बार ध्यान से आवाज़ पकड़ने की कोशिश की। जमीन पर कान लगाकर सुना। सिसकने की आवाज जैसे नीचे से आ रही थी—जानवरों की गोठ से।

बरामदे की तीन-चार सीढ़िया एक साथ लाघकर वह गोली की तरह भागता नीचे पहुचा। भीतर से बन्द दरवाजा। अन्दर धीमा-धीमा शोरगुल। खुसर-पुसर। रह-रहकर किसी का रोना-सिसकना...।

डिकरदेव ने दरवाजा खटखटाया।

भीतर सब चुप। चनक बंद।

साकल पकड़कर फिर खट्-खट्!

"...।"

फिर—

"...।"

वह आपे से बाहर हो उठा। बदूक थामने वाले हाथों ने इतनी जोर से किवाड़ झकझोरे कि चौखट हिलने लगी। तमाम मिट्टी भर-भर नीचे गिरने लगी। भीतर बंधे जानवर बिदकने लगे।

तभी खट्-से किवाड़ खुले।

ढिबरी के धुंधलके में देखा—सब सन्न खड़े है, खम्भे की तरह। एक ओर

जानवर भयभीत-से देख रहे हैं। दूसरी ओर मुंहनियां आस्तीन चढ़ाए, हाथ में बांज का भारी-सा लक्कड़ लिए यमदूत की तरह खड़ा है। उसके बाल बिखरे हैं। लाल-लाल आंखें माथे पर चढ़ी हैं! कुमनियां के हाथ में रस्सी है। अम्मा काल-भैरवी का विकराल रूप बनी...।

दो-तीन कदम आगे बढ़कर देखा...सूखी घास के ढेर के पास कच्ची ज़मीन पर एक गठरी-सी पड़ी है। तन के कपड़े जगह-जगह फटे...चिथड़े-से। सिर से लहू बह रहा है। घुटने बुरी तरह छिले हैं। पांवों में सिर छिपाए वह सिसक-सिसककर, रह-रहकर रो रही है...।

"यह क्या अम्मा...! क्यों रे मुंहनियां, कुमनियां...!"

कुमनियां कुछ कहने के लिए आगे बढ़ा, पर शब्द फूटकर बाहर न आ पाया।

मुंहनियां के होंठ भी जैसे सिल गए। उसकी आंखें अभी तक माथे पर चढ़ी थीं।

अम्मा अपने को रोक न पाई, फूट-फूटकर रोने लगी। अपने कपाल पर दोनों हाथ पटकते हुए, "क्या करें इजु, करम ही फूट गए हमारे तो।...जब से यह डाइन घर आई है, इसने सब-कुछ भता भंग कर दिया है। इसी रंडी के दुख के कारण तेरे पिता ने फांसी लगाई है। शरम के मारे कपाल तक ऊपर उठा न सके।...बेटा परदेस...पलटन में। इस पर जोबन चढ़ा है। इस पातर ने हमारी नाक कटा दी है। रोज-रोज अब इसी का रोना है।" माथा पकड़कर वह जोर-जोर से रोने लगी।

मुंहनियां ने समझाया, "इस तरह जोर-जोर से न रो अम्मा! देखती नहीं, मेहमान, बामन आए हुए हैं। कहीं जाग गए तो उल्टी अपनी ही फजीहत होगी...इस रांड का क्या है? हम सबको गांव छोड़कर भागना पड़ेगा।"

"क्या हुआ? क्या हुआ?" डिकरदेव ने हड़बड़ाकर दो-तीन बार पूछा।

"क्या हुआ पूछता है!" अम्मा तुनकी, "अरे, देखता नहीं, यह बदजात तीन महीने का पाप लिए बैठी है। पता नहीं किसका है?"

डिकरदेव के पांवों तले की जमीन धंस गई।

तभी मुंहनियां दांत पीसकर गरजा, "रांड अब रोती है! उस समय नहीं रोती थी, अपने कुकर्मों के लिए...!" उसने लात से ठोकर मारकर भावज का झोंटा घसीटा—"बदजात! बदफैल! तूने हमारे खानदान की ही नाक घौल में डाल दी है...।"

मुंहनियां अपनी भावज के लिए ऐसे अपशब्द कहे, डिकरदेव को अच्छा

नहीं लगा। वह हतप्रभ-सा सामने देखता रहा—गोपुलि की तार-तार फटी घाघरी के चाल से नंगे घुटने, नंगी छाती साफ दीख रही है। उसमें स्याह डोरे साफ झलक रहे हैं। कपड़े तमाम रक्त में सने। कपाल पर भी एक-दो गहरे घाव। पास ही टूटी चूड़ियां। टूटा चरेऊ।

वह काठ-सा खड़ा रहा, होंठ भींचे। फिर एक गहरी सांस भरता हुआ बोला, बड़ी मुश्किल से, "तो...अब क्या कर रहे हो...?"

"क्या करना है?" मां धधकती हुई बोली, "इसका पथरी पर घिस-घिसकर चंदन बनाना है। देवाल में धरकर इस राकसनी की पूजा करनी है।... अरे,ज्वान-जवान लड़का होकर कहता है, क्या करना हे! हाथों में रस्सी बांधकर किसी चट्टान से लुढ़का दे...नदी में बहा दे या जंगल में गड्ढा खोदकर पत्थर से दबा दे...काट-काटकर, टुकड़े-टुकड़े करके भिए लगा दे...बदजात कहीं की...!"

डिकरदेव क्या करे? क्या न करे? इतने अर्से बाद, इतनी लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् घर आया और यहां यह महाभारत!

अभी बाप को जलाए कुछ घण्टे भी नहीं बीते, अब एक नई लाश!

"तो क्या मार देते हो इसे? हत्या कर देते हो?" डिकरदेव कांप उठा, "परमेसर के लिए ऐसा न करो मां! यह पाप...!"

"पाप की बात करता है इसके लिए तू!" मां के सिर में चण्डी चढ़ी थी, "क्या इस पातर को घर में रखने को कहता हे तू? बना इसे रानी! पटरानी! हमें नहीं चाहिए यह डाइन...। यह यहां रहेगी तो हम गांव छोड़कर चले जाएंगे! यह मुलक ही छोड़ देंगे!"

अम्मा ने अपना अंतिम अमोघ अस्त्र छोड़ा। दोनों हाथों से माथा पीट-पीटकर बिलखने लगी, "उनके गए का दुख इतना नहीं, जितना इस रांड का! इस नागन का क्या करें! कल से ही लोग मुंह पर थूकना शुरू कर देंगे। हाय राम, मुझे उनके साथ ही चिता पर क्यों नहीं जला दिया! कल सुबह तक मैंने भी रस्सी लगाकर फांसी न खाई तो...!"

डिकरदेव का दिल दहल उठा। वह कांपते हुए स्वर में बोला, "तू रो न मां! जो तू कहेगी, वही करेंगे। लेकिन, जरा समय तो देख...!"

"जरा समय तो देख कहता है कपूत! अरे, जब नाक में गोबर पुत जाएगा, फिर देखेगा! लोग हमारे मुंह पर थू-थू थूकेंगे! परदेस में रहकर तेरी भी मति मारी गई है। अरे, इस कुलच्छनी को घर में रखने को कहता है! छिः-छिः! हे राम।"

'हे राम' के साथ ही मां का सप्तम में रुदन फिर शुरू हो गया।

"अम्मा, ऐसे जोर से मत रो।" मुंहनियां ने झिड़का, "लोग जाग जाएंगे...।"

डिकरदेव की आंखों में ढेर सारा धुंध समा गया। उसे लगा, धरती घूम रही है, उसका सिर बुरी तरह चकरा रहा है।

"मुंहनियां, जरा सुन—!" डिकरदेव उसे कोठरी से बाहर ले गया।

थोड़ी देर बाद दोनों लौटे।

"मां, दद्दा ठीक कहते हैं। तू जानती नहीं।"

"दद्दा ठीक कहते हैं, कहता है! तू जानती नहीं, कहता है...! तू भी पगला गया है मुंहनियां...!" ढीं-ढीं वह फिर से रोने लगी।

"जरा सुन भी तो अम्मा!" मुंहनियां ने किंचित् झिड़का, "अभी, इसी समय क्या करने को कहती है।" मुंहनियां झल्लाकर बोला, "देखती नहीं, सुबह से गांव में पटवारी-पुलिस घूम रही है। पिताजी ने फांसी लगाई, क्यों लगाई, अभी तो उसी की छानबीन है, उस पर इस हत्या की...हम सब हथगेड़ी लगाकर लोहाघाट हवालात में दिखलाई देंगे!"

पर, वह अभी तक भी उसी तरह रोए चली जा रही थी।

मुंहनियां ने सबको बाहर धकेलकर, बाहर से कुण्डा लगा दिया।

जहां आज 'फाग' गाए जाने थे, वहां 'गरुड़-पुराण' का पाठ हो रहा था। आज तीसरा दिन है। करम पर अन्त में मुंहनियां को बिठलाया गया। वैसे बैठना तो डिकरदेव को चाहिए था, वह सबसे सयाना था। किन्तु बामनों के कहने पर कि वह गरम खौलते पानी से निकलकर इस ठण्डे मुल्क में आया है। दिन में दो बार गधेरे के बर्फीले ठण्डे पानी में बाहर नहाना होगा, केवल एक बखत खुद बनाकर खाना। चौबीस घण्टे दीये के पास घास-पयाल की चटाई पर सोना होगा—इतना सब उससे न हो पाएगा...। कहीं जर-बुखार आ गया तो और परेशानी!

'गरुड़-पुराण' की कथा सुनने सारा इलाका उलट आया था। पटवारी-पेशकार तक चले आए, लगे हाथ पुन्न लूटने।

पर, डिकरदेव सबसे दूर, सबसे अकेला बैठा ऊंघता रहता। करम की रेख इसी को कहते हैं! क्या सोचकर आया था, क्या हो रहा है!

वह सोचता था, घर जाने पर सबको कितनी खुशी होगी! पिता सत्यनारायण की कथा करवाएंगे! सारे गांव में गुड़ बांटेंगे!

गोपुलि के लिए रेशम की जामुनी रंग की साड़ी लाया था। माथे पर लगाने के लिए नये फैशन की बिंदिया। लाल, पीले फुन्दे। उभरी हुई रेशमी चोली।

उसके पके, रसभरे लाल-लाल सेब जैसे गालों पर काला तिल कितना अच्छा लगता है। उसके लिए 'पौडर' का डब्बा लाया था। सच, 'पौडर' लगाकर, रानीखेत के गोरे सैप की मीम से कम न लगेगी...।

क्या-क्या तमन्नाएं थीं उसकी!

किन्तु यह सब होगा, कब सोचा था! वह तो सीधी-सादी थी, दुधमुंही बछिया की तरह। रोज बरत रखती। मंदिर जाती। लड़ाई के दिनों में जब वह लाम पर था, रोज हरनाथ के मंदिर में जल चढ़ाती थी...देवाल की सीढ़ियां लीपती...किन्तु मां जो कहती है...छिः-छिः! पशु जात!

इन तीन दिनों में शायद ही किसी ने गोठ की ओर झांका हो।

सांझ के समय अम्मा दूर से आए रिश्तेदारों के साथ रोने में व्यस्त थी। मुंहनियां अनाज पिसाने पनचक्की घर गया था। कुमनियां क्रिया-करम का सामान खरीदने लोहाघाट बाजार।

डिकरदेव से रहा न गया। उसने चुपके से गोठ का कुण्डा खोला, पर कोई आवाज न सुनाई दी उसे।

वह घबराया, कहीं मर तो नहीं पड़ी!

हौले से पुकारा, किन्तु फिर भी कोई शब्द नहीं।

हाथ-पांवों के सहारे अंधियार में जमीन टटोलता-टटोलता वह एक सिरे पर पहुंचा तो कहीं भी वह दीखी नहीं।

उसका कलेजा धक् से रह गया। दियासलाई जलाकर आसपास टटोलने लगा। वह दूर दीवार के सहारे, वैसी ही बंधी गठरी की तरह ढुलकी पड़ी थी। सारा शरीर सुन्न। सांस भी हौले-हौले चलती।

डिकरदेव ने झकझोरा, पुकारा, लेकिन वह हिली-डुली नहीं, वैसी ही निश्चेष्ट पड़ी रही।

वह निकलकर बाहर आया।

लोटा थामे, मिसरी की कुंजी मुट्ठी में दबाए, फिर दबे पांव भीतर घुसा।

पानी के छींटे देने पर वह कराही।

मिसरी के मीठे पानी की दो बूंदें गले से उतरीं तो डिकरदेव को कुछ आशा बंधी। उसके परानों में परान आए।

किवाड़ भीतर से भेड़कर वह बैठ गया। उसके ठण्डे हाथों को, पांवों को सहलाने लगा। कहीं यह मर गई तो सबको उमर कैद हो जाएगी! पटवारी-पुलिस कब किसे छोड़ती है! धीरे-धीरे वह उसके सारे शरीर पर हाथ फेरने लगा। हाथ-पांव सूखे हुए। पेट थोड़ा उभरा-उभरा। छातियां भी लटकी हुईं। शरीर ठण्डा।

कुछ देर बाद वह बाहर निकला और बासी दाल-भात एक थाली में डालक
उसके मुंह के सामने रख आया। बाहर से फिर कुण्डा लगा दिया।

बाहर पांव धरा ही था कि दो-तीन पुराने यार-दोस्त टकरा पड़े।

—हौल्दार दद्दा, तेरे तो दरसनों के लिए तरस गए यार! क्या भौजी बाह
निकलने ही नहीं देती तुझे!

—अच्छा हुआ, किरिया-करम के वक्त ही आ गया! मां-बाप बड़े पुन्न
मिलते हैं यार!

—हां, देस-परदेस की तो तूने कुछ सुनाई ही नहीं। पलटन में हमें भ
ले चल यार! यहां तो घोड़े लादते-लादते हाथों की खाल निकल गई है!

—भौजी से हम रोज पूछते थे—दाज्यू की चिट्ठी-पतरी तो नहीं आई? क
तक लौटने वाले हैं? पर यार, लौटते-लौटते इतना समय लगा दिया। भौजी बेचार
बरत रखती-रखती बुढ़िया हो गई। नौकरी तो फिर भी मिल जाएगी यार, प
यह उमर थोड़े ही फिर लौटकर आएगी साली!

डिकरदेव के सीने पर खौलता लावा लोट रहा था। किसी काम के लि
वह भीतर घुसा तो फिर लौटा ही नहीं।

आधी रात को जब सब सो गए तो डिकरदेव छिपकर बाहर निकला। गोठ
में जाकर लोटा भर पानी और चार-छह टुकड़े रोटी के फेंक आया।

दस दिन बीत गए! फिर एकादस! फिर पीपल!

किरिया-करम का झंझट छूटा, तो फिर वही टंटा!

इन चन्द दिनों में ही डिकरदेव बूढ़ा हो गया था। किसी ने पूछा तो उसके
मुंह से आवाज ही न निकल पाती। लोगों से घबराता, कटता, एकान्त में छि
रहता, आंखें मूंदे।

सपने की तरह उसे दिखलाई देती, बाढ़ आई नदी-सी उमड़ती-उछलती
गोपुलि! गोरी-गोरी संगमरमर जैसी बांहें, बुरौज के झक्क लाल फूल! चिड़िया की
तरह कुहकती...चहकती...।

कौन-कौन रिश्तेदार इस बीच आए, उसे पता नहीं। उसे पता नहीं मेहमानों
को खिलाने-पिलाने का काम कौन देखता रहा। पिताजी के क्रिया-कर्म में क्या-क्या
लगाया। उसकी आंखों की नींद, पेट की भूख न जाने कहां बिरा गई थी?

आंखों-ही-आंखों में रात बीत जाती। दिन बीत जाता। बीड़ी में गांजा भरकर
पीता और कम्बल ताने लेटा रहता।

एक दिन अम्मा ने कम्बल परे पटककर झकझोरा, "इस कलमुंही रांड का

क्या करें? तू तो अजगर की तरह लेटा रहता है! न जाने क्या हो गया है तुझे!"

डिकरदेव ने अचकचाकर देखा।

"...।"

"...मैं क्या कहूं! जो जी में आए करो।" झुंझलाकर बोला।

"मैं क्या कहूं कहता है। जो जी में आए करो, कहता है!" अम्मा अंगारे की तरह धधकी, "तू कुछ नहीं करेगा? तू कुछ नहीं कहेगा?"

डिकरदेव बौखला उठा, "जो मैं कहूंगा, करेगी?"

"हां, हां।"

"तो जा, उठा वह कुल्हाड़ी। उसके माथे पर मार दे। कर दे चार टुकड़े! और मुझसे क्या चाहती है? हत्या पर तुली है तो कर दे हत्या। यह रोज-रोज का झंझट तो छूटे। जो होगा, देखा जाएगा। फांसी होगी तो मैं चला जाऊंगा! कह दूंगा, हत्या मैंने की थी...बोल, और क्या चाहती है मुझसे...?"

अम्मा को काटो तो खून नहीं। डिकरदेव ऐसा टका-सा उत्तर देगा, उसने कभी सोचा न था। जब कुछ न सूझा तो फिर वही रुदन, "मेरे रामऽअं! मेरे करम ही फूट गए! ऐसी सन्तान निकली। उस कुलच्छनी का साथ देने पर तुला है .मेरे भगवान! उठा क्यों नहीं लेता मुझे...'उन्हीं' की चिता के साथ बांधकर क्यों नहीं जला दिया था मुझे...।"

डिकरदेव उठकर बाहर चला गया। कुछ देर बाद लौटा, तब भी वैसा ही वातावरण।

"अम्मा, इस तरह तू रोती क्यों है?" डिकरदेव मां का यों बार-बार रोना देख न पाया, "जो तू कहेगी, वही होगा। बस!"

लेकिन मां के रुदन में अब भी कमी नहीं थी।

डिकरदेव मुंहनियां को साथ लेकर ठुल कका के घर गया। कका सयाने हैं। उनसे क्या छिपाना! जो भी वे सलाह देंगे, भले के लिए ही।

रात को देर तक बातें चलती रहीं। किसी भी निर्णय पर पहुंचना उनके लिए आसान न था। अन्त में कुछ तय करके जब वे घर लौटे, तो किवाड़ पर खड़े होने से पहले ही मुंहनियां ने पलटन से आई जरूरी चिट्ठी उसे पकड़ा दी। "पोस्टमेन सेप लाए थे...।"

डिकरदेव ने चिट्ठी खोली और चुपचाप रख दी।

"क्या लिखा है दद्दा? क्या?" सब उत्सुकता से घेरकर खड़े हो गए।

"कुछ नहीं यार!" गहरी सांस भरकर डिकरदेव बैठ गया।

"ऐसा जरूरी काम क्या आ पड़ा...?" सबने दुहराया तो डिकरदेव ने मुंह

निचोड़ते हुए तिक्तता के साथ कहा, "अरे यार, साला पलटन का मामला ठैरा। सारी जिन्दगी 'लैफ्ट-रैट' में ही बीत जाती है। घर आया कि कुछ दिन आराम करूंगा, पर यहां भी वही 'लैफ्ट-रैट' हो रही है!"

"लिखा क्या है पलटन से?" ठुल कका ने पूछा।

इस बार डिकरदेव टाल न सका। कुछ सोचता हुआ बोला, "यही कि चिट्ठी मिलते ही बटालियन में हाजिर हो जाओ...!"

"क्यों? क्यों?"

"लड़ाई की जैसी कुछ खबर तो थी, पर इत्ती जल्दी कुछ होगी, ऐसी उम्मीद नहीं थी! फौज में होता ही ऐसा है...!" डिकरदेव ने कागज़ परे पटक दिया।

रात को सब सो गए, पर डिकरदेव की आंखों में नींद कहां! कका की बातें, अपनी बातें, गोपुलि की बातें, पलटन की बातें—उसका दिमाग ठिकाने न था। फिर नींद कहां से आने लगी?

उसने कम्बल परे फेंका और उठकर झटपट अपना सारा सामान टटोलने लगा।

कप्तान की बीवी की जैसी साड़ी थैले से निकाली। सुनहरी, लाल, पीली चूड़ियां। लाल रोली। उभरी चोलियां, नये फैशन की। सारा सामान यों ही कफन की तरह लपेटकर धीरे-से गोठ में घुसा। गोपुलि के मुंह पर उन्हें फेंकता हुआ बोला, "ले, तेरे लिए लाया था, तू पहनेगी करके...अब ये तेरे कफन के काम आएंगे..." इससे अधिक डिकरदेव कुछ कह न पाया।

गोपुलि ने एक बार मुड़कर, रुलाई-भरी जिन आंखों से झांका, डिकरदेव उसे सह न सका।

गोपुलि, गोपुलि नहीं, सचमुच अधेड़ बुढ़िया-सी लग रही थी। काली-काली झांइयां। झुर्रियां। बाल सैंवार की तरह उलझे। हाथ-पांव बांज की छाल जैसे।

गोपुलि जमीन पर सरक-सरककर आगे बढ़ी। उसके बूटों पर माथा टिकाकर फूट पड़ी, "मेरा कसूर नहीं...मेरा नहीं...परमेसर की सौं खाकर कहती हूं...भगपती माई की...!"

पांव पीछे हटाकर वह झटके के साथ बाहर निकल गया।

रात का तीसरा पहर बीत रहा था। गोपुलि अधीर होकर सिसक रही थी, जैसे उसके प्राण निकले जा रहे हों। पीट-पीटकर, जबरदस्ती नई साड़ी पहनाई जा रही थी। माथे पर कुमकुम। गले पर सुहाग का चरेऊ। हाथों में ढेर सारी चूड़ियां।

चौथी घड़ी रात अब शुरू हो रही थी।

सारा संसार सोया था, पर कुछ जने जागे थे। मुंहनियां कपड़े तैयार कर रहा था। हाथ में लाटी। पीठ पर सामान की पोटली। कन्धे पर कम्बल—बरखा, घाम, जाड़े से बचाव के लिए।

कुमनियां, मुंहनियां, डिकरदेव—तीनों अम्मा के सामने अंधियारे में प्रेतों की तरह खड़े थे।

अम्मा मुंहनियां के कान के पास मुंह ले जाकर कह रही थी—"इस रंडी को रास्ते में कूटना-पीटना नहीं, नहीं तो अड़ जाएगी। आगे नहीं चलेगी। दिन-दिन बैठे रहना, रात को चलना। देखना, किसी को पता न चले।...कालि गंगा पार, डोटि-नेपाल के इलाके में इस पातर-रांड को ले जाकर छोड़ आना ओर तुम चुपके से लौट आना...हां, कहीं किसी को भनक तक नहीं पड़नी चाहिए...।"

ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, गोपुलि की सिसकियां भी बढ़ती चली जा रही थीं। डिकरदेव से देखा न गया तो वह पीछे हट गया।

पर, अम्मा उसे खींचकर पास लाई। उसके ओर समीप जाकर बोली, "सुन रहा है? तू भी रात को ही घर से निकल जा। गाव वालों से कह देंगे, बहू वेटे के साथ देस चली गई है। वहां से दो-तीन महीने वाद चिट्ठी गेरना। लिख देना, वह रंडी बीमार हो गई और मर गई! हम उसका क्रिया-करम करवा देंगे। गाव वालों को शक-संदेह नहीं होगा।"

डिकरदेव ने कानों पर हाथ धर लिया। वह भीतर चला गया, पर उस अंधकार में दरवाजा वंद होने के बावजूद भीतर की आवाजें उसे साफ सुनाई दे रही थीं। अम्मा मौसी से कह रही थीं, "दीदी, किससे क्या कहें? खुद तो मर चुके और हमें इस जंजाल में डाल गए। बुढ़ापे में पता नहीं क्या मति हरी गई थी, इस डायन के फेर में पड़ गए...इसी बदनामी के डर से तो...!"

डिकरदेव जैसे चीख पड़ा।

पौ फटने वाली थी अव।

डिकरदेव का सामान बंध चुका था। मुंहनियां कब का चला गया है।

पर, अभी तक भी कहीं दूर से चीखने-चिल्लाने की जैसी आवाज रह-रहकर उसके कानों से टकरा रही थी। वह देखता इधर-उधर, पर कुछ दीखता न था।

अपना जरूरी सामान समेटकर वह निकल पड़ा। न उसने अम्मा को प्रणाम किया, न किसी से कुछ बोला। चुपचाप पीठ पर पिट्ठू बांधे भारी-भारी कदमों से वह आगे बढ़ता रहा। रात बारिश हुई थी, और अभी तक भी हल्की-हल्की

बूंदा-बांदी हो रही थी। घना कुहरा सफेद चादर की तरह चारों ओर फैला था। कच्ची बटिया पर तमाम कीचड़।

उसने देखा—बटिया पर चार पांवों के ताजे-ताजे निशान अभी तक भी उभरे हुए हैं। दो पर फटे जूतों के जैसे, और दो नंगे।

इन्हीं निशानों के सहारे थोड़ी दूर तक गरदन लटकाए वह हारे हुए जुआरी की तरह बढ़ता रहा। उसका सिर भारी था। आंखें बोझिल। जैसे कितने लम्बे अर्से से वह सोया न हो।

चढ़ाई के बाद, फिर तिराहा आया तो उसने रास्ता बदल दिया।

यहां भी कीचड़ था, पर उसमें धंसे उसे एक नहीं, अनेक नंगे पांवों के निशान एक साथ उभरे दीख रहे थे। कहीं दूर से सिसकने-रोने की जैसी आवाज़ सुनाई दे रही थी। कराहने के जैसे कई करुण स्वर!



अथाह

करीब पांच बजे होंगे शाम के। कुसुम ऑफिस से घर लौटी, पसीने में भीगी। उमस ज्यादा है आज। आसमान ढंका है। हवा बहती नहीं, इसीलिए घुटन-सी पैदा हो रही है।

पसीने से भीगे गीले कपड़े बदलकर, पंखा हाथ में झलती हुई वह 'धम्म' से चारपाई पर बैठ गई। तभी सामने निगाह पड़ी—किताबों के ऊपर एक लिफाफा पड़ा दीखा औंधे मुंह।

क्षण-भर के लिए उसे उलट-पुलटकर देखती रही—एक्सप्रेस लिफाफा है। 'जरूरी' ऊपर लिखा है। अक्षरों की बनावट संतुलित नहीं। लगता है, जल्दी में लिखा गया है या जान-बूझकर लापरवाही से।

लिफाफा जल्दी-जल्दी खोला उसने। पढ़ा। एक बार। दो बार। दस बार। बीस बार। न जाने कितनी बार वह पढ़ती चली गई। अंत में परेशान होकर उसने पत्र नोचकर फाड़ डाला और कूड़े के ढेर में फेंक दिया।

'हुं!' मन-ही-मन बुदबुदाई, 'दो, गिने-चुने दो अक्षर लिखे हैं लाट साहब ने...जनता एक्सप्रेस से जा रहा हूं। दिल्ली मेन पर मिलना।' पांच-सात साल से अधिक ही अर्सा हुआ होगा न अब। पर कभी खबर भी ली कि हम दुनिया में अभी जिन्दा भी हैं या मर गए! कटे पर नमक छिड़कने के लिए अब.. ।

अरे, तुम पैसे वाले हो, अमीर हो तो होते रहो। हमें इससे क्या? अपनी गरीबी ही प्यारी है हमें तो, और फिर किसी की पैसे की शेखी किसी का कर भी क्या लेगी! जब ठुकराना था, ठुकरा दिया बेरहमी से। अब क्या जरूरत है मिलने की! पूछने की!

लेकिन नहीं, नहीं, यहां भी हमें चैन से नहीं जीने दोगे। सूखे घावों को फिर कुरेदकर नमक-मिर्च छिड़कते रहोगे। दूसरों को यों सताने में किसी को

क्या सुख मिलता होगा! सेडिस्टिक कहीं के!

...'जनता एक्सप्रेस' से जा रहा हूं...। रोज ही तो 'जनता एक्सप्रेस' जाती होगी। हज़ारों-लाखों लोग आते-जाते होंगे। कोई कहीं आए, कहीं जाए—हमें क्या?'

झुंझलाकर कुसुम ने माथे पर उभरी पसीने की बूंदें पोंछीं। पंखा कुछ तेज किया। इतने में नीली चाय का प्याला लेकर आ पहुंची।

—किसकी चिट्ठी थी दीदी?

—शाम को घूमने चलोगी न?

—तेरी सहेली चंद्रा आई थी। जानती हो, क्या कहती थी?

दीदी के मुंह की ओर नीली ताक रही थी। पर, दीदी कहीं और। चुप। जैसे उसने कुछ भी सुना नहीं। जैसे किसी ने कुछ भी कहा नहीं। सिपृ, सिपृ कर बिना चीनी की सारी चाय एक ही सांस में पी गई। फिर एकाएक उठी और बरामदे में चली गई।

सूरज अंगारे की तरह धधकता-जलता डूबने को है। आसमान तांबे की-सी ललाई लिए तप रहा है। कुसुम बरामदे में खड़ी देखती रही—सामने आंगन में नटखट बच्चे शोरगुल मचा रहे हैं। सड़क पर चहल-पहल शुरू हो गई है। मोटर-स्कूटरों की लकीर-सी बंधी है। लोग आ-जा रहे हैं। मार्केटिंग के लिए बन-ठनकर जाने वालों की संख्या अधिक है।

कुसुम वहां भी देर तक खड़ी न रह पाई। अंदर आई। पढ़ने के लिए कोई पत्रिका उठाई। उसे पटककर फिर किताब खोली। दो-चार पन्नों से अधिक उसके भी पलट न पाई। सिलाई की मशीन कुछ देर खड़खड़ाती रही। जी नहीं लगा तो बाथरूम में चली गई, नहाने।

नहाने के बाद कुछ हल्कापन, कुछ ताजगी उसने अनुभव की। गीले रेशमी बालों को कंधे पर बिखेरे, हल्के-फुल्के कपड़े पहने छत पर अकेली टहलती रही।

...'जनता एक्सप्रेस' से जा रहा हूं...न चाहने पर भी बार-बार उसके अधर यही वाक्य दुहराते रहे। अनायास दुहराते चले गए।

कल लगभग इसी समय, ठीक इसी समय साढ़े छह बजे 'जनता एक्सप्रेस' दिल्ली के प्लेटफॉर्म पर कुछ क्षणों के लिए रुकी होगी। खूब भीड़-भड़क्का होगा। आने-जाने वालों की भरमार होगी। उस जन-सागर में किसी की दो आंखें खिड़की की राह बाहर झांक रही होंगी। कुछ ढूंढने-खोजने को आतुर होंगी।

पर नहीं-नहीं, किसी की भी आंखें नहीं होंगी। आखिर हों भी क्यों? विवशता की ओर कौन झांकता है? लाचारी की ओर कौन देखता है? अपने से ऊंचाई

की तरफ ही तो हर इन्सान की निगाहें होती हैं न! दुनिया का दस्तूर है तो फिर किसी का क्या कसूर!

फिर वह जाए भी क्यों? यही जतलाने के लिए न कि अब वह यूनिवर्सिटी की छात्रा नहीं, किसी अर्द्धसरकारी ऑफिस में एक साधारण-सी टाइपिस्ट है। अपने सुनहरे सपने कुचलकर किसी तरह दिन बिता रही है। बूढ़ी मां है, बहन है। किसी प्रकार अपने इस छोटे-से परिवार की नाव बिना पतवार के खे रही है।

नहीं, नहीं वह इस तरह दयनीय-दीन बनकर उसके सामने नहीं जाएगी। मरकर भी नहीं। कभी भी नहीं...

वह परेशान-सी तेजी से चक्कर काटने लगी।

आखिर वह होता ही कौन है, जो उसके सामने अपना दुखड़ा रोए! गिड़गिड़ाए। वह सोचती रही। बचपन का साधारण-सा परिचय ही तो था न! अंधी भावुकता थी या महज बचपना था, जो अपना सब-कुछ समझकर, सब-कुछ मानकर उसे पूजती रही।

जो कुछ भी उसने कहा, सिर झुकाकर सब मान लिया। धानी रंग से बचपन से नफरत थी, लेकिन जब एक दिन उसने कहा कि इस रंग की साड़ी उसे बेहद पसंद है, तो उस दिन से हमेशा वैसी ही साड़ी पहनती रही...। 'तुम्हें बॉब-कट बड़े सुन्दर लगेंगे, क्योंकि तुम्हारे चेहरे की बनावट ही कुछ ऐसी है।' यह सुनते ही अपने नागिन-से लहलहाते रेशमी बाल, जिन पर उसे नाज़ था, कटवा दिए। न चाहते हुए भी ऊंची एड़ी की सैंडिल पहनती रही। जब उसे पसंद था तो फिर क्यों न पहनती! लेकिन...वह था कि...।

इससे आगे वह कुछ सोच न पाई। सिर चकराने-सा लगा।

तभी नीचे से आवाज पड़ी—"रोटियां ठंडी हो गई हैं कुसुम!"

वैसी ही खोई-खोई कुसुम खाने बैठी तो दो टुकड़े तोड़कर उठ खड़ी हुई। सिरदर्द का बहाना बनाकर छत पर चारपाई डाले पड़ी रही। करवट पर करवट बदलती रही, पर न जाने नींद कहां खो गई थी!

—'जनता एक्सप्रेस' से जा रहा हूं...अभी तक भी आंखों के आगे वे ही अक्षर काले-काले, जल्दी में या जान-बूझकर लापरवाही से लिखे टेढ़े, सफ़ेद कागज़ पर कीड़ों की तरह रेंगते घूम रहे थे।

वह एकाएक झटके से उठी। नीचे कमरे में पहुंचकर कागज़ के उन बिखरे टुकड़ों को जोड़-जोड़कर मिलाने लगी। बहुत-से टुकड़े हवा में उड़ गए थे, इसलिए वह अधूरा पत्र, अधूरा ही रह गया।

बिखरी चिंदियों को हाथ में थामे वह बार-बार देखती। खोई-खोई-सी देखती

चली गई।

उसने चुपके से फिर अपने कपड़ों का बक्स बाहर खींचा। एक-एक करके सारे कपड़े टटोलने लगी, पर धानी रंग की कोई साड़ी कहीं भी मिल न पाई। दूसरा बक्स, फिर पुराने कपड़ों का तीसरा बक्स टटोला तो एक पांच-छह साल पुरानी साड़ी निकल ही आई। तह खोल-खोलकर उसने झांका। जगह-जगह कीड़ों ने काटकर छेद कर दिए हैं। एक दिन भी क्या यह काम नहीं दे सकेगी? कुसुम खड़ी-खड़ी देखती रही।

मां सो गई है। नीली सो गई है। लेकिन कुसुम हाथ में बारीक सुई और हरा डोरा लिए आधी रात के समय अभी तक भी बैठी है।

—सुना है, वह बड़ा अफसर हो गया है अब। बड़ा आदमी। एयरकंडीशण्ड डिब्बे में बैठा होगा। कुसुम सोचती रही—शायद उसके साथ उसी ओहदे के और भी बड़े आदमी हों! उनके सामने ऐसे कपड़ों में वह किस तरह खड़ी होगी! उसकी बीवी भी साथ हुई तो उसे कितनी झेंप होगी! उसका परिचय वह उसे किस तरह देगा! क्या कहकर!

कुसुम के हाथ कांपने लगे। साड़ी वैसी ही मेज पर पटककर, खीझकर छत पर चली गई और सो गई।

"कुम्मी, ऑफिस नहीं जाना है आज? आठ तो कब के बज गए!" मां ने सुबह जगाया।

कुसुम ने आखें मलते हुए अचकचाकर देखा—सूरज छत पर चढ़ आया है और खुली छत पर अभी तक भी वह लापरवाही से सो रही है। सिमटकर वह एकाएक उठ बैठी और वैसी ही अनमनी-सी नीचे उतरकर कमरे में फिर निढाल लेट गई।

"तबीयत ठीक नहीं है मां! आज छुट्टी ले लूंगी।" कहकर फिर सो गई।

चाय नहीं पी। कुछ देर बाद मां ने फिर जगाया तो उठते ही फिर वही धानी साड़ी, सुई और उसमें उलझा वही हरा डोरा दिखलाई दिया।

माथे पर हाथ रखे देर तक बैठी रही। वैसी ही उठकर फिर रसोईघर की ओर बढ़ी। मां की नाराज़गी का खयाल रखकर दो-चार टुकड़े सब्जी के खाए और बाहर आई तो फिर वही साड़ी सामने। वह झुंझला उठी।

चारपाई पर औंधे मुंह लेटी-लेटी सोचती रही। ऐसे पड़ी-पड़ी भी क्या करेगी दिन-भर! ऑफिस चली जाए तो शायद काम में जी बहल जाएगा। समय आसानी से कट जाएगा। भूले रहने से कुछ राहत ही मिलेगी न!

रूखे बालों पर हाथ फेरती हुई वह उठ खड़ी हुई। झटपट कपड़े बदलकर वह ऑफिस जाने की तैयारी करने लगी।

ऑफिस में भी आज जी नहीं लगा। लाल स्लिप लगी 'जरूरी' टाइप की पहली ही कापी गलत कर दी। बॉस ने झिड़कियां दीं तो उसका नन्हा-सा मुंह निकल आया। सूरत रोनी हो आई। तबीयत खराब होने का वहाना बनाकर फाइलें उसने वैसी ही पटक दीं ओर दोपहर को ही घर लौट आई। पर बेचैनी ने किसी तरह साथ छोड़ा नहीं।

कमरे में घुसते ही चारपाई पर उलझी उसी साड़ी ने फिर स्वागत किया तो वह बुरी तरह परेशान हो उठी।

पत्थर की तरह देर तक पड़ी रही। विचार घूमते रहे, तेज़ी से चारों ओर—जाए न जाए? क्यों जाए, क्यों न जाए?

"दीदी, चाय!" नीली ने जगाया।

अचकचाती हुई जागी, जैसे सपना टूटा हो।

"क्या समय है नीलू?" पसीने से भीगे मुंह को आंचल से पोंछती हुई बोली।

"पौने छह।"

"क्या कहा, पौने छह!" वह उठ खड़ी हुई, "पौने छह बज गए! अभी तक मुझे जगाया क्यों नहीं?" परेशान-सी वह जोर से चिल्लाई।

"सो जो रही थीं। हमें क्या सपना था?" नीली ने मुंह बिचकाते हुए कहा ओर चाय रखकर चलने लगी।

"अरी, सुन तो—!"

"क्या?" दरवाजे पर ठिठकती हुई नीली बोली।

"देख, बाहर स्कूटर तो नहीं है?"

"क्या कहा, स्कूटर! कहीं सपना तो नहीं देख रही हो?"

"शटअप! कलमुंही! सुनती है, मैं क्या कह रही हूं?" वह इतनी तीखी आवाज में चीखी कि नीली पीली पड़ गई।

"खड़ी क्यों है? जा!"

वैसे ही बालों में कंघा फेरती हुई कुसुम जल्दी-जल्दी तैयार होने लगी, बिना चाय पिए।

नीली खिसियाती हुई न जाने कहां अंतर्ध्यान हो गई।

थोड़ी देर बाद आंगन में घरघराहट की आवाज सुनाई दी। फट्-फट् मेज़ कुसुम सीढ़ियों पर उतर पड़ी। सिलवट पड़ी साड़ी, वैसा ही ब्लाउज। रूखे बाल। टूटी सैंडिल। उसे कुछ भी खयाल न रहा कपड़ों का।

"मेन स्टेशन, जरा जल्दी!" स्कूटर वाले से कहने के बाद एकाएक खयाल

आया। चलते-चलते स्कूटर से मुड़कर झांकती हुई बोली, "सहेली के घर ला रही हूं। जरा देर से लौटूंगी, सुना!"

उसे कुछ भी पता न चला कब चार-पांच मील की दूरी तय हुई। स्कूटर वाले को पैसे चुकाए या नहीं? या कितने चुकाए? समय क्या हुआ?

प्लेटफॉर्म पर हांफती हुई ठिठककर, कुली को रोककर बोली, "जनता एक्सप्रेस इसी प्लेटफॉर्म से जाती है?"

"हां।"

"अभी आई नहीं क्या?"

"वह तो गाजियाबाद से भी आगे निकल गई होगी अब तक...।" कुली चलता-चलता इतना कहकर, भीड़ में न जाने कहां गुम हो गया।

कुसुम सन्न खड़ी-की-खड़ी रह गई, जैसे काठ मार गया हो।

तभी किसी रेलगाड़ी की चिंघाड़ती सीटी से वह अचकचाती हुई होश में आई। खोई-खोई सूनी निगाहों से चारों ओर कुछ देखने लगी, पर दिखलाई कुछ भी न दे रहा था। क्या करे? किधर जाए? कहीं भी जाने के लिए पांव न बढ़ पा रहे थे। एकान्त में खूब फूट-फूटकर रोने को जी हो रहा था, लेकिन रोए भी कैसे? कहां?

बाहर लालकिले के बस-स्टॉप पर आकर वह ठिठकी। पटेलनगर वाली एक बस खाली दीखी, उसी में लपककर बैठ गई। किसी भी कीमत पर घर जाने को मन न हो रहा था।

रात को सवा दस बजे हारी-थकी घर लौटी तो नीली बरस पड़ी, "कहां चली गई थीं दीदी? तुम्हें खोजने तुम्हारी सहेली के यहां फोन किया। वह कहती थी कि यहां तो आई ही नहीं।"

"ऐसा क्या हो गया? क्यों चीख रही है?" कुसुम गुस्से से उफनती हुई बोली, "पटेलनगर वाली मौसी के घर चली गई थी...हुआ क्या है?"

"हुआ क्या है कहती हैं?" नीली ने मुंह बनाया, "तुमसे मिलने तुम्हारा क्लासफैलो दिवाकर आया था। कहता था, तुमसे मिलने की खातिर गाड़ी मिस कर दी। 'जनता एक्सप्रेस' से कहीं जा रहा था। पूरे तीन घण्टे इन्तजार कर, अभी-अभी गया है। ग्यारह बजे वाली 'तूफान एक्सप्रेस' से निकल जाएगा...।"

कुसुम माथा पकड़कर धम्म से बैठ गई।

"लो, तुम्हारे लिए यह प्रेजेण्ट छोड़ गया है...!" नीली खाकी लिफाफा खोलती है।

धानी रंग की एक चमचमाती साड़ी! साड़ी की तह में एक छोटा-सा कागज़ का टुकड़ा रखा है। लिखा है—उन हरे-भरे दिनों की याद में!



किसी एक शहर में

मैं सहज भाव से उसका ठिठकना, यों ही मुस्कराने का प्रयास करना और फिर हाथ में थोड़े-से कागज़ अपनी ओर बढ़ाना, देखता रहता हूं।

"कुल कितने मिले इस महीने?" पूछता हूं।

"बस, इत्ते ही ऽऽ...।" उसकी आकृति का आकस्मिक-भाव 'इत्ते' में ही सारी स्थिति समझा देता है।

"सौ!"

"ना।"

"तो...?"

"नब्बे।" वह कोशिश करती हुई इस तरह से देखने लगती है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। उसके उजले गालों पर नक्शे की तरह एक नीली-सी नस है, जो ऐसे क्षणों में सहसा अधिक गहरी हो जाती है।

पहले की तरह वह फिर हौले-हौले धरती नापती फुटपाथ पर चलने लगती है, नोटों की मुड़ी-मुड़ी परतें मेरे हाथ में थमाकर।

पिछले महीने उसे एक सौ पच्चीस रुपए मिल गए थे। वह कहती थी कि मई से कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड हो गई है। गोल-कीपर (पार्टनर सेन गुप्ता को आवश्यकता से अधिक लम्बा होने के कारण वह प्रायः इसी नाम से पुकारती है) की डिक्टेटरशिप अब चलेगी नहीं। पे-स्केल भी रिवाइज हो जाएंगे। कम-से-कम डेढ़ सौ तो मिलेंगे ही...! नहीं तो लालाजी से कहूंगी। उनका बिहेव अच्छा है। लेकिन जब वे टूर पर बाहर रहते हैं तो गोल-कीपर तंग करता है। कम तनख्वाह देकर अधिक पर दस्तखत करवा लेता है।

जामुन के पेड़ों की दुहरी, तिहरी कतारें जहां समाप्त होती हैं, सारे दुःखों का समारम्भ वहीं से होता है। वह अपनी रसहीन रोज की जिन्दगी दुहराती है और मैं हरे-भरे नीम के दरख्तों की ओर देखता हूं। मुझे सब विचित्र-सा लगता

है। रफी मार्ग के दोनों ओर, काठ के फुटे के आकार की बनावटी नहरें 'शो-केस' के चित्रों का-सा भाव छोड़ती एक ओर छूट जाती हैं। लगता है—दियासलाई के खड़े डिब्बे जैसे, भूरे पत्थर के इंडियागेट की तरह, सड़क के किनारे-किनारे बित्ते-भर के बौने सफेद खम्भों की तरह, दूर स्टेडियम के पीछे पुराने किले की काली दीवारों की तरह—यहां की मखमली दूब, फव्वारों की नाइलोनी धाराए भी बनावटी हैं। राजपथ की जगमगाती मरकरी बत्तियां, तालाब में टिन के कमलों के बीच रंगीन उजियाला, सब मूक-चित्र के-से जीवन-विहीन दृश्य हैं।

"आप बोर तो नहीं हो रहे!" वह मुझसे सटकर खड़ी हो जाती है।

मैं उसका अबोध चेहरा देखता हूं, "हां, हो तो रहा हूं।" (यों ही कहने भर को कहता हूं)

"हिस्स्स...!" वह होंठों पर हथेली रखती है—"झूठे कहीं के!" अंगुली पर अंगूठी की तरह आंचल का किनारा लपेटती है—"मैं सोच रही थी, आप आज बेहद नाराज होंगे। कहेंगे—कब से तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा हूं। लेकिन तुम बड़ी 'वो' हो।...सच्ची कभी कितना अच्छा लगता है कि कोई हमें 'वो' कहे। कोई हमारी प्रतीक्षा करे। कभी कोई नाराज़ होकर उलाहने दे। कभी-कभी तो मन तरस उठता है...।"

वह मेरे और समीप चलने लगती है।

"आपने आज मेरी ओर गौर से देखा नहीं!"

"क्यों? देखा तो है!"

"कहां देखा! मेरी आंखें आज कितनी रैडिश हैं...!"

मैं देखता हूं—"कुछ-कुछ हैं तो सही—ए बिट...!"

"सच, कल मैं बेहद रोई...।" वह जैसे अपने से कह रही हो।

"क्यों?" मैं अचरज से मुड़कर देखता हूं।

जल-तरंग का जल छलक पड़ता है। वह एकाएक हंस पड़ती है—"रोई नहीं जी। सारी रात इंतजार करती रही।"

"किसका...?"

"किसी का भी नहीं।"

"फिर भीऽ!"

"नींद का!" वह फिर शरारत से हंसती है। चुप हो जाती है। मुंह बनाती है। सहमे गुस्से से देखती है और मौन होकर उसी गति से चलती रहती है।

"सच, मेरी आई-साइट कमजोर हो गई है। आप किसी डॉक्टर-वाक्टर को दिखला दीजिए न!...आप तो देखते नहीं! चश्मा खरीदकर अब हम खुद आंखें

चार कर लिया करेंगे!" वह शरारत से मुस्कराती है।

क्रासिंग पर हम रुकते हैं। नारंगी के बाद 'गो' की हरी लाइट देखते ही, भीड़ के साथ नदी की तरह सड़क पार करते हैं और निःशब्द आगे बढ़ते हैं।

मैं उसे एक केस की तरह लेता हूं। तटस्थ दृष्टि से उसके हर कार्य को देखता हूं। सम्भवतः वह भी इसे समझती है। फिर भी जान-बूझकर अनजान बनने की कोशिश करती है। शायद जीवन में हम सभी, किसी सीमा तक, कहीं पर ऐसा ही करते हैं।

फट्-फट्, मोटर, कार, स्कूटरों का एक चौड़ा-सा नाला सामने अटूट गति से बह रहा हे। समझ में नहीं आता, इतने अधिक लोग, इतनी भाग-दौड़ मचाकर कहां पहुंचने की उतावली में हैं।

"मदर की तबीयत ठीक है?"

"जी हां।" वह अनदेखे ही कहती है।

"मधु स्कूल जाता है?" (उसका छोटा भाई है मधु! कमेटी के खोमचे में तीसरी में पढ़ता है।)

"हां!"

थोडी देर बाद वह सन्नाटा तोड़ती हे। लम्बी सांस भरती हे—"सूझता नहीं, राशन वाले का बिल इस महीनें कैसे चुकाएंगे। चीजें इतनी महंगी हो गई हैं कि जीना मुश्किल हो रहा है। यहां आकर ऐसा होगा, सच, हमने सोचा तक न था।"

"कितने देने हैं?" मैं पूछता हूं।

"यही कोई सिक्सटी तक!"

"कुछ मदद करूं?"

"थैंक्यू!" वह भीड़ की ओर देखती है—"भीख की आवश्यकता नहीं।" फिर हंसने की सहज चेष्टा करती है।

मुझे बुरा लगता है। मैंने कुछ और सोचकर कहा था शायद। वह मेरी आकृति का भाव ताड़कर सहम जाती है। मेरी अंगुलियों के पोर होले से थामकर दबाती है—"आपने माइण्ड तो नहीं किया! जरूरत होने पर आपसे नहीं तो फिर किससे कहूंगी!...सुनिए!" वह अचकचाकर देखती है, जैसे कुछ सहसा याद आ गया हो, "मेरा क्वार्टर छूट गया तो फिर कहां रहूंगी...?"

टन्-टन्...इधर-उधर से वक्त-बेवक्त निकल भागती साइकिलें बड़ी बुरी लगती हैं। सड़क की मरकरी बत्तियां दिप्-दिप् जलने लगती हैं। उसका मन भीग आता है।

"मेरी बात का आप बुरा तो नहीं मानते!" एक अधूरा-सा वाक्य फिर दुहराकर वह चुप हो जाती है।

मुझे उस पर तरस आता है। यद्यपि मैं जतलाकर सारा वातावरण बोझिल नहीं बनने देना चाहता। वह आज क्या-क्या कहेगी, क्या-क्या नहीं—यह सब मैं पहले से ही सोच लेता हूं और जो कुछ होता है, मौन-भाव से उसे देखता रहता हूं, जैसे पुल पर खड़ा कोई पांवों के नीचे बहते पानी को देख रहा हो।

"सुनिए, आप चुप क्यों हो गए?" वह अब अपने को तनिक हल्का-सा अनुभव करती है।

"चुप कहां हूं।"

"आज आप कॉफी पिलाएंगे न!"

मैं कुछ नहीं कहता तो उसे जैसे शह मिलती है। वह मुस्कराती है—"अच्छा, कॉफी के साथ क्या-क्या खिलाएंगे?"

"कुछ नहीं।"

"कुच्छ...नहीं!" वह मुंह बनाती है, "एक दिन तो 'हां' कहिए। रोज 'कुच्छ नहीं', 'कुच्छ नहीं'! हमें यह सब अच्छा नहीं लगता जीऽ!"

"तो क्या अच्छा लगता है आपको!" मैं अब कुछ हंसी के मूड में होता हूं और वह जब बैलून की तरह हल्की हो जाती है तो 'मैं' को 'हम' कहने लगती है।

वे सिंधिया-हाउस के मोड़ पर असमंजस से रुकते हैं।

"कॉफी तो आज आपसे पीनी है, चाहे कुछ भी हो।" साधिकार वह कहती है।

"भई, पैसे-वैसे बेकार करने के फेवर में हम नहीं।" मैं न चाहते हुए भी जान-बूझकर मना करता हूं और जानता हूं—उसका अगला वाक्य क्या होगा। शायद उससे वही कहलाना चाहता हूं।

सचमुच उसका वाक्य वही होता है, जो मैं सोच रहा था—"आज आपको कहानी का एक डीसेण्ट प्लॉट बता दूंगी...।"

"प्लॉट-व्लॉट से क्या करना है।"

"हद्द हो गई...।" वह कपाल पर दुहत्ती मारने को होती है—"इतने सैल्फिश!"

वह फिर तुनककर मेरी ओर देखती है—"अच्छा हम पिलाएंगे।"

"लाओ पैसे!" मैं हथेली बढ़ाता हूं।

"सब दे तो दिए! चीन की तरह सब हड़पने पर भी आंखें दिखाओगे...।"

लाल नियोन लाइट के नीचे से होकर हम कनॉट-प्लेस के एक बहुत बड़े एयर-कण्डीशण्ड डिब्बे में घुसते हैं। घुटते हुए कोलाहल के बीच एक किनारे, एकान्त की टेबिल पर धंस जाते हैं। दीवार में धंसा हमारी ओर अंगुलियों की ओट लगाए एक नीला, धुंधला बल्ब टिमटिमा रहा है—जिसका जलना, न जलना समान है।

वह मेज़ पर झुकती हुई, स्लीवलेस ब्लाउज से बाहर निकली दोनों नंगी कलाइयों को सामने फैलाती है। भूरे रोयों के बीच हाथ पर उभरी हल्की-सी नसें बड़ी सुंदर लगती हैं।

"हाथों में कुछ पहनती क्यों नहीं!"

बिफरकर वह देखती है—"आपने कभी पहनने को कुछ दिया?" (यह जानते हुए भी कि उसका ऐसा कहना कहां तक उचित है।)

"मैं सोच ही थी आज आप जनपथ की दुकानों से कुछ खरीद देंगे। मेरे पास सिर्फ दो ही साड़ियां बची हैं अब! किसी दिन फटी हुई पहनूंगी तो आपको बुरा नहीं लगेगा!"

"ना—तनिक भी नहीं।"

वह सरोष देखती है—"आपके पास हृदय नाम की कोई चीज़ नहीं।"

"हां, लगता तो मुझे भी ऐसा ही है।"

कॉफी आती है। एस्प्रेसो के भूरे घने झाग के ऊपर चीनी के बारीक कण कुछ क्षण तक तैरने के पश्चात् डूबने लगते हैं। वह जान-बूझकर आधी-आधी चम्मच चीनी और डालती है—"जब से चीनी का अकाल हुआ है, कितनी ही चीनी गेरो, कॉफी फीकी ही रहती है। कभी भी कॉफी का-सा जायका नहीं आता। मुई दुनिया ही डूबने वाली है अब!"

वह इस तरह से चम्मच घुमाती रहती है जैसे साबूदाने की कड़ाही में करछी चला रही हो।

"सुना आपने!"

"क्या?" मैं उसकी ओर देखता हूं। वह करछी, नहीं-नहीं, चम्मच चलाती रहती है।

"गोल-कीपर ने आज मुझे लंच में अपनी केबिन में बुलाया।" उसकी अंगुलियां ठिठक जाती हैं—"जानते हैं क्या कहा होगा?"

मैं मुस्कराता हूं—"यही कि...तनख्वाह में दस और बढ़वा के सौ पूरे कर लो...।"

वह किलककर बच्चों की तरह हंसती है, जैसे मैंने उसके होंठों की बात

छीन ली हो। "सच्ची!" वह वेग से कहती है, "किटि ने उसकी आदत ख़रा कर रखी है। पहले तो कहने लगा, चाय बनाओ। बनाकर प्याला आगे बढ़ाय तो बोला, वह कैप्स्टन मेरे होंठों पर लगाओ। लगाई तो भीतर-ही-भीतर गीलं लकड़ी की तरह घुटने लगा। बोला—पास आओ...।

मैं नहीं गई तो अंगुली हिलाते हुए पुकारने लगा, जैसे कुत्ते को बुला रह हो—'कम नियर।' मैं नहीं गई तो फिर उबला। फिर शान्त हुआ। फि बोला—'हण्ड्रेड पूरे हो जाएंगे!' मैं टस-से-मस न हुई। मैंने सोचा क्या कर लेगा-

'कम्पनी अब बनिए की दुकान नहीं, प्राइवेट लिमिटेड फर्म है सर।'

'तो तुम्हें भी तो...'!"

अजीब-सा मुंह बनाकर कहती-कहती वह चुप हो जाती है।

"तो फिर क्या हुआ आगे?" अब मेरी पूछने की बारी है।

"कुछ भी नहीं।"

वह उबाले गए पानी का ठण्डा गिलास अपने होंठों पर लगाती है। केवल एक अधूरा घूंट भरकर रख देती है। मैं उसकी कुछ-कुछ रक्तिम आंखों को देखता हूं। अधिक पीने के पश्चात् पलकें जैसे बोझिल हो गई हों।

सिप्-सिप् कर मैं एस्प्रेसो का घना झाग निगलता हूं, जिसमें अभी भी कहीं-कहीं चीनी के बारीक कण घुलने से रह गए हैं।

"अरे, . चऽ! मैंने आपको बतलाया नहीं!" वह साश्चर्य कहती है एकाएक। जैसे मुझे इतना भी मालूम नहीं, "किटि आज मेरे पास आकर गे रही थी...।" मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए वह देखती है, मुंह लम्बा कर गरदन खींचती है। फिर हौले-से फुसफुसाती है—"किसी से कहना नही, 'प्रेगनेण्ट' हो गई है...!"

मैं देर तक चुप रहता हूं। क्या सोचता हूं, पता नहीं। गोल-कीपर, लहरा. अपादरे और होतीप्रसाद का नाम बार-बार दुहराता हूं। फिर न जाने क्यों पूछता हूं—

"लालजी कैसा आदमी है?"

"अच्छा है।"

"तुमसे कैसे रिलेशन हैं?"

"ठीक हैं।...पर उसे अपनी कजिन्स से ही फुरसत नहीं..." वह तौलने के लिए मेरी ओर देखती है—"वैसे बिना मरजी के वह कुछ नहीं करता। केवल घुमाने ले जाता है...।"

मैं अंगड़ाई लेकर कोच पर झुकता हूं। वह मेरे चश्मे में टेबिल पर बिखरे

प्यालों का प्रतिबिम्ब देखती है।

"कॉफी आपने क्यों छोड़ दी?" मेरे प्याले में वह इम तरह देखती है, जैसे कुएं में कुछ झांक रही हो।

"बस, अब मन नहीं।" जम्हाई लेता हुआ मैं अपने खुले मुंह को उल्टे हाथ से ढंकता हूं।

वह प्याला अपनी ओर खींचती है। "मैं पी लूं!" यों ही कहने के लिए कहकर, छोटे-छोटे घूंट भरने लगती है चुपचाप। उसकी न मालूम क्या आदत है। पानी पीकर ज्योंही गिलास परे रखता हूं, वह तलहटी में बची दो-चार बूंदें अपने गले में निथार लेती है। मुझे अच्छा नहीं लगता। किन्तु वह कहीं बुरा न माने, इसलिए कुछ कह नहीं पाता।

वह दीवार-घड़ी की ओर देखती है—"कहीं आपका आज शाम का अपाइण्टमेंट तो नहीं।"

मैं गरदन हिलाता हूं।

"सच, मे आपको बेहद परेशान करती हूं। कभी-कभी तो अपने पर ही झुझलाहट होती है। क्या करूं।" वह जैसे स्वय से कहती है—"लालजी एक दिन मुझसे पूछते थे—'दिल्ली में और किसे जानती हो?' मैंने आपका नाम लिया तो मेरे चेहरे की ओर ताकने लगे। बोले—'केसे जानती हो!' मैंने सरलता से कहा—'उनसे हमारे फेमिली-रिलेशन हैं।' उस दिन से सच, उन्होंने मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।" वह दांतों के बीच अपनी उंगली रखती है। काटती नहीं, यों ही किट्-किट् दबाती है।

"तो राशन वाले को कुछ कम दे दू हा।" वह इस तरह से पूछती है, जैसे मुझसे पूछे बिना चारा नहीं। मुझे उस पर, उसके स्वभाव पर, झुंझलाहट नही होती, करुणा आती है।

"हां, ऐसा ही करो।"

"ऐलाटी को किराया पूरा चुका दू?"

"हां।"

"पैसे बचेंगे तो मेरे लिए कुछ पर्चेज कर दोग हां!"

मैं सिर हिलाता हूं—यह जानते हुए भी कि धेला भी बचने वाला नहीं है।

बैरा बिल लेकर आता है। मैं पैसे चुकाता हूं। बाहर कॉरीडोर पर दो ठो पान खरीदता हूं।

पांच नम्बर के बस-स्टॉप पर मैं उसे छोड़ने जाता हूं। वह और पास-पास

चिपककर चलती है।...बस-स्टॉप अब रीता है। सवा नौ बजने वाले हैं। फिर भी कुछ लोग तो होने ही चाहिएं। शायद अभी कोई बस गुजरी हो!

मैं उसके सारे नोट ज्यों-के-त्यों उसे थमा देता हूं।

"कॉफी के पैसे मेरे अकाउण्ट से दे देते।" यह जानते हुए भी वह कहती है कि मैं कभी भी उसके पैसे नहीं खर्च सकता।

"परसों सेकिण्ड सेटरडे है। हमारे यहां आइएगा।...प्लीज–!"

"मुश्किल है।"

"थोड़ा-सा समय निकालकर। दस मिनट के लिए ही सही...।" वह कुछ और कहने के लिए होंठ खोलती है।

दूर अंधेरी सड़क चीरती दो उजियाली आंखें हमारी ओर बढ़ती दीखती है। उसे लगता है, उसकी बस है–"तो सुनिए। आइएगा हां! आपके आने से हमें कितनी खुशी होती है, आप सोच भी नहीं सकते।... हमें लगता है, हम निपट निःसहाय नहीं। हम भी किसी के सहारे हैं। पास-पड़ोस के लोग भी हमें हिकारत की नजर से नहीं देखते। अच्छे कपड़ों में किसी अच्छे आदमी के आने-जाने से उन्हें लगता है, हमारे भी अच्छे रिलेशन हैं। जिस दिन उन्हें लगेगा, इस पराए शहर में हम एकदम अकेले हैं–वे हमें दिन-दोपहर नोच-नोचैकर खा डालेंगे!"...वह सफेद हो जाती है।

कोई एक बस हांफती हुई सामने ठिठकती है।

"तो...आइएगा नऽ...!" उसकी आवाज तांत की तरह खिंच जाती है। वह बिना बस का नम्बर देखे ही फुट-बोर्ड पर चढ़ती है और ओझल हो जाती है।



सिमटा हुआ दुःख

चिनार का मन सचमुच आज टूट-टूट-सा आया। उसे कुछ कहते न बना। पहले तो अवाक् देखती रही। अपने कानों पर विश्वास न हुआ। फिर विस्फारित पलकें दूर कहीं टिकी की टिकी रह गई।

बाबूजी संध्या में से उठकर, हाथ में सुमरनी लिए, आज सीधे मां के कमरे में गए। मां रसोईघर में थीं—कुछ बड़ियां तल रही थीं। पास ही स्टोव पर पानी खौल रहा था। कुछ इस तरह की भरभराहट की आवाज़ थी, जैसे किवाड़ को छूती हुई पास ही नदी बह रही हो और चाहकर भी कुछ साफ सुनाई न देता हो।...बाबूजी चौके के पास ही पीढ़ा खींचकर बैठ गए।

तभी थोड़ी देर में उसे मां की जोर-जोर से बोलने की आवाज सुनाई दी। और फिर बाहर आते हुए पिताजी का भारी चेहरा—भाव-शून्य।

मां हाथ नचा-नचाकर अभी तक भी कुछ कहे जा रही थीं। जैसे गिन-गिनकर पत्थर फेंक रही हों! लेकिन बाबूजी अपने कमरे के आगे खम्भे की तरह खड़े थे—एकदम चुप।

थोड़ी देर बाद मां दूध का गिलास लिए रसोईघर से बाहर आई। बाबूजी के कमरे में पांव धरते ही उन्होंने एक बार न जाने क्यों शंका से इधर-उधर झांका और फिर हौले से किवाड़ मूंद दिए और भीतर से कुंडी लगा दी।

चिनार सिर से पांव तक कान बन गई। सारी दीवार कान बन गई। लेकिन बगल वाले कमरे से पत्ता तक हिलने की आवाज न आई!

पता नहीं क्यों? आज सुबह से ही बाबूजी इतने उद्विग्न हैं! इधर चार-पांच दिन से उनकी बूढ़ी आकृति में कितने ही भाव एक साथ आते हैं और मिट जाते हैं। एक साथ कितनी ही रेखाएं, पानी के प्रतिबिम्बों की तरह खिंचती

हैं और सहसा कहीं दूर विलीन हो जाती हैं। ऑफिस से वे कुछ परेशान-से आते हैं और उससे भी अधिक परेशान घर से ऑफिस को जाते समय दीखते हैं।

चिनार जब भी स्कूल से आती है बाबूजी बरामदे में या मकान की खुली छत पर चहल-कदमी करते दिखाई देते हैं...।

बाबूजी की नौकरी के बरस अब शायद समाप्त हो गए। उसे याद आता है—इस अप्रैल में पचपन साल पूरे हो जाएंगे। पचपन के बाद नोकरी पर लोग अमूमन रखे नहीं जाते। पर जिनकी विशेष सिफारिश होती है, पुराना रिकार्ड अच्छा होता है और किसी अफसर की कोई शिकायत—किसी भी किस्म की नहीं रहती, उनको एक्सटेंशन पर रखा भी जा सकता है। बाबूजी के साथ वो खुश्चेव की जैसी खोपड़ी वाले, नाटे-नाटे से आर. के. चाचा आते थे, वे एक्सटेंशन पूरा करके ही अपने गांव देवरिया गए थे...।

चिनार अनुमान ही लगा सकती है या अनुमान ही लगाती है कि सम्भवतः बाबूजी के सामने यह भी एक संकट हो...! कौन जाने अज्जो दीदी की शादी की समस्या हो। कॉलेज की पढ़ाई समाप्त किए जिन्हें अब तीन साल पूरे होने को हैं। जीजी ने दो-तीन जगह टीचरी के लिए प्रयास भी किए। पर हर स्थान पर, हर बार असफल रहीं। उन्हीं की सहेली, मिस वीणा वसु उर्मिला-कॉलेज में लेक्चरार हो गई—जिन्हें जीजी से कम आता था, जो हर बात में जीजी से कम थीं। कभी-कभी जीजी अपनी सहेली शुभा से गहरी सांस भरती हुई कहती—उनका भी डिवीजन आ सकता था! किसी कॉलेज में उन्हें भी पढ़ाने का काम मिल सकता था, यदि वे किसी प्रोफेसर की 'पैट' होतीं तो! डॉ. शचीन्द्र कहते थे कि तुम्हें कुछ पूछना हो तो शाम को मैं खाली रहता हूं। मेरे स्टडी-रूम में आ जाया करो। वहां के द्वार तुम्हारे लिए सदैव खुले हैं। किन्तु जीजी ने उन खुले-द्वारों की ओर भूलकर भी झांका नहीं...कुछ भूलकर भी पूछा नहीं। शायद इसीलिए जीजी को आज कोई नहीं पूछता!

कौन जाने इसके अलावा कोई और समस्या हो! कोई और मुसीबत हो, जो सारे दिन बाबूजी को मथती रहती है।

पास के बंद कमरे से चारपाई के चरमराने की जैसी आवाज आती है। उसकी समझ में नहीं आता, इस अकेले कमरे में क्या हो रहा है! अभी बाबूजी भीतर गए हैं, दूध का गिलास थामे मां भीतर गई हैं!

वह अपने अन्तर की जिज्ञासा का बांध चाहकर भी बांध नहीं पाती। हौले से उठती है। दरवाजे के पास खड़ी हो जाती है और चुपके से एक दरार से झांकती है—बाबूजी-अम्मा एक-दूसरे पर गिरे हैं और दुधमुंहे अनाथ बच्चों की तरह

फफक-फफककर रो रहे हैं।

विस्मय से चिनार के पांव खूंटी की तरह गड़ जाते हैं। आखिर ऐसी कौन-सी बात है, जिसके लिए इतने बूढ़े होकर भी ये बच्चों की तरह रोते हैं।

वह फिर बैठक में लौट आती है। उसकी बांहों में 'महाजन एण्ड अग्रवाल' की लिखी फिजिक्स की पुस्तक बंधी की बंधी रह जाती है। वह देर तक कुर्सी पर निढाल गिरी, सामने की छोटी राउण्ड-टेबिल पर पांव पसारे बैठी रहती है। छत पर सीलिंग-फैन का रॉड, फर्श की ओर नब्बे अंश का कोण बनाता हुआ लटक रहा है। उसके अन्तिम सिरे पर लोहे के पंखे नहीं, बल्कि सिर के आकार का गोल पगड़ीनुमा भाग फुटबाल की तरह लटक रहा है। जो चारों ओर से स्लेटी रंग के कपड़े से बंधा है। गर्मियां शुरू होते ही यह बंधा टुकड़ा उतर जाएगा ओर इधर-उधर से पंख चिपककर, दुबारा बांहें पसारे हवा काटने लगेंगे...।

उसे याद आता है पिछले वर्ष इसी विनयनगर में एक प्रेमी-युगल ने पंखे के सहारे लटककर आत्महत्या की थी। उन दोनों के शव उसने अपनी आखों से देखे थे...।

फिर अटैची के ऊपर उसकी पलकें मुड़ती हैं। कागज़ के भूरे थैले में कुछ भरा हुआ यानी कि सहेजकर धरा हुआ उसे दृष्टिगोचर होता है। वह उठती है और अटैची के सामने खड़ी हो जाती है।

मुड़ने से कागज़ जगह-जगह से फट गया हे। एक परत वह हटाकर देखती है नई नाइलोनी साड़ी।

बाबूजी आज यह किसके लिए लाए। चिनार की समझ में नहीं आता। नाइलोन से पता नही उसे क्यों इतनी चिढ़ है। नाइलोन की साड़ी में मोटी औरतें कितनी भद्दी लगती हैं। धूप की ओर पीठ किए चलती हैं तो दो पांवों के घेरे साफ झलकने लगते हैं।...फिर लोग क्यों पहनते होंगे।

वह फिर छत की ईंटों की ओर देखती है—

एक ये अजित जीजी हैं। छत पर सुबह से अपने बाल सुखाने में जुटी हैं। इन्हें दीन-दुनिया से कुछ सरोकार नहीं। दिन-भर छत पर खटिया डाले, किराए के उपन्यास पढ़ती रहती हैं। एक बार इन्होंने बाबूजी से लाइब्रेरी का मेम्बर बना देने की बात कही थी, पर बाबूजी ने झिड़ककर बात टाल दी थी। इतनी सयानी लड़की इधर-उधर आवारा बनकर घूमे, उन्हें पसंद न था।

जिज्जी बाल पीठ पर बिखेरे एक बार कमरे में आती हैं और तेल की बड़ी शीशी और काला कंघा ले जाती हैं। फिर सीढ़ियों पर एक बार चढ़ते स्लीपरों की फट्-फट् आवाज आती है...और फिर छत पर चारपाई के खटखटाने की।

उसे लगता है जिज्जी छत पर पहुंचकर फिर चारपाई पर बैठ गई हैं।

चिनार शीशे के सामने, कुछ परेशान-सी खड़ी हो जाती है और अपना प्रतिबिम्ब देखने लगती है। उसे आश्चर्य होता है कि कैसे फिजिक्स की किताब अभी तक भी उसकी बांहों में बंधी है।...वह सामने बिखरी लटों को पीछे धकेलती है। उसकी चुन्नी कन्धे पर से सरककर एक ओर गिर गई है।...अपने उरोजों की गोलाई देखकर उसे सहज ही विस्मय होता है। उसके सारे शरीर का विकास किस तेजी से हो रहा है। एक ही वर्ष में धरती-आकाश का अन्तर आ गया। ...कॉलेज में परसों कुमुद कालिया कहती थी कि बुरी लड़कियों के अंगों का विकास बहुत तेजी से हो जाता है। पर वह तो बुरी नहीं। न वह राज की तरह दोस्तों के साथ पिक्चर जाती है न कभी कनॉट-प्लेस घूमती है, न नई दिल्ली के आधुनिक कॉफी हाउसों के अंधेरे एकान्त कमरों में बैठी-बैठी आधी रात बिताती है...न पेसी की तरह प्राइवेट पढ़ाई के खोमचों पर बैठी, प्रभाकर पास प्राध्यापकों से छुट्टी के दिन भी (घर से इम्तहान की तैयारियों का बहाना बनाकर) पढ़ने जाती है...।

उसे यह सब अच्छा नहीं लगता। घर में, जनम से ही बाबूजी का पूजामय वातावरण, मां की धार्मिक भावनाएं, बचपन के संस्कार—इतने बन्धनों ने उनके दुर्बल पांव जकड़े हुए थे कि वे चाहकर भी छटपटा नहीं पातीं। सच तो यह है कि वे छटपटाना चाहतीं ही नहीं। उधर मन ही नहीं जाता। विवाह एक पवित्र-संस्कार है। पति देवता है, इसके अतिरिक्त पाश्चात्य-सभ्यता की कोई भी मान्यता किसी भी तरह उन्हें स्वीकार न थी। आज घर पर वह पहली बार नाइलोनी वस्त्र देख रही थी। वह भी सम्भवतः बाबूजी के हाथों खरीदा! उसके आश्चर्य का ठिकाना न था।

वह बाहर आकर, बालकनी पर, टिन की पुरानी कुर्सी खींचकर बैठ जाती है। फिजिक्स की पुस्तक पर निगाहें टिकाए पता नहीं कब तक क्या-क्या देखती रहती है।

तभी दरवाजा खुलता है। अम्मा इस तरह से बाहर निकलती हैं ताकि चिनार न देख सके। मां का चेहरा सूजा हुआ है। गीली आंखों में सिन्दूर की जैसी लाली बिखर गई है। वह तेजी से मुड़कर गुसलखाने में घुसती हैं और भीतर से इतनी जोर से चटखनी लगाती हैं कि उसकी आवाज चिनार को साफ सुनाई देती है।

देर तक गुसलखाने का नल तड़तड़ाता रहता है।

बाबूजी शायद सो गए है। क्योंकि भीतर से कोई आवाज नहीं आती।

चिनार छत पर जाती है। अजित जीजी ने अभी तक भी वैसे ही अध-गीले बाल बिखेरे हैं। अभी तक भी तेल की शीशी का ढकना बन्द है। शीशा आसमान की ओर पीठ किए, फर्श पर छाती लगाए, औंधा लेटा है।

चिनार के मन में आता है कि वह जीजी से कुछ कहे, किन्तु कह नहीं पाती। क्योंकि जीजी का मूड आज बेहद ऑफ है।

भोजन के समय आज वैसा ही मातमी वातावरण है। अम्मा ने आज दिन-भर धोती नहीं पहनी। केवल ब्लाउज पर पेटीकोट बांधे इधर-उधर फिर रही है। कोई और दिन होता तो बाबूजी बुरी तरह झिड़क देते। पर आज वे देखकर भी देख नहीं पा रहे और न चाहकर ही कुछ कह सकने की सामर्थ्य जुटाने में सफल हो रहे हैं। उनके गले में कुछ अटक गया है। इसीलिए न वह खाते हैं, न कुछ पाते हैं और न बोल ही सकते हैं।

शाम को वह अज्जो जीजी के साथ बैठी इम्तहान के पर्चों के विषय में कुछ बातें कर रही थी कि बाबूजी उसे यों ही कोई काम का बहाना बनाकर मार्केट भेज देते हैं। अम्मा जीजी को लेकर किचन में चली जाती हैं।

चिनार लौटकर आती है तो देखती है—जीजी बेहद उत्तेजित हैं। क्रोध से उनके अधर कांप रहे हैं। सारे अंग फड़क रहे हैं। चेहरा यख लाल है और पास ही खड़ी अम्मा दबे स्वर में कुछ फुसफुसा रही हैं, कुछ समझा रही हैं। किन्तु वे समझने को ही तैयार नहीं। बार-बार चिल्लाती हुई फर्श पर पांव पटक रही है।

चिनार दही का सकोरा रख देती है। ड्राइंग-रूम में भूरा कागज़ी लिफाफा फटा है। देहरी के पास जिसका गोला पांवों से दब-दबकर पिचक गया है। नाइलोनी साड़ी की परतें खुली हैं।

यह सारा नाटक आज क्यों हो रहा है। चिनार की आंखें बड़ी-बड़ी हो जाती हैं।

वह स्वयं ही बाहर आकर बालकनी की दीवार पर कुहनियां टिकाए, सामने सड़क पर 28 और 12 नम्बर की बसों को मोड़ पर बड़ी तेजी से मुड़ती और फिर गोल घेरा काटती हुई, दूर निकल भागती देखती रहती है। पास ही पार्क में बच्चों का शोरगुल है।...पास-पड़ोस की कुछ लड़कियां बगल में पर्स दबाए, निगाहें धरती पर गड़ाए, सहमी-सहमी-सी, डरी-डरी-सी, इस तरह से बसों में से उतरकर घरों की ओर आ रही हैं—जैसे अपराध करके लौटी हों।...

उसकी निगाहें इधर-उधर अवश्य भटक रही हैं, पर ध्यान भीतर के कमरे की ओर जुटा है। अम्मा का गला भर आया है। वे गदराए, अस्पष्ट स्वर में

कह रही हैं—कहे जा रही हैं—"तू ही सबसे सयानी है। अभी तेरा ही ब्याह नहीं हुआ तो औरों का कैसे होगा...! बाबूजी बूढ़े हो गए। पिछले तीन हफ्तों से वे परेशान हैं—पल-भर के लिए भी आंखें नहीं मुंदतीं। करवट-ही-करवट में रात बिता देते हैं। कहते हैं—अब पूजा-पाठ में भी मन नहीं लगता। इतनी जिम्मेदारियां हैं! इतने खाने-पीने वाले बच्चे-कच्चे हैं—सबका क्या होगा!...रात-भर वे पागलों की तरह हड़बड़ाते, बुदबुदाते रहते हैं...। उनका दुःख अब देखा नहीं जाता...तू ही वता, आगे से इतने सारे बच्चों का क्या होगा...!" मां सच ही बिलखकर रोने लगती हैं।

अजित जिज्जी की ओर से कोई स्वर नहीं फूटता।...

थोड़ी देर बाद जीजी बाहर आती हैं। साबुन-तौलिया थामे हाथ-मुंह धोती हैं। बिखरे बालों को संवारती हैं। नाइलोनी साड़ी पहनती हैं। स्लीवलेस पारदर्शी ब्लाउज। उनके पास कॉलेज के दिनों की बहुत खूबसूरत सुनहरी चप्पलें थीं। जो कभी उन्होंने पहनी नहीं, बड़े सहेजकर, छिपाकर रखी थीं, उन्हें निकालकर पहनती हैं। आंखों में काजल लगाती हैं। माथे पर पीला-सा टीका।

वे अभी तक तैयार नहीं हो पातीं कि सामने ही दरवाजे पर स्कूटर घरघराने लगता है। जिस पर बाबूजी बैठे हैं और ऊपर सीढ़ियों की ओर देख रहे हैं, जहां से किसी के उतरने की आहट अभी तक भी नहीं आ रही है। इसलिए वे अधीर हैं। स्कूटर के पैसों का ही सवाल नहीं, वक्त की पाबन्दी का भी तो है...।

चिनार देखती है, अजित जिज्जी दुल्हन की तरह बन-ठनकर बाहर निकल रही हैं। मां पीछे-पीछे दरवाजे तक चलती हैं और फिर उसी की आड़ में ठहर जाती हैं।

जीजी बड़े शान्त भाव से चुपचाप बाबूजी की बगल में स्कूटर में बैठती हैं ओर स्कूटर मुड़कर घरघराहट के साथ फट्-फट् करता, सामने के क्वार्टर की दीवार की बगल से होकर ओझल हो जाता है।

मां सामने रीते द्वार की ओर अभी तक भी अकारण देखती रहती हैं।

"वाबूजी के साथ जिज्जी आज कहां जा रही हैं—अम्मा!" वह पूछती है तो मां गुस्से से उसकी ओर देखती हैं और झिड़ककर कहती हैं—"तेरे बाबूजी के दोस्त की लड़की का ब्याह है। वहां गए हैं।...सुन, किसी से कुछ कहना नहीं...!"

चिनार कुछ और पूछना चाहती है, पर पूछ नहीं पाती...टाल जाती है।

मां का चेहरा पानी-भरे बादलों की तरह भारी है। रोटियां बेलती-बेलती

उनकी कलाइयां रुक जाती हैं। टप्-टप् खारा पानी रोटियों पर बिखरकर विलीन हो जाता है।

नौ बज गए हैं। अम्मा ने बाहर के किवाड़ बन्द कर दिए हैं। ठण्डी रोटियां ढंक दी हैं। अभी तक भी बाबूजी जिज्जी के साथ लौटे नहीं!

दस बज गए हैं। अम्मा की पलकें छत पर चिपकी हैं। अभी तक भी कहीं से कोई आहट नहीं!

पता नहीं कब चिनार की पलकें मुंदती हैं। तभी बोलने, चलने-फिरने की आवाज से तन्द्रा टूटती है। देखती है—स्कूटर आंगन में घरघरा रहा है। रात के बारह बजने को हैं। बाबूजी जिज्जी की बांहें थामे सीढ़ियां चढ़कर ड्राइंग-रूम की ओर आ रहे हैं।

अजित जिज्जी का चेहरा उतरा हुआ है। बाल बिखरे हुए हैं। कपड़े अस्त-व्यस्त हैं। नई नाइलोनी साड़ी किनारे से फटी है।

घर में मातमी वातावरण हे। कोई कुछ नहीं बोलता। सबके होंठ सिल गए हैं। जीभ तालू पर चिपक गई है।

जिज्जी धीरे-से लड़खड़ाती हुई उठती हैं और अपने अंधेरे कमरे में निढाल गिर पड़ती हैं।

खाना किसी से भी खाया नहीं जाता।

चिनार की बगल में जिज्जी लेटी हैं। उनके मुंह से भिन-भिन बदबू आ रही है।

पास ही कमरे में अम्मा के झगड़ने का स्वर फूट रहा है। बाबूजी ने खिड़की के शीशे तोड़ दिए हैं। एक-एक कर सारे देवी-देवता बाहर सड़क पर फेंक दिए है।

पर अव सन्नाटा है। एक बजने को है। शोरगुल अब नहीं सुनाई दे रहा है। मां हौले-से पूछ रही हैं—"क्यों जी, अब तो सब ठीक हो जाएगा न...!"

पर बाबूजी की ओर से कोई उत्तर नहीं। कहीं से कोई आवाज नहीं। केवल जीजी के सिसकने का स्वर व्याप रहा है।



दंशित

भले ही लोग कहते रहें कि दद्दा मरे नहीं, लड़ाई में मारे गए—शहीद हो गए—पर बाबूजी का घायल मन, किसी दूसरी ही दुनिया में पर-कटे पंछी की तरह छटपटाता रहता है।

"इन्दर, आज क्या वार है बेटा?" घर में अम्मा-बाबूजी मुझे इसी नाम से पुकारते हैं।

"मंगल है, शायद।"

"तुम्हारे दद्दा को गुजरे कित्ते महीने हुए?"

मैं उंगलियों पर हिसाब लगाता हूं । कुछ जोड़ता हूं। कुछ घटाता हूं, "बरस पूरा होने में अभी दो-ढाई महीने हैं शायद...!"

"हं, दोऽ ढाऽई...!" बाबूजी के रूखे होंठ खुलते हैं। वे इस तरह देखते हैं कि मैं कहीं गलत तो नहीं कह रहा।

तभी पराग अखबार नोचता है।

"इससे जहाज बना दो न अंकलजी! हम इसमें बैठकर पापा के पास बोमडीला जाएंगे।"

मैं कुछ उत्तर नहीं देता तो वह बछिया की जैसी बड़ी-बड़ी निरीह आंखों से मेरे उदास चेहरे की ओर ताकता है।

"आप भी लरने जाएंगे न अंकलजी!" वह सिर हिलाकर पूछता है।

"हां...।" मैं यों ही कह देता हूं।

वह कमीज की आस्तीन से नाक पोंछता है, फिर आंखें मिचमिचाता है, "आपको तो गुस्सा नहीं आता। फिर कैसे लरेंगे? हं अंकलजी!"

मैं मक्खन के गोले को अपनी दोनों हथेलियों के बीच भरता हूं...पास

खींचता हूं। उसकी छोटी-सी पतली नाक के दो हल्के-से छोटे छेद ऐसे लगते हैं जैसे दियासलाई की बारीक नोक से अभी-अभी चुभोकर बनाए हों।

मैं उसे जूठा करूं, इससे पहले ही वह उछलता है। चला जाता है। पर मैं उसी परिधि पर फिर-फिर घूमने लगता हूं।

हां, पराग ठीक कहता है। मैं लड़ाई में नहीं जा सकता। मुझे अब गुस्सा नहीं आता। कभी-कभी मैं स्वयं भी सोचता हूं, मुझे गुस्सा क्यों नहीं आता है!

नदी के किनारे बिखरे पत्थरों की तरह मुझे असंख्य सपाट आकृतियां दिखलाई देती हैं। पर एक भी ऐसी नहीं, जिससे अकारण लड़ सकूं, झगड़ सकूं, मन की सारी बातें जिस पर उडेल सकूं।

मेरी रीती आंखें, तब प्रकाशहीन सर्च-लाइट के हण्डे की तरह निरर्थक चारों ओर घूमती हैं। फिर अधमुंदे दरवाजे पर ठिठक पड़ती हैं।

एक गूंगी-सी गहरी परछाईं दूर कहीं से आकर ठहर जाती है। सीपी जैसी चौड़ी पलकें खोले मेरी ओर देखती है।

"नीरेन'दा!" बच्चों की भांति वह पूछने लगती है, उमर में इतनी बड़ी होकर भी, "आप इस अंधेरे कमरे में अकेले क्यों बैठे रहते हैं?"

मैं कुछ कह नहीं पाता।

"घूमने से तन्दुरुस्ती अच्छी रहती है न!"

मुझे खयाल आता है—हां, वह ठीक कह रही है। मैंने भी हाईजीन की, कोर्स की किताब में पढ़ा था—शायद घूमने से तन्दुरुस्ती अच्छी रहा करती है।

"आप कहते थे न!" वह अजीब-सा मुंह बनाकर, दुपट्टे का छोर अंगुलियों में लपेटती है, "आप कहते थे न, अगले जाड़ों में स्कूटर खरीदेंगे। एक भूरा-सा सूट सिलवाएंगे।...एक छोटा-सा सुंदर घर बनाएंगे जिसमें नीले-नीले परदे होंगे, एक नया नीला सोफा-सेट होगा, पर्दों की तरह जिसकी गद्दियों का रंग भी एकदम गहरा नीला होगा। एक खूबसूरत खूब गाने वाला रेडियो...और...और...।"

"और कुछ नहीं।"

"कुछ भी नहीं?" वह विस्मय से देखती है।

"हां...।"

उसके माथे पर रेशम की लकीरों की तरह हल्की-हल्की सिलवटें पड़ जाती हैं। दबे गुस्से से वह घूरकर देखती है, "झूठे कहीं के! विद्या कसम कहो! नहीं कहते थे...!"

"क्या नहीं कहता था?"

"क्या नहीं कहता था!" वह मुंह बिगाड़ती है, "तुम झूठे हो! नहीं कहते थे कि एक बड़ा-सा पिंजड़ा होगा। उसमें एक मुनिया होगी, एक गौरैया होगी, एक छोटी-सी खूब बोलने वाली, चीखने वाली और काली-काली मखमली मैना होगी और एक मेरे बराबर बड़ी गुड़िया—जिसकी मेरी जैसी आंखें, मेरे जैसे दांत...!"

कहते-कहते एकाएक वह चहक उठती है। ताली पीटती हुई किलकती है, "नीरेन'दा, सच्ची आप बूढ़े हो गए। आपके सारे बालों पर सफेदी बिखर रही है। मैं सबसे कह दूंगी।" वह ही-ही-ही हंसने लगती है।

मैं उसके बया के घोंसले जैसे उलझे बालों को नोचता हूं, "जंगली कहीं की। अभी तक अकल नहीं आई! इतनी बड़ी हो गई—बिजली के खम्भे से भी ऊंची?"

वह बालों को छुड़ाने के लिए छटपटाती है।

"बता, यहां क्यों आई थी?" मैं उबलकर देखता हूं।

"बिज्जो से मिलने!" वह झटका देती है, "कसाई कहीं के!" दूर चली जाती है।

निगाहें जाड़ों की फीकी धूप की तरह फिर खिड़की पर बिखर जाती हैं—उदास। ईंटों से पटी छोटी-सी संकरी गली। आदमी-ही-आदमी, चींटियों की कतार की तरह। इतने लोग इस मैली-सी, दम घोटने वाली अंधी गली से होकर कहां आते-जाते होंगे! मैं फिर बरगद के पेड़ की चोटी की ओर देखता हूं। छत की मेड़ रीती है, जहां कनु सुबह नहाकर, ढेर सारे गीले रेशम को कंधों पर बिखेर देती है। नाइलोनी धुएं के उस पार शून्य में ताकती, पता नहीं क्या-क्या सोचती रहती है।

मुझे लगता है, कनु ठीक कहती है। सचमुच मेरे बालों पर राख बिखरती चली जा रही है। एक बार अम्मा ने देखा तो मुए तेल वालों को कोसकर चुप हो गई थीं। पर बाबूजी जब कभी मेरे सफेद बालों की ओर देखते हैं तो उनकी धुंधली-सी पुतलियों में एक अजीब-सा रंग उभर आता है। सफेद ग्लेजी कागज़ की तरह, जिसमें कोई भी भाव पल-भर ठहर नहीं पाता।

बाल असमय सफेद हो जाते हैं—क्यों हो जाते हैं? आदमी समय से पहले ही बूढ़ा हो जाता है—क्यों हो जाता है! थोड़े से समय में सदियों से संजोए सपने पता नहीं कहां चले जाते हैं! अभी दुनिया ही मैंने कितनी देखी है! अगर दद्दा होते तो क्या मैं भी अभी सबकी तरह यूनिवर्सिटी में नहीं पढ़ता! चक्की के दुहरे पाटों में यों दिन-रात पिसता रहता! दद्दा कहते थे—'तुम्हें पढ़ने के लिए फॉरेन भेजेंगे!' मेरा दिल भर आता है। मैं झटके से मुंह मोड़ता हूं और कुछ

ठहरकर, फिर उसी काम में जुट जाता हूं। पराग की फीस...दद्दा की आने वाली वरसी...हरिद्वार जाने-आने का खर्चा और वावूजी की दवा का हिसाब लगाता हूं—कि दरवाजे पर फिर वही परछाईं ठहर जाती है—बिज्जो से मिलने के बहाने।

"जी, यहां बिज्जो नहीं आई?"

"ना...।"

'ना...।' के साथ उसे चला जाना चाहिए था, लेकिन वह ठिठक पड़ती है।

"नीरेन'दा, आप बिल्कुल बदल गए हैं, सच्ची!" उसने जैसे मुझे वहुत वर्षों वाद देखा और वहुत गहरे में उतरते हुए कहा, "आप इतना सारा काम किसके लिए करते हैं। न समय पर खाते हैं, न पीते हैं, न सोते हैं। विज्जो कहती थी, नीरेन'दा को नींद न आने की बीमारी हो गई है। सच, आपका चेहरा अजीव-अजीब-सा हो गया है। दूर से देखने पर डर-सा लगता है...।"

मैं अपने रूखे होंठों को जीभ से भिगोता हूं। घूरकर उसकी ओर देखता हूं। वह सहम जाती है।

"इधर आऽ...!" सरोष कहता हूं।

वह पास आकर खड़ी हो जाती है।

"वो सामने से कुर्सी खींच!"

वह कुर्सी खींचती है।

"बैठ जा।"

वह सिकुड़कर बैठ जाती है।

"अच्छा, सच-सच बता! मुझे देखकर डर लगता है?"

वह केवल सिर हिलाती है—"ना।"

"झूठ बोलती है! लगता है न!"

"नहीं तो!"

"फिर क्यों कहती थी?"

"झूठ-मूठ कहती थी।"

"झूठ-मूठ कहती थी!" मुट्ठी-भर तार-तार सुनहरा सूखा रेशम हवा से उड़कर फिर माथे पर फैल जाता है। मैं उसके मासूम मुखड़े की ओर देखता हूं...बड़ी-बड़ी भूरी पारदर्शी आंखों की ओर।

"अच्छा बता, मुझे देखकर डर नहीं लगता तो कैसा लगता है?"

वह बिना सोचे अनायास कहती है, "अच्छा लगता है...।"

मैं हंस पड़ता हूं। मुझे हंसता देख वह भी यों ही हंसने लगती है।

कुछ क्षण फिर सन्नाटा रहता है।

मैं सिगरेट के सिरे की राख की लम्बी लकीर की ओर देखता हूं। फिर बड़ी तल्खी के साथ कहता हूं, "देख, कनु!"

कनु सचमुच देखने लगती है।

"बाबूजी बूढ़े हो गए हैं न!"

वह पराग की तरह सिर हिलाती है, "हां!"

"तू देखती है, अम्मा को इस उमर में भी कितना काम करना पड़ता है। जब से बिज्जो गई, कोई भी हाथ बंटाने वाला नहीं रहा...।"

वह अपलक देखती रहती है।

"भाभी खुद ही दुःखी हैं। उस पर दिन-रात बच्चे नोचते रहते हैं।"

"हां...!" वह फिर माथा हिलाती है, जैसे यह बात भी वह जानती है।

"और फिर दद्दा के गुजर जाने के बाद कमाने वाला अकेला मैं ही तो हूं न!"

"हां...।"

"तो सुन! तू ही बता, इतनी बड़ी गाड़ी अकेले कैसे खींची जाएगी। तुम्हारे डैडी की तरह तो सब पैसे वाले नहीं होते न!"

कनु की बड़ी-बड़ी निश्छल आंखों में रेत का सूखा सागर सिमट आता है। बड़े-बडे बालू के टीले बनते हैं और बिगड़ जाते-हैं।

"तो नीरेन'दा!" वह बहुत देर तक सोचती रहती है, "तो आप शादी क्यों नहीं कर लेते!"

"हुं!" मैं विस्मय से कह उठता हूं, "शादी कर लूं! क्यों?"

"क्यों क्या? वह सारा काम कर दिया करेगी न!"

मैं कुछ भी कह नहीं पाता, आंखें मींचे पता नहीं क्या-क्या सोचता रहता हूं।

"हां, कहती तो ठीक हो!...जो घर का सारा भार उठा ले, अगर ऐसी औरत मिल पाती तो...?"

कनु बात काटती है। आश्चर्य से कहती है, "क्या कहा, औरत से शादी करोगे नीरेन'दा!...लड़के लोग तो लड़कियों से ब्याह किया करते हैं।" वह अपनी अबूझ हंसी में खिल-खिल हंसने लगती है, "सच्ची, मैं सबसे कह दूंगी...।"

वह कपास की तरह हल्की हो जाती है।

मुझसे कुछ भी कहते नहीं बनता! यह क्या है! किसी भी बात को गहराई से क्यों नहीं ले सकती! मुझे उस पर हंसी आती है। दुःख होता है। कितनी बड़ी हो गई! इसकी उमर की सारी लड़कियों की शादी हो गई है, पर यह अभी

तक बच्चों जैसी उड़ी-उड़ी बातें किया करती है कि...

अपने सफेद बालों को पहले कुछ दिनों तक एक-एक कर नोंचकर निकालता रहा। पर यह क्रम भी अब छूट गया है। चेहरे की झांइयां गिनने से क्या, अपनी ही आकृति अब मुझे अपरिचित लगती है। भय-सा महसूस होता है।

पर यह क्या! कनु अब बहुत दूर-दूर क्यों रहती है! कभी दीखती नहीं। ब्रिज्जो कहती है, 'इन्दौर चली गई है, मंझली बुआ के पास।'

इस घुटन-भरी बोझिल ज़िन्दगी से हारकर, थककर, मन अनायास जहाज के पंछी की तरह फिर-फिर उसी ओर पंख छटपटाता है।

लेकिन कनु जब से बुआ के यहां से लौटी है, बदली-बदली-सी लगती है। इन दो ही महीनों में उसका बचपना न जाने कहां चला गया है। अब न वह हंसती है, न बोलती। खोई-खोई-सी न जाने किस भंवर में डूबी रहती है।

एक दिन देखता हूं...वह भारी-भारी डग भरती कमरे में आ रही है। इस बार यह नहीं कहती कि बिज्जो से मिलने आई है। बड़े विश्वास के साथ दरवाजा यों ही बन्द कर पास ही कुर्सी पर बैठ जाती है। जहाज के पैंदे की तरह चेहरा भारी है—निराश।

"नीरेन'दा!" वह जैसे सपने में है, हवा से बातें कर रही है, "क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई एक ऐसी लड़की मिल जाय जो बाबूजी की देखभाल कर ले, मांजी के काम में हाथ बंटा ले। भाभी को भी कुछ सहारा मिल जाय...और आपकी सेवा भी कर सके...तो आप उससे शादी कर लेंगे न नीरेन'दा...!"

मुझे कोई उत्तर नहीं सूझता। मुझसे कुछ भी कहा नहीं जाता।

वह एक बार, दो बार, बार-बार अपनी बातें दुहराती है, लेकिन मेरी जुबान को लकवा मार गया है, मैं बहरा हो गया हूं न!

वह अंत में एक गहरा निश्वास छोड़ती है और चली जाती है।

शाम को एक छोटी-सी चिट डिंकी के हाथ भिजवा देती है। और उसके बाद कनु फिर कभी दिखालाई नहीं देती। न खिड़की खोलती है, न छत पर रेशम सुखाती है।

मैं भी काम में अब बुरी तरह पिसा रहता हूं। पता ही नहीं चलता, कब पौ फटी, कब सांझ ढली!

दद्दा की बरसी के दिन हम हरिद्वार होकर आए थे।...बाहर-भीतर लोगों का जमघट जुटा था। ब्राह्मणों के कर्म-धर्म से निबटकर अपने कमरे में पहुंचा

तो एक बजने को था। सारा संसार सोया था। बाहर चौकीदार के चीखने की आवाज आ रही थी। पास के कमरे से भाभी के सिसकने का स्वर! पराग हफ्ते-भर से बीमार है।...मेरी कच्ची नौकरी को छूटे चार दिन हो गए...।

रोशनी जलती रहती है। मैं बल्ब की ओर देखता रहता हूं। तभी दरवाजे का कुण्डा-सा खटकता है। दो निरीह आंखें मेरी ओर न जाने किस भाव से झांकती हैं।

कनु!

अबीर में डूबी, सफेद हल्की-सी, राख की लकीर-सी!

"अरी, कब से खड़ी हो?"

आज बहरी बनने की बारी कनु की है न!

"सुना था तुम्हारा ब्याह हो गया?"

कनु टकटकी बांधे मेरी ओर भयभीत आंखों से देखती रहती है।

मुनिया उड़ गई, नीले पर्दों का चमकता रंग स्याह पड़ गया! घर खरीदने से पहले ही बिक गया! लगता है रेडियो अब संगीत नहीं, मर्सिया सुनाया करता है न...।

कनु के गुलाबी अधरों पर, जामुनी रंग फिर गया है। बुझे दीये की तरह उसकी आकृति शून्य हो गई है।

"नीरेन'दा...!" वह आंचल में मुंह छिपाकर, दांतों से होंठ काटकर, फफक-फफककर फूट पड़ती है। कुछ क्षण उसी तरह खड़ी रहकर सिसकती हुई ओझल हो जाती है।

पराग अब अखबार नहीं नोचता। यह भी नहीं कहता कि मैं जहाज बना दूं। वह उड़कर पापा के पास सीमा पर जाएगा।...भाभी अब चाहकर भी रो नहीं पातीं। उनकी आंखों से आंसू ढुलकते ही नहीं। डॉक्टर कहते हैं—बाबूजी दवा नहीं पीते। कहते हैं—व्यर्थ में पैसे जाया करने से क्या! मां अब मुए तेल वाले को भी नहीं कोसतीं। कनु भूलकर भी एक बार नहीं देखती।

मैं दिन-भर इन धूल-भरी सड़कों में मारा-मारा फिरता हूं। घर में घुसते ही पिताजी आंगन में खड़े मिलते हैं, "कुछ मिला!"

इन 'तीन' शब्दों का चक्रव्यूह मैं भेद नहीं पाता। उत्तर दिए बिना ही चला जाता हूं। छत पर लेटा-लेटा आसमान पर तनी नीली चादर की ओर देखता हूं...।

लोग कहते हैं—कनु हर समय उदास रहती है। अब खिड़की नहीं खोलती।

अब बाहर नहीं देखती। शायद कभी-कभी दूर से झलक पड़ती है तो उसके हाथी-दांत जैसे गोरे हाथों में मेंहदी कितनी अच्छी लगती है। जब वह तार पर गीले कपड़े फैलाने के लिए झुकती है, तो उसकी सुनहरी चूड़ियों की चमक बिजली की तरह कौंध जाती है!...मांग में सिन्दूर कितना सुन्दर लगता है। रेशम का लाल डोरा-सा!

लड़कों का ब्याह लड़कियों से हुआ करता है। ब्याह के बाद सब बदल जाते हैं। कनु भी बदल गई है।

विज्जो कहती है, कनु सचमुच बहुत बदल गई है। अब बहुत सुख से रहती है। पर उसका बचपना अभी तक भी गया नहीं।

उसने अपने कमरे में कितने ही ढेर सारे नीले-नीले पर्दे अकारण लटका रखे हैं। गहरा नीला सोफा-सेट है। खूब बोलने वाला खूबसूरत रेडियो। और कितनी ही मुनिया, गौरैया पाल रखी हैं। सुनहरे पिंजरे में एक मखमली काली मैना है, जो दिन-रात बिदुर-बिदुर चीखती रहती है। जैसे कंठ में कांटा कसक गया हो!

मैं शीशे में देखता हूं। कुछ भी तो दिखलाई नहीं देता। केवल सिकुड़ती-सिमटती, रंगहीन खोखली दीवारों का प्रतिबिम्ब एक-दूसरे से टकरा-टकराकर बिखर पड़ता है।



नई बात

जब कहीं ब्याह की बात न चली, दरजा दस तक पढ़ाने-लिखाने के बाद भी सार्थकता सिद्ध न हुई और विवश होकर घर बिठलाना पड़ा—और घर बैठे-बैठे भी बदनामी होने लगी तो चन्द्रा बल्लभ उपरेती ने अपनी बहन केती को पहाड़ से दिल्ली भेजने को लिख दिया।

गर्मियों के दिन थे—तपते। भरी दुपहरी। लू के थपेड़ों के बीच, इक्का-दुक्का साइकिल-सवार हांफता हुआ विनयनगर 'मेन-मार्किट' की ओर गुजरता दीखता।—और आसमान में कोई चील मंडराती, कौवे कांव-कांव कर गन्दी नालियों में सूखी चोंच डुबोते तो—एक गर्मी में लिपटी, धुंधली उदासी चारों ओर बिखर जाती...।

चन्द्रा बल्लभ उपरेती धनुष की डोर की तरह, गले में जनेऊ डाले, मात्र अण्डर-वियर पहने, अपनी जाल जैसी खुली, ढीली बांस की खटिया पर गिरा—'कमेटी' का हिसाब जोड़ रहा था।

इस अगले महीने की पहली को सेवानगर, हीतविष्ट के क्वार्टर में 'कमेटी' थी।—चन्द्रा बल्लभ 'गुरु' कहलाने, तथा गत माह से दफ्तरी से तरक्की पाकर, जूनियर क्लर्क होने की वजह से 'सिकरेटरी' था। उसे अपना हिसाव हयातसींग को नियत समय पर सौंपना था...ताकि मीटिंग ठीक से चल सके। किन्तु सवा-तेरह आने का जोड़ मिलता न था। इसलिए बार-बार वह अपने छोटे-से कपाल पर पेंसिल का कुन्दा ठोक रहा था।

चार मरियल बच्चों की मां, उसकी धरम-पत्नी—गोबिन्दी, जिसके गोरे गालों पर छोए' पड़ गए थे, जिसकी गोदी पर लिपटा, पसीने से नहाया नंगा बच्चा, दूध झिंझोड़ रहा था—ऊंघ रही थी।

तभी बाहर गली में हांक की-सी आवाज आई।

अचकचाते हुए उसने सुना—कोई 'चंदरा बल्लब' पुकार रहा है।

जाफरी के छेदों से झांका, एक तांगा रफ्ता-रफ्ता मोड़ पर मुड़ता, रुकता दिखलाई दिया।

देखते ही आंखें फैल-सी आईं उसकी—"द, वे' हमारी क्रति जैसी!—देखो तो हो!" मछली की तरह आंखें पति पर से फिसलकर नीचे की ओर डूब गई।

चन्द्रा बल्लभ हाथ का कागज़ हाथ में थामे, मुनीमों की तरह पेन्सिल कान में खोंसकर हड़बड़ाता हुआ खड़ा हुआ। अजीब-सी उत्कण्ठा से काठ की स्लेटी रंग की जाफरी के वर्गाकार छेदों के बीच—दोनों हाथों की अंगुलियों का गोल धेरा बनाए इस तरह देखने लगा, जैसे छोटे बच्चे दो-दो पैसे में बाइस्कोप के बक्स के भीतर झांकते हैं।

तांगे की अगली सीट पर, तांगे वाले की बगल में, धोबी के गट्ठर की तरह केतकी बैठी है। पिछली सीट पर ठुल कका पांवों को सीट पर समेटे, सहमे-से पालथी मारे बैठे है।

तांगे वाला केतकी का हाथ पकड़कर बड़े जतन से उतार रहा है। कहीं गिर न पड़े! 'बेटी' कहकर उसकी पीठ पर हाथ फेर रहा है।

चन्द्रा बल्लभ को यह अच्छा न लगा। वह तेजी से नीचे उतरा। हिकारत की नजर से तांगे वाले की ओर देखा। पैसे चुकाकर मुंह काला किया।

चन्द्रा बल्लभ ने फिर कका को प्रणाम किया—चरण छूकर। फिर कुतुबमीनार की तरह खड़ी केतकी को देखा—जो अब पहले की तरह बच्ची नहीं, भरी-पूरी औरत-सी लगती थी।...उसने पांव छुए तो उसे अजीब-सा लगा।

दोनों मोटे-मोटे हाथों में, मोटी-मोटी लाल चूड़ियां। विशाल मांसल शरीर पर छोटी-सी धोती—टखनों के ऊपर तक उठी। बड़े भद्दे ढंग से पहनी—शहर में ऐसे थोड़े ही पहनते हैं!

चारपाई पर पसरते हुए कका ने अपनी मैली-कुचैली, फटी गरम-टोपी बड़े गौरव एवं आत्म-विश्वास के साथ उतारी और अपने ऊपर उठे घुटने पर रखी—

"दिल्ली स्वरग है यार चन्द्रा! तुम लोगों के पिछले जनम के करम हैं। हमने तो पहाड़ के खड्ड में पड़े-पड़े उमर बिता दी। तेरे परसाद आज यह दिन भी देख लिया हो...।"

चन्द्रा बल्लभ ने धन्यता अनुभव की।

"आप थक गए होंगे कका...!"

"न हो, मुझे तो मुरादाबाद से किसी के बक्स के ऊपर बैठने को ठौर

मिल गई थी। पर हमारी केति परेशान रही। गाड़ी में कभी चढ़ी नहीं थी—मांच लगता, सिर घूमता था—उस पर भीड़ के रेल-पेल में दबी रही। आदमी पर आदमी था। यहां उतरते समय कहती थी—'हाड़ दुःख रहे हैं कका...!' मिलटरी वालो से डब्बा खचाखच भरा था...।"

कका ने अपने दोनों पांव दूर तक तनकाए। दसों अंगुलियां एक-दूसरे पर कैंची की तरह फंसाकर, सिर के नीचे पट्टी की तरह तानकर रख दीं—

"अपने गंगादत्त की लड़की का कुछ पता चला हो! सुना दिल्ली में थी?"

"'कमलु'का डराईभर कहते थे...।"

कका ने घर की तरफ की बहुत-सी बातें बतलाई। यह भी कहा कि मिलटरी वालों ने रानी खेत के पास एक औरत के साथ बदफैली की। औरत बच्चे पर थी—मर गई।...सरपंच हम लोगों के धड़े से बाहर है। एक दिन कुल्हाडी उचाकर हमें मारने को आया था...।

चन्द्रा बल्लभ माथा हिलाता रहा चुप। केतकी खिलखिलाती-हंसती अपने छोटे भाई सदिया को इतने जोर से चूम रही थी कि उसे बीच में टोकना पड़ा...।

शाम को भोजन के लिए, ठुल कका जब कपड़े उँतार, धोती पहनकर, चौक पर बिराजे तो उन्होंने पहाड़-पुराण की बातों का टेलीप्रिण्टर फिर खोल दिया—

"गांव-गांव में मोटर-सड़क बन गई है हो। बलौक वाले भर गए हैं। हमने भी अपने घर के दो कमरे किराए पर लगाए हैं—चौदह रुपए पर। तीन बलौक बाबू रहते हैं...। कभी-कभी घर में ही खा लेते और रात को समय मिलने पर हमारी केति को भी पढ़ा दिया करते थे।—वे बिचारे न होते तो केति, दस साल में भी दफा दस पास न कर पाती। अपने हाथ से कलम पकड़-पकड़कर लिखना सिखाते। अपने पैसे से किताब-कलम खरीदकर लाते। उस अल्मोड़िया बाबू ने तो बड़ी मदद की। केति जाने और वह जाने, जब देखो पढ़ाने में! हमारे इधर आती बेर कहता था—'केति को दिल्ली न ले जाओ हो चचा, यहीं पराइभेट करवाकर बलौक की नौकरी में लगा देंगे। खूब तरक्की करेगी। खुश रहेगी। जैसी हमारी बहिन है, वैसी यह भी है...।'

हमने सोचा केति दिल्ली जाएगी तो हमारी आनन्दी का भी सुधर जाएगा। वह भी पढ़ लेगी। बिना पढ़े अब शहरों की तरह गांव-घरों में भी वर मिलना मुश्किल है। जमाना ही बदल गया हो चन्द्रा!"

आनन्दी, चन्द्रा बल्लभ के ठुल कका परमानन्द की बड़ी बेटी है। ठुल कका

को उसके भविष्य की भी चिन्ता है।

"हमारी आनन्दी भी अब सयानी होगी...!" रोटियां बेलती गोबिन्दी ने घूंघट की ओट से कहा।

"द, न पूछो! इस पांच गते पूस को उसे सत्रह पूरे हुए हैं। लेकिन लगती ज्वान-जमान है। हमारी केति से इक्कीस होगी, उन्नीस नहीं...!"

"पढ़ती है न!"

"फराफर पढ़ती है। पटवारी-पेशकार आते हैं तो उनके सामने बैठती है। बातें करती है।" कका घासलेट से चुपड़े फुलके एक के बाद एक निगलते रहे।

चन्द्रा बल्लभ अपनी ओर से अधिक नहीं, किफायत से बोलता है। वह भी आज धोती लपेटकर चौके पर बैठा है। नहीं तो ठुल कका घर जाकर धरम-डूबने की बात कहकर बदनामी करेंगे।

"हाई-इसकूल खुलने से गांव में बड़ी तरक्की हो रही है।—जसोधर घर से लौटने पर सुना रहा था...।" चन्द्रा बल्लभ ने कुछ कहने के लिए कहा।

"तरक्की-वरक्की तो क्या होती! यार, शहरों की तरह गांवों में भी 'लोफर' भर गए हैं। गुण्डागर्दी मच रही है।...ग्राम-देवियों के तो किस्से ही और हैं।...!" कका ने सेर-भर का लोटा सिर से दूर ऊपर तक उठाया और झरने की-सी लम्बी धार गटा-गट गले में गेरते रहे। एक ही सांस में लोटा रीता कर दिया। फिर भीगी मूंछों को पोंछते हुए निवाले तोड़ने लगे।

"तेरी चिट्ठी जब पिछले दिन आई तो हमने गांव में भेली बाटी। सब कहते थे—औलाद हो तो ऐसी हो। सेरा वालों का लड़का होनहार निकला। दफ्तरी से किलर्क हो गया। पटवारी के बराबर तनखा पाता है। कुर्सी पर बैठकर कलम चलाता है...।"

अपने 'होनहार' होने की बात सुनकर चन्द्रा बल्लभ मन-ही-मन बहुत मगन हुआ। उसकी पत्नी का चेहरा भी एकाएक खिल उठा। भले ही ऑफिस में अभी तक भी वह पहले की तरह चिप्पियां ही चिपका रहा था—किन्तु लोगों के बीच एक आदर का स्थान तो बन ही चुका था।

वह सचमुच मोम बन गया अब। खुशामद के लहजे में बोला—"कका, आपने तो कुछ खाया नहीं! आहार कम हो गया क्या?"

"आहार-वाहार तो ठीक ही है बेटा।" कका ने परम विराग से कहा—"पर अब शरीर में सुस्ताई जैसी आ गई है हो। कसी-कुदाली चलाई नहीं जाती। जजमानी से जमता क्या है! नोन-तेल का भी पूरा नहीं पड़ता। इन कन्याओं के ऋण से उऋण हो जाता तो जगन्नाथजी का पुन्न मिल जाता...।"

ठुल कका ने पाषाण-शिला-सी बैठी केतकी की ओर देखा। जिसे अभी तक भी रेल के धक्के लग रहे थे। जो अभी तक सारी वस्तुओं को अचरज से देख रही थी।

"केति, कैसी लगी दिल्ली?" कका ने खाने के बाद हाथ पोंछकर, सींक से दांतों को कुरेदते हुए पूछा।

केतकी बत्तीसी दिखलाकर, फीं-ईं-ईं कर हंस दी।

नींद न आई चन्द्रा बल्लभ को। 'कमेटी' का हिसाब छू-मन्तर हो गया था। अब समस्या थी—केतकी की। उसने उमंग में आकर दिल्ली आने को लिख तो दिया था, पर यहां आकर कौन-सी समस्याएं उठ खड़ी होंगी—सोचा न था।

चपरासियों के क्लास-फोर क्वार्टर में एक जाफरी वाला कमरा लेकर पिछले सवा साल से गुजारा कर रहा था। दूसरे में कोई रोहतक की तरफ का छड़ा था—अकेला। अब एक ही कमरे में सात आदमी कैसे रहेंगे! छड़े के साथ केसे निभेगी! कहीं कुछ बात हो गई तो—जमाना बिगड़ चुका है! किसी का भी ईमान नहीं...!

सुबह नहा-धोकर ठुल कका ध्यान में बैठे। चन्द्रा बल्लभ राशन व दूधिए का हिसाब जोड़ता रहा। आने वाले महीने में गुजारा मुश्किल था, उस पर ठुल कका के आने-जाने का खर्चा—सो अलग!

वह सोचता था 'कमेटी' से कुछ पैसे निकाल लेगा। परन्तु सतर का पिछला बकाया गत तीन महीने से उतर न पाया था।

"हं हो, चन्द्रा बल्लभ!" पूजा के आसन से उठने के बाद ठुल कका को जैसे कुछ सहसा याद आ पड़ा—"यहां सुना है पुतलीघर है! तेरी काकी के घाघरे के लिए दस-बारह गज किरेप तो मिल ही जाएगी न!"

चन्द्रा बल्लभ ने सिर हिलाया केवल।

चाय का हाथ-भर लम्बा गिलास कका ने होंठों से लगाया—"यार, कुछ कपड़े-वपड़े सिलवा देना हो—हमारी केति के लिए...देसी फैसन के। वहां समय ही नहीं मिला। फिर गांव-गिराम में मिलता भी तो महंगा है! दुकानदारों ने 'लुट्यौल' मचा रखी है। जितना मुंह में आया, उतना दाम कह देते हैं।"

कका ने चाय के साथ बीड़ी भी सुलगा ली—"पहाड़ में जुलम अकाल पड़ा है हो चन्द्राऽ! एक समय खाने को भी रासन नहीं मिलता। लोगों को लाज रखना कठिन हो गया है। चीनी की बात तो दूर रही, लोगों को बीमार के लिए बांस-मिसरी तक मुहय्या नहीं है...। तू अब कुछ घर वालों की मदद कर हो...!"

चन्द्रा बल्लभ पाठशाला के विद्यार्थी की तरह हर बात पर सिर हिलाता है।

शाम को साइकिल घसीटता, 'कमेटी' की मीटिंग के बाद घर लौटा—बेहद हारा-थका।...कका छोटे लच्छू को लिए 'मारकीट' गए हैं। अभी तक लौटे नहीं। केतकी बाहर चारपाई पर मगरमच्छ की तरह लेटी है।

"इसके लच्छन भले नहीं होऽ!" गोबिन्दी ने पति के कानों में फुसफुसाते हुए कहा।

"क्यों?" साश्चर्य चन्द्रा बल्लभ ने देखा।

"इसकी बक्सी में चिट्ठियां-ही-चिट्ठियां भरी पड़ी हैं। पता नहीं किस-किस की! बेशरम बात लिखी है...।"

चन्द्रा बल्लभ ने कुछ कहा नहीं। किंचित आगे सरक आया—"किसकी हैं?"

"क्या पता? मुंह-जले वलोक वालों की होंगी। इसकूल के मास्टरों की होंगी। बनिए की गुल्लख की तरह बक्सी भरी पड़ी हे...।"

ज़मीन धंसने लगती है—उसके पांवों से।

"सुनो तो...!" वह और पास आई—"कैसा बेशरम जमाना हो गया है! किसी से कहना नहीं...!"

एक अजीब-सी स्थिति हो गई चन्द्रा बल्लभ की। यह सब जानने-सुनने को वह तैयार न था। एकदम गूंगे की तरह सांस रोके चुप रहा। पत्नी को इस मामले में बढ़ावा देना उसे ठीक न लगा।

"वहीं किसी के पल्ले बांध देते—गुपचुप। यहां बदनामी हो गई तो फिर कहां जाएंगे! डूब मरने को भी ठोर न रहेगी! परदेस का मामला ठहरा...!" चिन्तित भाव से, सयानेपन के साथ कहकर, गोबिन्दी चुप हो गई।

देर तक सन्नाटा रहा। कुछ टटोलते-खोजते हुए चन्द्रा बल्लभ ने पत्नी की ओर देखा—"तू तो दिन-भर यहीं रहती है, अपनी निगाहों पर रख। बदनामी कैसे होगी!"

"क्यों?" पत्नी की पलकें फैल गईं—"दिन-भर मैं भेड़ों की तरह इन्हीं की रखवाली करूं! सारा दिन खिड़की पर बैठी, बाहर भीतर आती-जाती ताक-झांक करती रहती है। यह मुसण्ड! (उसने दीवार की ओर इंगित किया। उसका तात्पर्य छड़े पड़ोसी से था)—आज दोपहर को ही छुट्टी लेकर घर आ गया था। तब से वह जाने या यह! दरवाजे पर खूंटे की तरह गड़ गई है।...मैं किसी काम से बाहर जाती हूं तो वह लपककर कागज़ की गोली फेंकता है और यह खिच्च से

हंस देती है...।"

अपने निर्लज्ज पड़ोसी पर चन्द्रा बल्लभ को बेहद गुस्सा आया। पर शान्त भाव से पानी की तरह पी गया। अंगीठी के कोयले से बीड़ी सुलगाता—वैसा ही रोज की तरह अण्डर-वीयर पहने बैठा रहा।

चन्द्रा बल्लभ को आता केतकी ने देखा था, पर वह वैसा ही पड़ी रही। लेकिन देर तक भैया-भाभी को गुप-चुप बातें करते सुन उसे न जाने क्या प्रतिक्रिया हुई...बाल बिखेरे, आंचल बहाए, बरगद के पेड़ की तरह, वह आंखें मलती खड़ी हो गई।

दोनों अब चुप थे।

"दद्दा, कल अपने औफिस से आठ-दस लिफाफे ला दोगे न!"

"क्यों?"

"हमारे पड़ोस में जो वे भारतनन्दन, बलौक-बाबू रहते हैं न, उनकी दुल्हैंणी को चिट्ठी लिखनी है। दिल्ली आती बेर कहती थीं—'लली, वहां पहुंचने पर कम-से-कम चिट्ठी गेरकर ही याद कर लेना...।' भारतनन्दन बाबू कहते थे—जाड़ों में, छुट्टियों में दिल्ली आऊंगा तो तुम्हारे ही घर पर रुकूंगा।...भारतनन्दन बाबू बहुत अच्छे हैं। ठुल कका को बड़-बौज्यू कहकर पुकारते हैं।"

रेल के इंजन की तरह, चन्द्रा बल्लभ भक्-भक् बीड़ी फूंकता रहा।

केतकी के ब्लाउज में एक छोटा-सा पेन लगा था। चन्द्रा बल्लभ ने यों ही पूछा—"यह कहां से आया?"

"मेरा है!" खिल-खिल हंसती केतकी बोली—"गुसाईं राम मास्टरजी ने इनाम में दिया है। कहते थे—इससे जो भी लिखता है, पास हो जाता है। मैंने भी इसी से लिखा था, तभी तो पास हुई!"

ठुल कका पूरे छः दिन रुके—आज जाता हूं, कल जाता हूं करके अपने लिए बास्कट का कपड़ा, छतरी और चन्दर की काकी के लिए बारह गज किरेप का कपड़ा ले जाना भी न भूले। पूरा फेरीवालों का-सा गट्ठर बनाकर चलने की तैयारी करने लगे।

"हां हो चन्द्रा, यहां अल्मोड़ा के हमारे तिवाड़ी वकील साहब के लड़के भी रहते हैं। सुना अफसर हैं। उनकी सोहबत में रहा कर यार..।"

"...।"

फिर कुछ रुककर सोचते हुए बोले—"गांव में रैंजर ने जुलुम मचा रखा है हो। लोग कहते हैं तेरी दिल्ली में बड़ी पहुंच है। हो सके तो उसका भी कुछ बन्दोबस्त करवा देना हो...।"

चन्द्रा वल्लभ 'बन्दोबस्त' करवाएगा या बन्दोवस्त नही करवाएगा–कुछ नही कहता।

ठुल कका को कुतुबमीनार, विरला-मन्दिर सवके दर्शन कराके चन्द्रा वल्लभ बडे स्टेशन तक छोडने जाता हे। जाते-जाते भी कका कर्त्तव्य का बोध कराते रहते है–

"..केति, दुरली ओर आनन्दी का भार तेरे ऊपर हे। उनके लिए वर की तलाश करते रहना।. घर-खरचा भजना हो। अपनी काकी के लिए खासी की एक बोतल और मेरे लिए जाडो मे पहनने के लिए एक काली ऊनी वास्कट ।"

जव तक रोशनी हरी न हुई, सीटी न बजी, खुट-खुट पहिए न घूमने लगे, कका प्रवचन देते रहे–"चन्द्रा वल्लभ, हो सक तो केति को कुछ ओर पढा-लिखा देना। उसका जनम सुधर जाएगा। तुम्हारे पडोस का लडका वडा होनहार हे–बीए ऐमे तक पढ़ा लिखा। कहता था, 'केतकी को मे पढा दूगा।' मे पढाने की वात पक्की कर आया हू ।"

चन्द्रा वल्लभ घर लोटने लगा तो उसक पाव कापने लगे–न जाने उसके कानो मे फुसफुसाकर गोबिन्दी आज कोन-सी नई वात कहेगी।



आदमी : जमाने का

पूरे तीस वर्ष की सरकारी नौकरी के बाद, सरकारी तौर पर बेकार घोषित होकर यानी कि संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर, बाल-बच्चों की छोटी बटालियन के साथ गांव लौटा तो घुग्घू बाबू के दर्शन सबसे पहले हुए। उन्होंने पहले ही पत्र भेजकर सूचित कर दिया था कि चूंकि मैं उनका पुराना ज़िगरी दोस्त हूं परदेस से घर लौट रहा हूं और उनकी देश-सेवा के बुरे-भले हर काम में, हर तरह का तहेदिल से साथ देने का वादा कर चुका हूं—अतः वे मेरे स्वागत में खड़े रहेंगे। यही हुआ भी। प्रारम्भिक पाठशाला के आठ-दस अबोध बच्चों को लिए, लाठी में फटा-पुराना झण्डा लटकाए, बस के अड्डे पर बैठे थे। छोटे-मोटे हाथ हवा में उछालते हुए, फटे बांस की तरह गला फाड़ते हुए—'मिसिरॉजी जिन्दाबाद' का गगनभेदी नारा लगाते हुए उन्हें देखा तो हैरान रह गया।

हृदय गद्‌गद् हो उठा। पलकें गीली हो गई। कसकर उन्होंने मुझे अपने सीने से लगा लिया। मेरे दोनों घुटनों को अपने सीने से कसकर जकड़े थे—जैसे बच्चा मचल रहा हो। सम्भवतः इससे ऊपर वे पहुंच भी तो नहीं सकते थे।

मैं कोई राजनेता नहीं, महान शास्त्र-वेत्ता नहीं, वनस्पति-विज्ञान का एक साधारण-सा गरीब अध्यापक। फिर घुग्घू बाबू की यह दरियादिली नहीं तो और क्या थी।

लम्बे सफर की लम्बी थकान के कारण लेटा था। कुछ बहुत जरूरी कामों में मन उलझा था। तभी गांव-गिराम के आठ-दस 'भले' आदमी उन्हें घेरकर आ खड़े हुए।

मन मारकर उठना पड़ा। श्रीमतीजी से चाय बनाने को कहा।

गरम चाय से जली जीभ की नोक खिसियाकर इधर-उधर सरकाते हुए सब

सज्जनों की अब तक भिंची, तालू पर चिपकी जुबान अब चर्खी की तरह चलने लगी—घुग्घू बाबू के परसाद इलाका चमक उठा मिसिरॉजी। गधेरे का पानी रुकवा कर शरम-दान से सागर बना डाला । पूरा पिचास हाथ लम्बा, यही कोई ब्यालीस हाथ चौड़ा—तलाऊं समन्दर हे! समन्दर! भैंस भी डूब जाती है। ऊधमी बच्चों को उधर जाने की मनाही है। वैसे औरत-जात भी उधर जाने से डरती हैं। घुटने-घुटने तक जाकर ही लौट आती हैं।

—कन्या-रतन पाठशाला भी इन्हीं की बदौलत है! इन्हीं की! एक ने उंगली खड़ी कर कहा—नहीं तो सरकार भला कहां पूछे! अफसर-हाकम से लड़-झगड़कर रातों-रात इमारत खड़ी कर दी। पर मुई दीवार बरसात से पहले ही लोट गई। भगवान का सुकर समझो। अगर जो कहीं भरपूर बरसात में गिरती तो राम जाने क्या होता! गांव में एक भी बच्चा बीज के लिए नहीं बचता। केवल हरेराम काका की एक आनसिन गधी लड़की को चोट आई—केवल टांग टूटी। उसे लोग उसी समय हस्पताल ले गए। घुग्घू बाबू वहां तो जा न पाए, लेकिन अभागन अपने खोटे करम के कारन जब बची नहीं, मर गई तो अपने कन्धे पर उठाकर सबसे आगे लगकर इन्होंने ही मशान तक उसे पहुंचाया। अपने हाथों आग दी। अपनी कोख की कन्या की तरह जलाया।

—जो कोई गांव में बीमार होता है, वैद के साथ-साथ ब्राह्मण भी बुला लाते हें—घुग्घू बाबू! साढे तीन हाथ कपड़ा हर घड़ी घर पर धरा रहता है। कौन जाने कब जरूरत आ टपके। आखिर दाने-सयाने हैं न।

—अखबार-कागज़ वाले कहते हैं कि शरम-दान से सवा तीन मील लम्बी सड़क, देश में पहले-पहल इन्होंने ही बनवाई थी—मिसिरॉजी! आप तो दो आंख वाले हैं। देखते होंगे। कहते हैं उससे खुश होकर सरकार-दरबार ने इलाके की भलाई के लिए हजारों रुपए की मदद दी। उससे घुग्घू बाबू ने यों लम्बा-चौड़ा बगीचा, नो पानी की डिग्गियां (पत्थर की छत से छंही, चारों ओर से बन्द पक्की बावड़ियां) और एक 'गांधी पंचाइत-घर' का निरमान किया।

घुग्घू बाबू के बारे में जब-तब कुछ सुनता रहता था, लेकिन रचनात्मक कार्यो में विनोबाजी की तरह इतनी गहरी पैठ होगी, इसका अनुमान न था। पाठशाला की इमारत गिर गई।—इसमें उन बेचारों का क्या दोष! साधनों की कमी होगी! बड़े-बड़े 'हाथी-छाप' बांध बनाने की उनकी क्या वो! इतना भी किया तो कम है! ढोर-डंगरों को तो पानी मिल ही जाता होगा! बगीचा! पंचायत-घर। मन-ही-मन एक गरीब अध्यापक ने घुग्घू बाबू जैसे परोपकारी पुरुष को प्रणाम किया।

एक के बाद एक, 'पंच वर्षीय योजना' के आंकड़ों की कागज़ी घुड़-दौड़ की तरह बातों का सिलसिला भी बढ़ता रहा। सबके कहने का तात्पर्य यही था कि—चूंकि अब मैं बाहर की विघ्न-बाधाओं से बचकर, परमेसर और रेल की कृपा से सकुशल, सुरक्षित घर लौटा हूं, इसलिए मुझे उनके काम में सहयोग देकर यश का भागी बनना चाहिए। यह मेरा सौभाग्य है कि मैं उनका बचपन का मित्र और अब पड़ोसी हूं।

बातों के इस क्रम में आगे मालूम हुआ कि कल जो इलाके के महामान्य डिप्टी कमिश्नर—श्री जमील साहब दौरे पर पधारने वाले हैं उन्होंने कार्यक्रम में बगीचा, पंचायत-घर आदि का निरीक्षण भी रखा है। जमील साहब चूंकि मेरे पुराने सहपाठी हैं, अभी तक वे मुझे भूले नहीं हैं—अतः वे हर घड़ी मुझे अपने साथ रखेंगे इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि घुग्घू बाबू की सहायता कर, गांव की तरक्की की दो बातें उनके कानों तक भी पहुंचाऊं।

मुझे क्या आपत्ति!

वे चले गए तो मैं श्रीमतीजी से बोला कि उनके सामने बैठे इस ठूंठ किताबी-कीड़े से तो घुग्घू बाबू हजार भले हैं। इलाका रौशन कर दिया। अपना नाम रौशन कर दिया। क्या है! अपना पेट तो हर कोई भरता हे!

सांझ के समय हम इन्हीं बातों में तल्लीन थे कि देखा--घुग्घू बाबू घबराए हुए बेतहाशा भागे आ रहे हैं, दुम-कटे खरगोश की तरह।...जमीन पर घिसटता हुआ पाजामा लेकर, लम्बे कानों पर लटकती टोपी संभालकर।

"मिसिरॉजी, मैं आप ही के पास आया हूं।" अपनी पुरानी आदत के अनुसार नाक से बोलते हुए उन्होंने कहा। यों ही चार-छः बार, दो अंगुलियों के बीच नाक की नोक झटके से दबाकर बार-बार साफ की...सीं! सीं! कर ...फिर मेरा मुंह ताकते रहे।

लपककर मैं स्वागत के लिए आगे बढ़ा तो—"नहीं! नहीं! हम गोबर के कीड़ों के लिए इत्ती-सी जगह बहुत है—मिसिरॉजी!" नाक पर अकारण दो-तीन बार फिर हाथ फेरा और पाल्थी मारकर फर्श पर ही गड़े खूंटे की तरह जम गए। मेरे करोड़ मना करने पर भी माने नहीं।

उन्होंने मुझे सूचित किया कि मैं उनका गहरा दोस्त हूं। वे मुझे 'अपना' समझते हैं। इसी कारण मुझसे कुछ 'निजू' बातें करना चाहते हैं। अतः बच्चों को बाहर भेज दिया जाय।

किसी तरह नटखट बच्चों को बाहर धकेला तो उन्होंने इधर-उधर देखा—श्रीमतीजी की ओर तिरछे अंगूठे से इशारा किया। वे भी बाहर चली गईं।

फिर दरवाजे बन्द करने का आदेश हुआ, वह भी पूरा किया। अन्त में बोले—कुण्डा मज़बूती से चढ़ा दिया जाय और लालटेन बुझा दी जाय।...क्योंकि उनके स्वर्गीय दादाजी कहा करते थे कि दीवार के भी कान होने हैं और कम्बख्त दरवाजे भी देखा करते हैं।

वह भी यन्त्र की तरह हुआ तो हुक्म हुआ कि अव मैं बेठ जाऊं।

मैं कुर्सी पर बैठ गया। उन्होंने अंधेरे में मेरे पांव टटोले। जिन्हें मैंने पीछे हटा लिया। पास ही कुर्सी के नीचे पांवों के पास मेरे बरसाती लम्वे गम-बूट पड़े थे। वे आपे से वाहर थे। उन्हीं पर माथा टिकाए, अधीर होकर फूट पड़े।

बोले—में उनका एकमात्र मित्र हूं। वे गले-गले तक डूब गए हैं। मेरा परम-धर्म है कि में उन्हें तिनके का सहारा दूं। सुदामा श्रीकृष्ण के दरबार में बिना मुट्ठी-भर चावल लिए, रीते हाथ आया है। आज प्राणों की भीख मांग रहा है।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। हज़ार बार मेरे पूछने पर भी वे कुछ वतलाने को राजी न थे। केवल वरबस आंसू ढुलकाए जा रहे थे।

मैं उठकर उन्हें फर्श पर से उठाने लगा कि उन्होंने कसकर मेरे दोनों पांव जमूरे की तरह जकड़ लिए। रुंधे कण्ठ से बोले कि मैं वचन दूं कि मैं उनकी वात मानूंगा ओर किसी से कुछ नहीं कहूंगा।

गोपनीयता के लिए मुझसे मेरे दुधमुंहे बच्चों की, रुग्णा धर्म-पत्नी की, दिवंगत पूज्य पिताजी की ओर मेरे अनेक इष्ट-मित्रों की, जिनसे उनका कोई लेना-देना न था, बार-बार कसमें दिलाकर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

"जमील साहव आपके दोस्त हें न?"

"जी हां।"

"तो कल वे हमारे ग्राम-सभा के सहकारी-वगीचे में आएंगे न?"

मैंने सिर हिलाया।

"तो आपको वे अपने साथ रखेंगे न?"

"शायद!"

"तो आप चुप रहिएगा। बाकी हम देख लेंगे।"

"क्या? क्या?" अनायास मैंने उनकी ओर देखा।

"बस, आप चुप रहिए। अधिक पूछें तो गांव की तरक्की के दो शब्द कहिए। नहीं तो होंठ सिए बैठे रहिए। बस, बाकी हम खुद देख लेंगे।"

"घुग्घू बाबू!" परेशान होकर मैंने कहा—"अपना दिमाग बोदा है। बात समझा नहीं। आखिर आप क्या देख लेने को कहते हैं? बात क्या है?"

"बात भी कुछ हुआ करती है, मिसिरॉजी! आप भी निरे नादां हैं!" उन्होंने मुझ नासमझ की ओर देखा। कुछ ठहरकर तनिक दूसरे स्वर में बोले—"क्या कहूं! किससे कहूं! इन दो-पाए मूरख मृगों का हाल।" एक हाथ से उन्होंने अपना बन्दर का-सा दो अंगुल चौड़ा माथा थामा—"बस, ये मेरे प्राणों पर उतर आए हैं, मिसिरॉजी! मेरी खाल खींचने को आमादा हैं। इन्होंने मेरी तबाही रच दी हैं। कहीं का भी नहीं रख छोड़ा। बतलाइए। चुप क्यों हैं! आप ही बतलाइए न! मैं क्या करूं! कहो तो ज़हर खाकर कूंच कर दूं...!"

मैं हैरत से उनकी ओर देखता रहा। भला मैं कैसे कहने लगा कि वे ज़हर खाकर कूंच कर जाएं या न करें!

"आखिर क्या हो गया ऐसा?" मैंने जिज्ञासा से फिर प्रश्न किया।

"बात भी कुछ हुआ करती है मिसिरॉजी!" झुंझलाकर उन्होंने वही पुराना भरत-वाक्य फिर दुहराया इस बार—"आप देख तो रहे हैं! कितनी मुसीबत में हूं! फिर मुझसे पूछकर, जान-बूझकर मेरी दोनों आंखों में अंगुलियां डाल रहे हैं।"

मुझे कुछ कहते न बना। मैं उनकी ओर ताकता रहा।

वे धीरे-से बुदबुदाए, हाथ नचाकर। अपना दीर्घकालीन सम्भाषण शंका के समाधान में उन्होंने प्रस्तुत किया। जिसका संक्षिप्त सार यह है कि उन्होंने सहकारी-फलोद्यान के लिए अपनी जमीन दी, अपना सर्वस्व लुटाया, लेकिन गांव वालों ने सब स्वाहा कर डाला। उनके विरुद्ध सबने 'षड्यन्त्र' रचा—अकेला समझकर।...और उनका 'मेरे' अलावा अब कोई भी नहीं है।

"कितने पेड़ लगवाए थे?"

"यह भी कोई पूछने की बात है मिसिरॉजी! नाग-पंचमी के दिन परमेसर का नाम लेकर पहले सवा-इक्कीस पेड़ लगाए—लेकिन मेरी अशोक-वाटिका, इन मुए रावणों ने चौपट कर दी। कह दिया—मेरी गैया ने खाए थे। मैंने उखेड़कर किसी और को बेच दिए थे, वे क्या जानें! आगे फिर कैसे साहस करता! फलों के पौधों को यों नुचवाने में भगवान भी क्या कहते! इसलिए चुप रहा...।"

उन्होंने आगे बतलाया कि उनकी जगह मैं होता तो क्या करता! लाख दुष्टों के बीच अकेला भला आदमी कर ही क्या सकता है!

"तो अब क्या होगा? आपने तो कहा था—पांच सौ पेड़ लग गए हैं!" मेरे ओंठ खुल आए।

उन्होंने सोचते हुए कहा कि वे इसीलिए तो मेरे पास आए हैं। अगर मैं कहूं तो वे फलों की तीन-चार सौ टहनियां तुड़वा लें और जमीन पर गाड़ दें।...यह काम तो आसानी से निकल सकता है, लेकिन परेशानी ससुरी कुछ और है...।"

"सो क्या?"

मेरे अनेक बार पूछने पर उन्होंने बतलाया कि पानी की डिग्गियों में पानी नहीं आता।

"तो बनाई क्यों थीं?"

उन्होंने बतलाया कि प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए। एक बार पानी के सम्बन्ध में गांव वालों से झगड़ते समय उन्होंने कहा था कि यदि गांव में नौ डिग्गियां न खड़ी कर दें तो अपने बाप की औलाद नहीं। सो अपने बाप की औलाद बनने के लिए...। आगे बोले, अगर मैं कहूं तो वे उनमें रात को ही बाल्टियों से पानी भरवा लेंगे। 'गांधी पंचायत-घर' से अपने बच्चों को अभी उठा लेंगे। भैंस आंगन में बंधी रहने देंगे। यदि मैं कहूं तो वे साहब से कह देंगे कि ग्राम-सभा की सहकारी भैंस है। गरीब बच्चों को मुफ्त दूध बंटता है।

वे कहते रहे, लेकिन मेरे मन में नाना प्रकार के नाग लोटते रहे। मैंने शंका उठाई—"सुना है वे सुबह इन्सपेक्शन करेंगे। टहनियां पहचानी गई तो!"

"नहीं, नहीं!" उन्होंने झटके से सिर हिलाया—"साहब कल सुबह के बजाय रात को ही तशरीफ लाएंगे। हम सब ठीक कर लेंगे। हमने पानी के पापड़ नहीं बेले हैं।"

यह सुनकर मेरा मन कांप आया। इस सबके लिए मैं तैयार न था।

"यह गोरख-धन्धा अपने वश का नहीं, घुग्घू बाबू!" अपने सीने पर पत्थर धरकर किसी तरह मैंने कहा—"अच्छा है आप कमिश्नर साहब के सामने अपना अपराध मान लें। बाकी छूट मैं दिलवा दूंगा और...।"

"अपराध!" फुंफकारकर उन्होंने देखा। मेरा अधूरा वाक्य बीच में ही काट डाला—"ये आप क्या कह रहे हैं, मिसिरोंजी!" अपनी छटांक-भर की छाती उन्होंने ठोंकी—"आपका भेजा फिर गया है। मुझ जैसे आदमी से ऐसा कहकर भगवान की मूरत के मुख पर आपने गोबर पोत डाला है।" उनका स्वर भर आया।

मैं चुप था। वे पैंतरा बदलकर फिर पांवों पर लिपट पड़े। बोले—"इसे अपराध न कहो, मिसिरोंजी! यह तो भूल है। गलती है। फिर आप सोचिए—मैंने देश के लिए कितना कुछ नहीं किया! फिर पंचायत-घर में मैंने सिर टिका लिया तो कौन-सा अपराध किया! पंचायती-भैंस का दो बूंद दूध कभी-कदास मेरे बच्चों के गले भी उतर गया तो कौन-सा अपराध हुआ! लोगों ने चांदी कर ली। घर भर लिए। मैंने दो जून खाने का सामान जुटा लिया तो कौन-सा अपराध कर डाला!..."

"लेकिन घुग्घू बाबू मेरा मन इस सबके लिए तैयार नहीं...।" कहकर मैं

दरवाजे की ओर लपका। वे बाज़ की तरह मेरी ओर झपटे। पर उससे पहले ही मैं किवाड़ खोलकर निकल गया।

सुना कुछ देर तक वे भौंचक्के आंखें फाड़े देखते रहे। फिर बड़बड़ाते हुए, गाली देते हुए चले गए। सुना अपने आंगन की मुंडेर पर खड़े, हाथ हिला-हिलाकर कहते थे—मैंने देस में रण्डियों का व्यापार किया। उन्होंने अपनी आंखों से देखा। मैं दुराचारी हूं, दगाबाज़ हूं, उचक्का हूं। अब गांव में क्या आया, गांव तबाह हो गया!

मैंने सुनी की अनसुनी कर दी।

रात को बिछौने पर लेटा ही था कि देखता हूं दरवाज़े पर दरजन-भर बच्चों के साथ एक महिला खड़ी हैं—कह रही हैं कि वे मेरी भाभी हैं।...मुझे वे अपने बड़े भाई से ज्यादा समझती हैं। लेकिन मैं उनकी मांग का सिंदूर पोंछने पर तुला हूं। यदि वे विधवा हो गई और मेरे बड़े भाई साहब गुजर गए तो मुझे ही उनके घर का भार उठाना होगा। चार जवान कन्याएं देहरी पर बैठी हैं—दहेज ...दामाद...सब मेरे मत्थे!

मैं अपने मां-बाप का इकलौता हूं। मेरे कोई छोटे-बड़े भाई नहीं। इस चिरन्तन सत्य के बाद भी मुझे कहना पड़ा कि अपने बड़े भाई साहब से मुझे पूरी हमदर्दी है। और मैं अपनी भाभी का सिंदूर पोंछना नहीं चाहता।

मेरे इस कथन के बावजूद मेरी भाभी कहती रहीं कि अपने बड़े भाई साहब पर मैंने न जाने कौन-सा टोना चला दिया है, न जाने क्या खिला दिया है। जब से वे मेरे घर से गए हैं, आपे से बाहर हैं। पागलों का जैसा हाल कर रहे हैं। ज़हर की शीशी बगल में दबाए जंगल की ओर भाग रहे थे। वह तो लोगों ने समय पर पकड़ लिया, नहीं तो परमेसर जाने क्या हाल होता!

मेरी भाभी रोने लगीं। मेरे दरजन-भर भतीजे-भतीजियां उनके सुर में सुर मिलाकर रोने लगे! मेरे होश हिरन हो गए। घर-भर के लोग जाग पड़े। श्रीमतीजी अपने कपाल पर दुहत्ती मारकर बरस पड़ीं कि मैं कितना हृदयहीन हूं! अकारण इन गरीबों को अपने घर पर बुलाकर दुःख दे रहा हूं—जो उनसे देखा नहीं जाता।

अपनी भाभी का रोना किसी तरह शांत किया। बच्चों को चुप कराया।

"आखिर वे चाहते क्या हैं?" हताश होकर, अपनी गंजी खोपड़ी का पसीना पोंछते हुए मैंने पूछा।

"यह तो आपको ही मालूम होगा।" हिचकियां भरते हुए उन्होंने कहा कि उन्हें साफ-साफ मालूम नहीं। वे तो इत्ता ही कहते हैं कि उनका छोटा भाई होते हुए भी मैं उनकी आज्ञा नहीं मानता। वे तो मेरा भला चाहते हैं। लेकिन कृतघ्नता

मेरी ही ओर से है। वे तो इत्ता ही कहते हैं कि मैं कल साहब के साथ रहूं। चुप रहूं। वे जो पूछें--'हां' 'न' में ही उसका उत्तर दूं बस! इस बात का वचन वे पहले भी चिट्ठी भेजकर ले चुके हैं कि उनका मैं हर तरह से साथ निभाऊंगा। सो अब मौके पर प्रतिज्ञा भंग कर मैं मुकर रहा हूं।

क्या करता! इस आधी रात में यह तमाशा! पिण्ड छुटाने के लिए मैंने 'हां' कह दी ओर विदा किया।

सुवह पौ फटने से पहले ही दरवाजा खटका।

अब घुग्घू बाबू सामने खड़े थे। गिलहरी की तरह मेरे पांवों पर लोटते हुए बोले---कि मैंने इस कलयुग में भी कृष्ण-सुदामा की मित्रता निभाई है। मैं उनका पूर्वजन्म का सगा भाई हूं, अब...!

वे कुछ देर बैठे रहे। जाते समय वे कह गए कि यदि मैं कहूं तो इसी खुशी में साहब का खाना मेरे ही घर पर बनेगा। क्योंकि वे (साहब) मेरे पुराने सहपाठी हैं। चपरासी से उन्होंने साहब को कहला भेजा हे। ओर मेरे कहने पर स्वयं उन्हें (घुग्घू बाबू को) भी मेरे घर पर भोजन पाने में आपत्ति न होगी।

मैं उनकी सूरत देखता रहा।

दोपहर ढल गई। श्रीमतीजी भोजन तेयार किए ऊंघती रहीं। लेकिन साहब के आने के कोई भी आसार दीखते न थे।

मालूम हुआ कि साहब का गधा जेसा सीधा घोड़ा, जिन्दगी में पहली बार खूंटा तुड़ाकर जंगल में भाग गया हे। डिप्टी कलक्टर, पटवारी, पेशकार, तहसीलदार सब जंगल का पत्ता-पत्ता छान रहे हैं। अतः वे अब सांझ को ही पधारेंगे।

सांझ ढले वे आए तो घुग्घू बाबू ने गांव-भर के बच्चों की कवायद करवा डाली---कमिश्नर साब की जे!...गांधीजी की जे!...नेता की जै!...के गूंजते नारों से सूनी घाटियां गुलजार हो गई। जंगल के जानवर विदकने लगे। तिरंगे द्वार, सजी झण्डियां! साहब को पूरी तरह फूलों से लाद दिया गया था।

इतना स्वागत-सत्कार देखकर साहब हैरत में थे। निरीक्षण के समय वे विभोर होकर चारों ओर देखने लगे। जैसे खोता नाव पर चढ़कर पानी की लहरों की ओर कुतूहल से निहार रहा हो!

लाल फीता काटते हुए बोले--"मिस्टर मिश्रा, आप तो बाटॉनी पढ़े हैं। बतलाइए जरा, ये पौधे कब फल देंगे?" उन्होंने चिकनी पत्ती सहलाई।

घुग्घू बाबू के प्राण कांप आए। कहीं पौधा जड़ से ही उखड़ जाता तो!

साहब ने मेरी ओर देखा तो कहना पड़ा--"यही चौथे-पांचवें साल।"

"इतने ही पौधे सब लगाएं तो मिस्टर मिश्रा, क्या हमारे पहाड़ स्विट्ज़रलैंड नहीं बन सकते! फॉरेन एक्सचेन्ज की शार्टेज दूर नहीं हो सकती! अन-एम्पलायमेण्ट का प्राब्लम साल्व नहीं हो सकता?"

मैंने मौन सहमति दी।

बगीचे के दो द्वार थे। एक उत्तर का दयानन्द-द्वार और दूसरा दक्षिण का शिवानन्द-द्वार।

कमिश्नर साहब ने इसमें संशोधन रखा। बोले—"नार्थ का 'उत्तर-द्वार' और साउथ का 'दक्षिण-द्वार' होना चाहिए। इससे नेशनल-इन्टिग्रेशन को मजबूती मिलती है। क्यों मिश्रा?"

मैं चुप सिर हिलाता रहा। बाप की कसम जो खा बैठा था कि जुबान खोलूंगा नहीं।

शंखनाद के साथ डिग्गियों की टूंटियां खुलीं। छल-छल पानी आया। कमिश्नर साहब मुग्ध भाव से देखते रहे। एक ही गांव में एक साथ पानी की नौ-दस डिग्गियां! नेशन कितनी तरक्की पर है। यह सब उनकी 'फाइव इयर प्लान' की वजह से है। साहब अपने आप बुदबुदाते रहे। बड़बडाते रहे। घूमते रहे। झूमते रहे।

'गांधी पंचायत-घर' का उद्घाटन दीपक जलाकर हुआ। बच्चों ने मास्टरजी के साथ रोज की, पाठशाला की, प्रार्थना दुहराई—उठ जाग मुसाफिर भोर भई...

इस पर दूर खड़े किसी कम अक्ल, नासमझ ने ऐतराज किया कि यह रात का समय है!

इस पर दखल देते हुए साहब बोले—"नहीं! नहीं। यही चलना मांगेगा। यही! 'उठ जाग मुसाफिर' मार्निंग-सांग नहीं है। यह तो नेशनल अवेकनिंग है। खैर...!"

फिर वन्देमातरम् का गम्भीर गीत भी गूंजा।

'भैंस की स्कीम' साहब को बेहद पसन्द आई। अपने हाथों उन्होंने गरीब बच्चों को दूध बांटा और नेशनल हैल्थ के बारे में भी कहा।

लोग खुश थे। बच्चे तालियां पीट रहे थे। लेकिन मेरा माथा फटा जा रहा था। मुझसे खड़ा रहा न जा सका। अतः साहब से क्षमा-याचना कर, घर आकर किवाड़ मूंदकर लेट गया।

मालूम हुआ कि रात को लगातार बरखा की बौछारों के बावजूद तीन घण्टे तक भाषणों का दौर चलता रहा। बेचारे फटे-हाल गांव के गरीब लोग भीगते रहे। पल्ले कुछ न पड़ा। केवल वक्ता के मुंह की ओर ताकते रहे। सबने ताली

पीटी तो चट्-चट् ताली पीट देते।

घुग्घू बाबू को साहब ने ज़माने का आदमी बतलाया और उनके आदर्श चरित्र के अनुकरण की बच्चों को विशेष रूप से सलाह दी और कहा कि आने वाली पीढ़ियां उनका नाम श्रद्धा से लेंगी। क्योंकि मरकर भी जो मरते नहीं, अमर रहते हैं, उन बुनियादी सच्चे जन-सेवकों में से हैं वे।

फिर घुग्घू बाबू का भाषण हुआ। उन्होंने कमिश्नर साहब को देश के प्रमुख आदर्श प्रशासकों की श्रेणी में रखा और उनकी कार्य-कुशलता अनुकरणीय बतलाई। उनके कर्मठ जीवन से प्रेरणा लेने की बात कही।...फिर आंखें मूंदकर गांव की गरीबी का वर्णन किया। इतना मर्मस्पर्शी, करुण कि साहब की पलकें भीग आईं। घुग्घू बाबू ने अन्त में दोनों हाथ पसारकर, सरकारी सहायता के लिए झोली फैला दी।

दूसरे दिन उठा नहीं कि श्रीमतीजी ने झकझोरा। कहा कि मैं हमेशा का लापरवाह हूं। उनकी बात सुनता नहीं। सुना, घुग्घू बाबू की स्कीमों के लिए साहब ने पन्द्रह हजार की सहायता दिलवाने का वचन दिया है। घुग्घू बाबू के लड़कों को नौकरी दिलाने का आश्वासन भी मिला है। सुना है जाते समय नकद इनाम में सौ रुपए उनके हाथ में धर गए।...चारों ओर घुग्घू बाबू की वाहवाही हो रही है। और मैंने तो ज़िन्दगी यों ही बेकार की। व्यर्थ का वनस्पति-विज्ञान लेकर न जाने कहां-कहां घास खोदता रहा...।



अन्ततः

बावला है बिरजू। निरा बावला। जब से गोसाई बाबा गए, बूढ़ी बिनिया ने अपने मुंह के टुकड़े से पाला-पोसा। पर टूटे करम की रेख मिट न पाई। बरम-देवता की धूनी पर जा उसने कम मान-मनोती न की। तीरथ-बरत के लिए टका कहां! लेकिन ऐसा कोई दिन नहीं, छिन नहीं, जब उसने हरजी के थान में जा अपनी विपदा न सुनाई । परमेसर तो सबकी सुनते हैं। पर उसी के भाग फूटे—तो क्या!

सबके लड़के लो-लगन से मिहनत-मज़दूरी करते हैं। रूखा-सूखा कुछ तो पेट को मिलना ही है। किन्तु बिनियां का बिरजू कुछ नहीं करता। दिन-भर टाला फिरता है। कहीं कूड़े के ढेर से जली-बुझी बीड़ों के टुकड़े बटोर लिए। किसी के फटे-पुराने से तन ढांप लिया। जूठा-मूठा कहीं कुछ मिल गया तो ठूंस लिया। नहीं तो राम का नाम भज, फटी चदरिया तान ली।

बुढ़ापे के भार से बिनियां की कमर झुक आई। बाल सन की तरह सफेद हो गए। मुरझाए मुखड़े पर अनगिनत रेखाएं घिर गईं। आंखों की जोत भी अब उतरती न रही। फिर भी दिन-रात मिट्टी से सनी रहती। बरखा-घाम, सांझ-सकार की कुछ भी परख न थी उसे। दुधमुंहे, अनाथ छेवते, खांव-खांव कर घर आते ही चिपट जाते। बिरजू झाड़-पोंछकर सब दिन में ही साफ किए रहता। सबके घर दिन में दो बार चूल्हे जलते हैं, पर अभागी बिनियां अपनी रीती हंडिया में क्या उबाले। उपलों की आंच में क्या सेंके! चूल्हा तो रोज ही जलता, लेकिन अधिकतर केवल धुएं का गुबार उमड़कर रह जाता।

'फूल डोल' के मेले में इस बरस नौटंकी आई है। किसन महाराज की

लीला है।...गांव-भर के छोटे-बड़े सभी छोकरों में दिनों से सूं-सां हो रही थी। अन्त में जब सच ही दसमी का दिन आया, सच ही सब मेले गए तो बिरजू भी अपने को जाने से रोक न पाया। वह भी पीछे-पीछे चल पड़ा। सभी ने दो पेसे, आने, दो आने के टिकट खरीदे। ठाठ से नौटंकी-घर के अन्दर घुसे। पर बिरजू के पास पेसे कहां! टिकट कहां! फिर उसे अन्दर जाने भी कोन देता? अतः द्वार पर ही झिड़ककर उसे परे धकेल दिया।

गेस-बत्तियों की रोशनी, गाने-बजाने की आवाज, बाहर-भीतर की चमक-दमक उसे बड़ी भली लगी। बहुत रात तक वह टिन की चादरों की ओट से, इधर-उधर से, छेद-सूराखों से ताक-झांक करता रहा।

आधी रात गए, बड़ी मुश्किल से घर लोटा। किसन महाराज की लीला छोड़ने को मन न होता। लेकिन जब कोई जबरदस्ती धकेलकर ले ही चला तो क्या करता!

रास्ते में ही कभी वह एक पांव पर खड़ा होकर बंसुरिया बजाने का स्वांग भरता, कभी रास-लीला का। कभी कहीं पेड़ की लटकती जड़ दीखती, उसी को दोनों हाथों से कसकर जकड़ लेता और नाग-मर्दन की तरह देर तक इधर-उधर हवा में घुमाता रहा। फिर किलकता, उछलता-कूदता, ग्वाल-बालों की तरह चौकड़ी भरता और फिर कभी ठिठक पड़ता। बिरहिन गोपिकाओं की तरह हाथ हवा में उछाल-उछालकर सीने पर पटकता ओर अनायास, अकारण रो पड़ता।

लोग ये करतब देखकर, ठहाका मारकर हसते, लेकिन बिरजू को क्या!

घर लोटकर सोया, पर नींद कहां!

दूसरे दिन भोर उगते ही अम्मा से बोला—"माई, हम भी गेया-बछिया चराएंगे। कनाई महाराज बनेंगे। बस, एक बंसुरिया ला दे। बोल, रोज माखन-मिसरी देगी न!"

"किसकी...गेया चराएगा? घर मा खूंटी भी गड़ी है एक!" खीझती हुई बुढ़िया माई बोली--"माखन-मिसरी ही भाग मा होती तो ये फुटहा करम ले के झुपड़िया मा जनमतो ही काहे को?"

बिरजू चुप बेठने वाला कब था! सुबह उठते ही पड़ोसिन मनियां की गाय-भेंस खोलने लगा तो हाथापाई तक की नौबत आ गई, गाली-गलौज से—"निगोड़े, दाढ़ीजार, अब हींने सीख लिहौ...!" सबने फटकारना शुरू किया।

तब दिन-भर चदरिया कन्धे पर झपकाए सारे गांव का चक्कर काटता रहा। पर इस पागल के हवाले अपने ढोर-डंगर करता कोन! अन्त में अमराई के उस पार नजर पड़ी। देखा—बिसनुवां के दो बैल चर रहे हैं। लाठी लिए उधर बेसुध

ा भागा और उन्हें ही जंगल हांक ले चला।

शाम को ठीक समय पर वापस भी लौट आया। बिसनुवां के आंगन में उन्हें खड़ा कर बोला—"कनाई महाराज खड़ा है, बिसनुवां! देओ माखन-मिसरी!"

बिसनुवां झुपड़िया से बाहर आया। देखा कि बैल आज अघाकर गरगज बने हैं। अचरज से बोला—"बिरजुवा, बैलन को जंगल ले गयासि रे!"

"बिरजुवा बोलत है गंवार!" तुनककर बिरजू बोला, "महाराज कनाई बोल! देओ, माखन-मिसरी! महाराज जात हैं।"

बिसनुवां की बहू किवाड़ के ओट से खड़ी झांक रही थी। गुड़ की डली लाती हुई मुसकराकर बोली—"लेओ, लल्ला! गैया चराय के मिलत है, माखन-मिसरी, बैल चराय के नहीं। अगहन मा परमेसर ने सुनी तो गैया खरीदेंगे, तब मिलेगी महाराज को माखन-मिसरी।"

इतने पर ही बिरजू सन्तुष्ट होकर चला गया। जब-तब यही उसका नेम-नियम हो चला। बिसनुवां के बैल अघाकर हाथी हो गए। एकाध डली गुड़ कनाई महाराज को भी मिलती रही। उसी पर वे मगन रहे। हाथ में निगाले की बांसुरी, माथे पर मोर-पखना, पीठ में काली कमलिया लिए फिरते रहे।

इस साल खबर उड़ी कि हरिनपुरा में रामलीला होगी। सात-आठ दिन तक रहेगी। खूब रौनक-रंग, धूम-धाम मचेगी। तब वह भी अपनी बांसुरिया, मोर-पखना लिए जा धमका। चौधरी चाचा कुमेटी के परधान, करता-धरता थे। अतः उनके पास जा विनती के, किसी हद तक शिकायत-भरे सुर में बोला—"कुमनियां, हरीस को तो राम-लछिमन को पाठ दिहों और कनाई महाराज की कौनो खबर नहिं।"

चौधरी चाचा क्या करते! क्या कहते इस बावरे से! कुछ सोचते हुए, टालते हुए बोले—"रामलीला मा तो राम-लछिमन ही होत हैं, किसन-कनाई नहीं। जब महाराज की लीला होगी तो कनाई का पाठ तुमको ही दिया जाएगा। जाओ, मोर-पखना सम्हालिके धरो। बखत पर काम आवेगा...।"

बिरजू की सहजवुद्धि ने सहज ही इसे भी स्वीकार कर लिया। ठीक ही तो कहते हैं काका! राम-लछिमन की लीला में महाराज का पाठ कहां से आएगा!

लेकिन फिर भी रोज, बिना नागा लीला देखने जाता। सीता-हरन और दसरथ-मरन के दिन तो वह सच ही फूट-फूटकर रोने लगा। भरत की भ्रातृ-भक्ति पर उसकी अगाध आस्था थी। किन्तु उससे भी अधिक प्रभावित था—बजरंग से। अयोध्या की चमक-दमक, जनकपुरी का वैभव-विलास, कुछ भी उसे अपनी ओर खींच न पाया। बस, लम्बी पूंछ वाले राम-भक्त का ही पुजारी बन बैठा

वह। लंका-दहन के दिन तो और भी बावला हो उठा। "बजरंग बली की जै... जै...जै...!" कहता हुआ स्टेज की तरफ आंखें मूंदे लपका तो दो-चार स्वयं सेवकों ने रोक लिया। अनेक तरह से समझाया-बुझाया। नहीं तो न जाने क्या कर बैठता!

दूसरे दिन से वह रोज बजरंग--देवधर दद्दा के घर जाकर बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करता। बजरंग की छाप उसके अबोध हृदय पर ऐसी पड़ी कि मोर-पखना, बांसुरिया, बिसनुवां के बैल सब भूल गया। अपने को ही होने वाली लीला का बजरंग समझने लगा अब।

लोद की टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी की लम्बी पूंछ बना ली। मुगदर पर फटे-पुराने चीथड़े लपेटकर हनुमानजी की गदा भी बन गई। दिन-रात उन्हीं के साज-शृंगार में लगा रहता। जो कोई भी मिलता, उसी से कहता—"येई साल बजरंग जल्दी ही लंका जराय डारेंगे। सीता माई के हरन ते पहले ही रावन-राकस मारि डारेंगे...।'

दिन-भर घूम-फिरकर अन्त में सन्ध्या को घर आता। आते ही चट् पूछता—"माई, आज तू किसके खेत मा काम करने गई?" माई के मुख से कहीं भूल से सुमेर पधान का नाम निकल पड़ता तो उसकी सारी देह फुंक जाती। दांत पीसकर क्रोध से कांपते हुए चिल्लाता वह—"राकसनी हे तू! फिर रावन के खेत मा काहे गई? राम-लछिमन के खेत मा जाओ! भिभीसन-सुगरीव महाराज के खेत मा जाओ। जनक महाराज के खेत मा जाओ।...मुला, रावन के खेत मा गई तो बजरंग तोरी झुपड़िया जराय डारेंगे! कमर तोड़ि डारेंगे...!" वह आवेश में मुगदर घुमाने लगता। लीला के बजरंग की तरह हाथ-पाव नचाना शुरू कर देता।

एक दिन न जाने क्या लहर चढ़ी। परेशान-सा सीधा भगीरथ मुदरिस के घर जा धमका। शायद सारी रात सोया नहीं। आंखों में लाल डोरे साफ झलक रहे थे। लीला के हनुमान की तरह राम को दण्डवत प्रणाम कर, घुटनों के बल खड़ा, दोनों हाथ जोड़ता हुआ बोला—"महाराज, बात तौं बताओ!...बजरंग ने लंका जराई! महाराज अपने हाथों रावन मारिहों! पर रावन तो हम रोज ही देखते हैं महाराज...!"

"कहां?" सहज विस्मय से भगीरथ ने पूछा।

"तिमंजला मा बैठि के तिजारत करत है!" बिरजू उसी रफ्तार से बोला, "गांव को पधान बनत है। आवत बार बुलावत रहा। 'तमाखू खाओ बिरजुआ' बोलत रहा। हम थुक् के धुतकार देहन—'हम बिरजुआ नहीं, बजरंग हैं। हम महाराज के घर जात हैं। रावन, तू देखत का है! तोरी लंकापुरी अबके हम जराय डारेंगे...!"

"हि...स्...स्!" जीभ काटते हुए भगीरथ बोले, "यह क्या? सुमेर पधान का घर जलाने को कहता है! कहीं सुन लिया तो खाल उधेड़ देंगे तेरी। जानता नहीं, महाजन हैं। दो गांव के पधान...। सच, बिरजू, तू बौरा गया है रे!"

सांप की तरह फुंफकारता हुआ बिरजू बोला—"कहत का हो! महाराज होकर डरत हो! तुम राज-पाट करो। हम जराय डारेंगे लंका सारी!"

चुप-चुप कहते हुए भगीरथ उसे चुप कराने लगे। लेकिन दूसरी ओर आग पर घी छूट रहा था—"लीला में तो धनुष लै के रावन मारत हो! यहा चुप-चुप करत हो! महाराज होकर का तुम भी डरत हो?"

"लीला तो लीला है बिरजू! ऐसी बातें नहीं बकते। मेरी मुदर्रिसी खतरे में पड़ जाएगी। तेरा क्या है! तू तो रोज का फिरवा है!...मैं बाल-बच्चों वाला...।"

बिरजू उबल पड़ा—"तो हमें बताओ!...झूठ-मूठ लीला गढ़ देत हो! पण्डित हो के झूटी लीला रचत हो! पाखण्ड करत हो!"

भगीरथ क्या कहें। क्या कह के समझाएं-बुझाए।

"लीला तो लीला है रे। उसकी बात और है बिरजू...! यह तो घर की बात है...।" खिसियाने स्वर में बोले।

"असत् बोलत हो! डरत हो राकस से! झूठ लीला रचत हो! निगोड़ा! रावन मरिके उठत है! जिन्दा होई जात है! तिमंजला मा बैठि तिजारत करत है! ढोंग, गंवई-गवार समझ के हमको ठगत हो! धोखा देत हो! झूठे राम बनत हो!...पहले अब रावन की लंका नहीं, झूठे राम—तोरी अजुध्या जराय डारेंगे।...फूंक डारेंगे दुनिया सारी। चाण्डाल...ठगत हो हमें...!"

आवेश में वह मुगदर नचाता हुआ बाज की तरह झपटा। लोगों ने किसी तरह बीच-बचाव किया और उससे पल्ला छुड़वाया।

हारे सिपाही की तरह हताश, निराश बिरजू घर लौटा। क्रोध से उसका पागलपन आज चरमसीमा पर था। मुगरी उसी समय उसने आग में झोंक दी। पूछ तोड़-मरोड़कर फेंक डाली और चौपाल पर हाथ-पांव पसारे बेसुध लेट गया।

सांझ के समय नींद खुली। जागा। अपनी फटी चदरिया लपेटकर घर पहुंचा। उदास बोला—"माई, इस गांव मा हमारी गुजर नाहीं। सब झूठे दाढ़ीजार बसत हैं हिंया। हम जात हैं..."

उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही बिरजू बाहर निकल पड़ा। कन्धे पर चदरिया, हाथ में लकुटिया लिए उस अंधियारे में न मालूम कहां खो गया! बूढ़ी माई चीखती-चिल्लाती रोती रही, पर बिरजू लौटकर न आया।

महीने बीत गए। बिरजू का कोई पता-पानी न मिला। कोई हरिनपुरा की तरफ, तो कोई देवागर की तरफ बताता। कोई कहता बिरजू अब पूरा पगला हो गया है। कोई कहता बिरजू ने बैराग ले लिया। बिनियां आंचल में सिर गड़ाए फूट-फूटकर अपने फूटे करम को रोती रहती।

मान-मनौती फिर शुरू की। हरजी के थान में जोर से फरियाद पहुंची। लेकिन कहीं कोई आसार झलकते न थे...।

सन्ध्या के समय एक दिन दरवाजे पर आवाज़ सुनाई दी—"मा...ई...!"

हड़बड़ाती हुई वह द्वार की ओर लपकी—"कौन, बि...र...जू!"

दरवाजा खोलकर देखा—दुर्बल हड्डियों का ढांचा खड़ा है। हाथ में लाठी, एक फटा चीथड़ा कमर में लपेटे, दूसरा कन्धे में। बनावटी ऊन की, बकरे की-सी दाढ़ी है। आंखों पर गोल-गोल छल्ले-से पड़े हैं—चश्मे की तरह।

"का—न! हमार बिरजुवा है रे तू।" धुधली आंखों को बुढ़िया ने फिर मला।

"बिरजुवा-हिरजुवा हम नाहिं जानत हैं माई। हम तो दाढ़ी बाबा हैं। ज़मीन मागत हैं, दान मा। धेला-टका मांगत हे।...देओ, जमीन! गाधी महाराज को हुकुम ह...।"

"बिरजू, बिरजू...!" मां लिपट पड़ी, "इत्ते रोज को अब आयो! का सच ही बैराग गयो बिरजू ! रोत-रोत हम अन्धा होइ गइन! अब घर मा बैठो। लोनी-मिनिया करके हम खवावहि बि...र...जू...!"

बिरजू वैसा ही खड़ा रहा। जैसे कुछ भी सुना-समझा न हो। वैसे ही बहके स्वर में बोला—'बिरजुवा-मिरजुवा नही। देओ माई, कुछ तो जमीन देओ!"

"बिरजू जे का कहत हे।" हताश बुढिया ने कहा, "ज़र-जमीन हमरे लगे कोन धरी है! दूसरा के खेत मा काम करत हे। बैठो बिरजुवा। हाड़ दीखत हैं। बीमार भो हे का?"

कुछ भी बोल न पाया वह। देर तक खड़ा रहा। फिर मुड़ता हुआ भीगी आवाज में कहने लगा—"मुलक-मुलक मा जाना है माई! हमरे लगे कहां कोन ठोर धरी है...!"

गांव-गांव, घर-घर यही अब उसका नियम हो चला। सुना था, हरिनपुरा में एक बार जमीन मांगने के लिए एक बाबा आए थे। उनकी बातों का बस, ऐसा रंग चढ़ा कि उस दिन से उन्हीं का चेला बन बैठा। वैसा ही रूप-रंग बनाकर भटकता रहता—घर-घर, द्वार-द्वार, दीन-दुःखियों का मसीहा बनकर अलख जगाता।

एक लम्बे अर्से तक बिरजू की फिर कोई खबर न लगी। बाद में पता

चला कि वह देवागर में बीमार पड़ा है। जमीन मांगने के सिलसिले में झगड़ा हो गया। किसी पुराने जमींदार के खूंखार, मुंहलगे लठैतों ने उस निहत्थे पर लाठी मार दी। शिवाले में वह अधमरा पड़ा है। कोई पानी के लिए भी पूछने वाला नहीं।

अभागिन बुढ़िया क्या करे! सारे पड़ोसियों की देहरी-देहरी जाकर अपना दुखड़ा रोई। किसी तरह गांव की बदनामी या लोक-लाज के डर से रमियां के कक्का, सिब्बन के नाना, पदिया के ताऊ, और पण्डित छबीराम के भानजे माघेराम तैयार हुए। रातों-रात देवागर पहुंचे। देखा--बिरजू अचेत पड़ा है। कपड़े तार-तार फटे हैं। जगह-जगह रिसते घाव हैं। ओठ सूखे हैं। बाल बिखरे। रह-रहकर कराहने की आवाज आ रही है—"देओ...जमीन...देओ... ।...गांधी...महाराज को। बाबा को...जमीन देओ। ज...मी...न...!"

डांडी पर लादकर बिनियां घर लाई। दिन-रात टहल-टुकड़े में लगी रही। दायां हाथ टूट गया था। सारा शरीर जख्मी था। हर क्षण कसकना-दुखता रहना। कितनी जड़ी-बूटी, झाड़-फूंक की, पर दस से नौ न हुई।

सुनिया-धीरू एक दिन मकई भून रहे थे। अभी तक इतनी रात गए नानी लौटी न थी।

"मामा, मकई चबात हो?" भूख से कुलमुलाती सुनियां ने कहा।

देर तक बिरजू देखता रहा। देखता रहा। जैसे किसी दूसरी दुनिया में डूबा हो। फिर कुछ सोचता हुआ बोला--"नाहिं, मकई नाहिं।...झाड़-फूंस सब हिंया बटोर के लाओ।"

सुनियां ने अपनी नन्ही हथेली से समेटकर सब सामने रख दिया। उसमें से भुवा बिरजू ने बटोर लिए। सुतली में गूंधकर दाढ़ी बना ली। फिर कराहता हुआ, वैसे ही अकड़कर बोला—"सुनो, सुनो! बाबा भाखत हैं। सुनो...!"

फटी गुदड़िया के ऊपर अपना दुबला तन रखा। किसी तरह पाल्थी मार ली। चदरिया का फटा टुकड़ा बाबा की तरह कन्धे पर लपेट लिया। खोखला चश्मा दिनों पहले मारपीट में न जाने कहां चला गया था: देर तक सोचता रहा। विधान न बना। अन्त में हार मान ली। वैसे ही बोलना शुरू किया। दोनों बच्चों को निकट ला, हाथ जुड़ा के बिठला दिया।

"मुलक-मुलक मा गरीबी है। भुखमरी है। जमीन जिकरे लगे जादा है, दूसरे गरीबन को दिहो। जर-जमीन सब परमेसर की है। हवा-पानी परमेसर की है। बाबा अपने तांई नाहिं भाखत हैं।...हाथ जोरि, पांव परि के कहत हैं।...देओ...जमीन... धेला-टका देओ... ।"

दोनों बच्चे अवाक् हाथ जोड़े बैठे थे। सब देख-सुन रहे थे, पर समझ में कुछ आ न पाता। पिटाई के डर से दम साधे बैठे थे—हंसी रोके। इतने में खलिहान से नानी लौट आई। दरवाजे पर खड़ी की खड़ी देखती रह गई।

"सुनत नहिं बड़की माई...!...भाखत हैं। हाथ जोरि के बैठो...।" धीरू ने धीरे से तुनककर कहा। बुढ़िया भी ठगी-ठगी-सी, सच ही हाथ जोड़कर बैठ गई।

"...मुलक-मुलक मा चक्कर काटि के आवत हैं।" उसी रफ्तार से बिरजू कहता रहा—"...देओ...! नहीं तो लड़ाई होई!...मारा-मारि होई!....बाबा जुगत देख के कहते हें। जिनके लगे जौन है देओ। बाबा की झोली भर देओ!...पांच पूत तोहके हें। छठा एक हमहिं मान लिहो। हमार हिस्सा हमें देओ।...देओ नां!... बोल-बोल रे, छोरे तू का देत है!...छोरी तू का देत है!...माई!...बोल रि माई, तू का देत है!...बाबा...जात...हैं।...जा...त...हें।"

बिरजू की आवाज़ लड़खड़ा आई, स्वर टूट गया। अपनी टूटी हथेली अपने आगे पसार दी और अचेत होकर गिर पड़ा।

"बिरजू, बिरजू...!" बुढ़िया माई उसकी ओर लपकी--"का होई गवा, बिरजू! जे का कहत है!" गला भर आया बुढ़िया का--"हमरे लगे पांच पूत नहिं। एको तू ही है। तू ही! सब तोर है। ये हि गुदड़ी कम्बल जौन चाहत है, ले जाओ।...सब ले जाओ बिरजू...! सब...स...ब...!"

पर बिरजू ने न सुना, न देखा। सदा के रीत हाथ इस बार भी रीते थे। बुढ़िया सुबक-सुबककर रोती रही। बार-बार उस टूटी हथेली को उलट-पलटकर देखती रही। चूमती रही।

"नाहिं...नाहिं...बिरजू...नाहिं...!" उसने ओस से भीगी गीली माटी मुट्ठी-भर जमीन से उठाई और उस रीती टूटी हथेली में रख दी और माथा टिका दिया।... "बिरजू...!"

पर दूसरी ओर से फिर कोई आवाज न आई।



स्वभाव

हंसी के बाद एक अटपटी-सी शरारत-भरी चीख फूटी...।

"अरि, क्या हुआ मिन्नी?...क्या हुआ...?" बिछोने पर लेटी रुग्णा मालती ने कराहते हुए करवट ली। फिर धूप से बचने की तरह पांचों अंगुलियां कतार में समेटकर माथे पर लगाते हुए, अपनी धुंधली निगाहों से दूर दरवाजे की ओर देखने की चेष्टा की। स्पष्ट कुछ दीखा नहीं। केवल कुछ आहट-सी आई। फिर मुंह भींची दबी हंसी। फिर गुदगुदी लिए मीठी हल्की चीख।

तभी कार के दरवाजे की भांति फट्ट से बाहर के किवाड़ बन्द हुए। जाफरी का काठ का जालीदार दरवाजा थरथराता हुआ कांप आया।

और तभी मिन्नी हांफती हुई सामने आ खड़ी हुई। बाल हवा से उड़ते, इधर-उधर बिखरे, घोंसले की तरह उलझे। लापरवाही से पहने कपड़े अस्त-व्यस्त, आंखों में सांझ के बादलों का-सा आक्रोश, सिन्दूरी चेहरा।...झट अपने जालीदार सलेटी 'दुपट्टे' से मुंह पोंछती हुई तमतमाकर बोली—"भइया बौत बुरे हैं भाभी...!" उसके नथुने फड़क आए। सीना बड़े वेग से उठने-गिरने लगा। झीनी चुनरिया मफलर की तरह गले में डालकर, उसके नीचे झुके दोनों पल्ले खींचकर, आख तरेरकर देखा—"सच्ची, बौत बुरे हैं भाभी! दरवाजे तक देने जो गई क्योंकि निगोड़ी घड़ी रह गई थी, बस लाट साहब की तरह हाथ आगे बढ़ा दिया। अकड़कर, यों ऐंठकर बोले—'चुड़ैल घड़ी बांध!' बांधने लगी तो घड़ी के साथ-साथ हाथ भी पकड़ लिया। फिर सामने की तरफ झुकी चोटी हथेली पर धरकर सूंघने लगे। मैंने कहा—सूंघते क्या हो हजूर, तुम्हारा चमेली का तेल लगाया है! तो 'चुप झूठी' कहकर गाल पर एक चपत जमा दी। फिर 'नागन' कहकर मेरी चोटी पकड़कर जोर-जोर से खींचने लगे। देखो, कहीं बाल उतर जाते तो!!!"

भाभी की बुझी पलकें बड़ी हो आई। जैसे नन्हा किनारा बाढ़ के जल से अनायास विस्तार पा गया हो।

लेकिन मिन्नी उसी गति से कहती चली गई—"मैंने कही तो—!" अंगुली पर तेजी से छल्ले की तरह दुपट्टे का किनारा लपेटती-उफेरती बोली—"कही तो कहने लगे 'गिलैरी बिना पूंछ के भी बुरी न लगे है। क्यों कट्टो।' फिर बिना बात हो...हो...हो...हंसने लगे।...मैंने मुख बिदोरकर गुस्से से देखा तो सच्ची भाभी--'लवली...लवली...।' कहकर चले गए।...देखो न जे भी कोई बात है! घर में भी अंगरेजी बोलते हैं?"

उफनती-उबलती मिन्नी चली गई। भाभी देखती रही। सोचती रही। दो-चार अनबुझे शब्दों पर मन अनायास अटक आया—मांछी के कण्ठ में फंसी कंटिया की तरह।

अभी पाख भी पूरा गुजरा न होगा कि इसी पहले मंगल को, सांझ के बखत सीढ़ियों से ही हो-हल्ला मचाता हुआ जितेन आया था। नीचे आंगन पर से ही आवाज लगाता हुआ, पुकार-पुकारकर कहने लगा था, जैसे किसी बहरी को वियाबान वन में पुकार रहा हो—"अरि ओ, सुनती हो।...देखो, यह क्या पकड़कर लाया हूं जंगल से! तुम्हारे कपाल की कसम, अब बैल बेचकर सो जाओ। घर-वाहर का जुमला काम करेगी। बर्तन-भांडे मांजेगी। कपड़े-लत्ते धोएगी। बुहारी लगाएगी, आंगन पर।...बस आज से महरी का काम ठप्प!" चट्ट से चुटकी बजाते हुए उसने अपनी पुरानी आदत के अनुसार एक आंख तनिक दबाते हुए कहा था—"देखो, क्या है! गिलहरी है!...है न !"

विस्मय से मालती ने देखा—सच ही सामने गिलहरी खड़ी है। जितेन कान पकड़े खड़ा है—

"मत्था टिका भाभी के!"

वह मत्था टिकाने के लिए झुकी तो भाभी 'नहीं-नहीं' कहकर, खिसियाती मुस्करा भर दी। एक उड़ी-उड़ी-सी क्षीण मुस्कान पपड़ी लगे, सूखे स्याह होंठों पर आकर हौले से यों ही बिखर गई। फर्श पर ढुलके स्प्रिट की तरह धीरे-धीरे जो ओझल हो चली।

"कब आई दिल्ली?" भाभी ने चुपके से अपनी तेल से काली गद्दी का काला किनारा ओढ़ी चादर से ढंक दिया। फिर इंच-भर पीछे सरक गई ताकि सामने वाली भी बैठ सके। घर में बाबा आदम के ज़माने की, बिना हत्थे की, बेंत की जगह प्लाइवुड की पाटी से ठुकी एक ही कुर्सी है, जिसके सामने जितेन

खड़ा है।

"इसी पिछले सनीचर को।" तनिक संकोच से आवाज लौटी।

"अरी, खड़ी क्यों हो! बैठो भी न !" मालती ने कहा, तो वह बंधी गठरी की तरह सिमटकर, हौले से चारपाई की पतली-सी बांस की पटिया की दो अंगुल जगह घेरे बैठ गई।

"पढ़ती कहां हो आजकल?"

"वहीं, बाबा बाबा के ताई—बुलन्दसैर।"

प्लास्टिक की मेंहदी रंग की जालीदार कण्डी, जिसका एक हत्था सुतली से बंधा था, जिसके एकाध घेरे पता नहीं कब, कैसे टूट गए थे, वह अभी तक भी अपने दाहिने हाथ में थामे थी। जिसमें एक जोड़ी सलवार-कुर्त्ता, दो-चार और जरूरत की छोटी-मोटी चीज़ें थीं। ऊपर से अखबार की फटी जिल्द से ढंकी एक किताब थी, जिस पर स्याही और पेन्सिल के मिश्रित अक्षरों से हिन्दी-अंग्रेजी में कुछ लिखा था। छुट्टियों में पढ़ने के लिए लाई थी—क्योंकि, भैनजी ने छुट्टिया मिलते समय कहा जो था कि छात्राओं को हंसी-ठट्ठे में समय बरबाद नहीं करना चाहिए। सो समय बरबाद न करने के लिए ही वह बंदरिया के बच्चे की तरह घसीटे फिर रही थी। वैसे एक बार भी उसने पन्ने पलटे नहीं तो क्या हुआ।

आज से पहले वह एक बार कभी यहां आई थी। तब वह शायद पासपोर्ट साइज की थी। लड़कियां कितनी बड़ी हो जाती हैं एकदम!

मालती क्या कहे! एकाएक बोलने को कुछ सूझता न था। गर्मी की छुट्टियो में आई है तो!—कुछ सोचते हुए उसने सहानुभूति से कहा—"इम्तहान दे के आई होगी न! थकी-थकाई!"

"...च्व...च....अ...!" मुंह के सामने से मक्खी उड़ाने की तरह हाथ यो ही झटके से हिलाता हुआ चट जितेन बोल उठा—"थकने के बाद यह हाल है तो पता नहीं पहले क्या होंगे? हरे राम!" हाथ जोड़ते हुए, एक गहरी सांस भरकर जितेन ने मिन्नी की ओर देखा—"भाभी कहती थीं कि इसका पेट चक्की हे, चक्की! हाथ-भर ऊंचा ढेर एक वक्त में हजम कर जाती है। ऊपर से घूंट-भर पानी भी नहीं निगलती।...सुना, हमारे यहां इतना नहीं मिलेगा हां...हो...हो...हो...!" वह फिर मुंह फैलाकर हंसने लगा।

मिन्नी झेंप गई।

मालती ने अजीब-सा मुंह बनाया। जैसे कहना चाहती थी कि उसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी।

बात संभालता हुआ चुस्कियां लेकर जितेन बोला, मजाकिया लहजे में—

"अरी, खाली बैठी-बिठाई पटेल नगरी में करती क्या ! इसलिए यहां आमंत्रित कर लाया। गृह अपना है। जैसी वह भाभी, वैसी यह!...रोग-शैया पर विश्राम करती रानी साहिबा की देख-रेख हो जाएगी। स्वयं मुझे चार-छः दिन पर्यटन पर रहना होगा। लौह-पथ-गामिनी से यात्रा करनी होगी। तब कण्ठ में गंगाजल गेरने वाला तो कोई चाहिए न...!" वह कहता-कहता स्वयं ही हंस पड़ा। फिर स्वाभाविक बहाव में बोला—"भई वाह, कैलाश भी क्या है! दोस्त हो तो ऐसा हो। कहने लगा—यार, तू मौज से टूर पर जा। हमारे होते चिन्ता किस चीज़ की! ले जा न इस चुड़ैल को!...कोई राजस्थानी ऊंट-वूंट मिले तो गले टांग देना। पढ़-लिखकर इसे कौन-सी मिनिस्ट्री संभालनी है...!"

जितेन ने मुंह मटकाते हुए देखा। मिन्नी ओंठ सिकोड़े, मुंह बनाए—हूं ...हूं...!...ब्स बस! कहकर दबे गुस्से से देख रही है।

तब से इन चार-छः दिनों में इस गिलहरी में बड़ा अन्तर आ गया है। एकाध दिन तो यों ही फूहड़ बनी रही। न सलीके से कपड़े पहनने का शऊर, न चोटी बनाने का, न उठने-बैठने का! बोलती तो बस बोलती चली जाएगी, ढलान पर ढलकते पहिए की तरह। कहां बोले जा रही है? क्या बोले जा रही है? किससे बोले जा रही है? कोई सुध नहीं।

—भाभी, हमारी मण्डी धनौरा वाली भाभी भी बड़ी मसालेदार हैं। हम सब उन्हें 'लच्छेदार' भाभी कहते हैं। पहले भइया से लड़ेंगी। फिर हाथ नचाएंगी। फिर गुस्से से पांवों को अपने आप फरस पर पटकेंगी!...सच्ची भाभी, भइया भौत डरते हैं। कहते हैं—औरत-जात को मुंह लगाना अच्छा नहीं। तुलसीदासजी ने जो कहा है।

—हमारी वो सहेली है न भाभी, सबत्रा जिज्जी! वह बजन्तीमाला से अच्छा नाचती है। वह कहती है कि वह आगे चलकर सनेमा में काम करेगी। मोटर-गाड़ियों की मालकन बनेगी। तब भी मुझे भूलेगी नहीं।

—हमारे स्कूल की भैनजी—मिस पुरी—बूढ़ी होकर भी लड़कियों की तरह हाफ-टाइम में खट्टी खाती हैं। थुल-थुल बोलती हैं तो दुधमुंहे बच्चों की तरह मुंह से लार गिरती है। लोग कहते हैं, बच्चों से उन्हें बड़ा प्यार है। तभी घर में कुत्ता पाल रखा है।...कहते हैं वे उसका जूठा तक खा लेती हैं और अपनी खटिया पर ही सुलाती हैं।

—और भाभी, वो मिसेज ठाकुर! हर साल मुर्गी के अण्डे की तरह एक बच्चा!...वह अपनी एक अंगुली हवा में खड़ी करती।

फिर भाभी के तनिक पास खिसककर कहेगी–भाभी, हमें एक मुच्छन मास्टरजी पढ़ाने आते थे। ठिगने-ठिगने से थे। वे मुझसे बिना बात गुस्सा होते और गुस्से में मुझे 'गधी' कहते। एक दिन वे मुझसे कहने लगे कि मैं बड़ी मूर्ख हूं गंवार हूं। इत्ती बड़ी हो गई, कंगारू की तरह, अभी तक मुझे 'शादी' की बात नहीं आती। पहले वे जहां पढ़ाते थे, वहां इत्ती-इत्ती छोटी छोकरियां भी सब जानती थीं। पर मैं ही हूं जो...! एक दिन हमारी मण्डी धनौरा वाली भाभी ने, सच्ची भाभी, खुद अपने कानों से सुना। बाबा से कहा। बाबा भी बिना बात उस बिचारे पर लाठी लिए पिल पड़े। पता नहीं भीगी बिलिया की तरह कहा भागा!...खि...खि...खि...। वह फिर हंसने लगती।

लेकिन धीरे-धीरे अब हालत इधर काफी बदल गई है। मालती को यह अन्दाजा लगाना कठिन हो जाता है कि यह वाकई भोली है या इस तरह की ऊट-पटांग बातें बनाकर उसे बनाया करती है। कभी-कभी तो समझदारों से भी भली-सयानी बात कर बैठती है।

अब कम-से-कम एक घण्टा गुसलखाने में खपता है। चार-छः दिन में ही जितेन की सुगन्धित तेल की सारी शीशी माथे पर उंड़ेल डाली है। जितेन ऑफिस से स्टैन्सिल का 'फ्लूट' लाया था, जिससे उसने बीसों नाखून रंग डाले हैं। सारे दिन शीशा सामनें रहेगा। सन्ध्या को काजल लगाके आंखों में तेल डाले, छत की मुंडेर पर बैठी न मालूम क्या-क्या निहारती रहेगी! फिर नीचे उतरकर, गहरी सांस भरकर, दोनों हाथों को हवा में फेंकती हुई, होंठों ही होंठों में कहेगी–"हद्द हो गई! भाभी, आज इत्ती अबेर तक भी भइया लौटे नहीं!"

मालती सब देखती है। सुनती है। लेकिन साफ-साफ समझ में आता नही। अधिक पढ़ी-लिखी नहीं है वह। बचपन में नाना की फटकार या अन्धी दादी के दुलार के कारण, रामायन, महाभारत और राम-रच्छा पढ़ लेती है। ब्याह के दिनों में जितेन कहता था कि वह पढ़ा देगा। पर अब पढ़ा-पढ़ाया भी सब बिसरा गई है। 'गिलहरी' की बात खैर मान लिया ठीक भी हो, जिसके कुछ माने भी हों। लेकिन जरूर कुछ बात है, तभी तो घर में अंग्रेजी बोलते हैं। मिन्नी ठीक कहती है।

मन उदास हो आता मालती का। उसे लगता, उसकी रुग्ण देह भीगते कम्बल की तरह भारी होती चली जा रही है। शनैः-शनैः सांस लेने में भी कठिनाई हो रही है। पिछले सवा साल की बीमारी में इतना कमजोर उसने अपने को कभी भी महसूस नहीं किया। जितेन पहले भी उखड़ा-उखड़ा-सा रहता, लेकिन

कभी-कदास मीठी बातें तो कर ही लिया करता था। ऑफिस के काम में भी तन-मन से जुटा रहता था। पर अब!...दस, सवा-दस घर में ही बज जाते हैं। किसी-किसी दिन तो आधी छुट्टी लेकर दुपहर को ही हाजिर...।

"मिन्नी भई, फुल्के 'डिजाइन' करना तो कोई तुमसे सीखे...! लेकिन हां, जरा पकौड़े-सकौड़े तो बना अभी। तेरे हाथ की पकौड़ियां सच...! पर हूं, बेसन में नमक न मिलाइयो।" फिर शरारत से देखता—"वैसे ही बहुत नमकीन हो जाती हैं।" चाय के प्याले में चीनी के बदले वह कभी मिन्नी से अपनी अंगुली डुबोने को कहता। फिर मुंह निचोड़ता हुआ कहता—"चा बक्खर हो गई, बक्खर! इतनी मीठी कि ससुरी पी नहीं जाती। सारा स्वाद ही चला जाता है! क्यों...?"

निगाहें फिर मिन्नी पर अटक जाती हैं।

मालती जानती है, उसका शरीर अब निचुड़े हुए कोए की तरह बेकाम है। न रक्त! न मांस! खाल भी हड्डियों से अलग हो रही है। उसे अपने दो अबोध बच्चों की याद अक्सर आती जो पिछले आठ-दस महीने से अपनी बुआ के यहां बरेली पड़े हैं। जितेन इलाज करवाते-करवाते अब ऊब चुका है। ऑफिस से लौटने के बाद उड़ती निगाहों से केवल एक बार देख-भर लेता है। उसका जी चाहता है कि पहले की तरह उसके तपते माथे को सहलाए, उससे बातें करे, उसका मन बहलाए। उसके साथ बैठकर बच्चों के बारे में बातें करने में उसे अजीब-सा सुख मिलता है। वह उसके हाथों को अपने हाथों में थामकर, अपनी मुंदी पलकों पर टिका देती है और खोई-खोई-सी सुनती जाती है और जितेन कहता चला जाता है—मण्टू को वह स्कूल भेजेगा!...टिंकू कितना समझदार है। इतने छोटे कम अक्ल के बच्चे इस तरह रह सकते हैं, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती!...परसों जो चिट्ठी आई थी!...वह अचकचाकर देखता—मालती की आंखों में उलझे मोती...! और उसकी सारी हथेली नहा आई है!—एक बार, बस केवल एक बार कभी ऐसी बातें सुनने के लिए वह तरस उठती है।...पर जब से मिन्नी आई है...!

उसका मन कांच के टूटते टुकड़ों की तरह खनखना आता और अथाह सागर में डूब जाता।

जितेन अब अधिकतर जाफरी वाले कमरे म बैठा रहता है। मिन्नी बैठी रहती है। उसकी कलाई से घड़ी खोलती है। जूते उतारती है। मोजे उतारती है। करीने से उसके कपड़े तह करके हैंगर में सजाती है। उसके लिए वह रूमाल ही नहीं, तकिए का 'स्वीट ड्रीम' लिखा गिलाफ भी काढ़ने को कहती है। और

कभी कहती है कि वह चादर भी काढ़ेगी—बेल-बूटों वाली।

"भइया, आज आपने खाना नहीं खाया। अच्छा नहीं बना क्या?"

"खा तो लिया।"

"हुं, कहां खाया! बस, इसे खाओ न! कित्ता घी लगा है! कित्ती मिहनत से सेंक-सेंककर बनाई हैं—आपके लिए!"

"न, बस!"

"नहीं भइया।"

"ना, ना!" वह अपने दोनों फैले, उल्टे हाथों से थाली ढक देता और अपनी ओर सरका लेता।

पर मिन्नी माने तब न! वह जबरदस्ती निशाना साधकर रोटी गेर देती है।

"...च्च...अ!"

मिन्नी देखती रहती है—"मैं खिला दूं भइया!"

पास ही दूसरे कमरे में अचेत-सी लेटी मालती तड़प उठती है। उसके सूखे, हड्डियों वाले शरीर में एक साथ हज़ारों सुइयां कसकने लगती हैं। उसका शरीर बर्फ से जा टकराता है। वह सुन्न रह जाती है। जैसे सारी चेतना चुक गई हो। तभी फिर किलकारी और हंसी के फव्वारे! वह अपने कानों पर हथेली धर देती है।

और थाली पर ही हाथ धोकर जितेन बाहर ही बाहर घूमने निकल जाता है।

मिन्नी फिर भागती भीतर आती है। उसका उमगा शरीर खिल रहा है। पांव थिरक रहे हैं। आंखें अभी तक भी नाच रही हैं—"भाभी, आप क्या लेंगी?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो लो भाभी...! जो कहो सो बना दूं...!"

"...!"

"भइया भी क्या...!" अकारण वह हंस पड़ती—"देखो न, खाना खाते-खाते बीच में ही उचक पड़ते हैं—'अब नहीं खाना। बस, बस...।' थाली परे हटाकर दोनों हाथों से ढंक लेते हैं। लेकिन जब मैं अपने हाथों तोड़-तोड़कर निवाले खिलाती हूं तो सच्ची भाभी, दो-तीन रोटियां और चबा जाते हैं। जब तक मैं मना नहीं करूंगी, मुंह चलाते रहेंगे।...और देखो न भाभी, पानी भी मुझी को पिलाना पड़ता है, बच्चों की तरह!"

फिर भाभी के उनींदे चेहरे की ओर देखती।

"भइया आपको बहुत प्यार करते हैं, भाभी। हमारे पटेलनगर वाले भइया हमारी बागपत वाली भाभी को जित्ता प्यार करते हैं, उससे भी अधिक। वो हमारी

'लच्छेदार' भाभी तो बस्स्...!"

मालती का झुलसा मन बुझ-सा आता।

"परसों भइया कहते थे भाभी...!"

"..."

"आपको बुखार तो नहीं भाभी!" वह बिल्ली की तरह उछलकर पलंग की पाटी पर जा बिराजती। माथे पर हाथ फेरती—"अंच रहा है भाभी, भट्टी की तरह...! कहते हैं बरफ की थैली धरने से ठण्डक पड़ जाती है।...भाभी, थोड़ा तलुओं को मल दूं! आप कहती हैं उससे ठण्डाई पड़ती है। प्राणों को सुख मिलता है।"

"नहीं, नहीं।" मालती झटके से कहती, जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो, "तुम खा लो मिन्नी! जाओ, रोटियां ठण्डी हो जाएंगी।"

"भइया कहते हैं भाभी कि मेरे साथ बैठकर खाने में उन्हें बहुत सुख लगता है।"

भाभी की ओर से कोई उत्तर नहीं लौटता। तब मिन्नी धीरे-से उठती है। मुड़कर फिर देखती है—"देशी घी आज चुकता हो गया, भाभी।"

इस महीने दस को ही सारा मर्त्तबान चाट डाला। मैं होती तो इत्ते से ही महीना-दस दिन और निकाल देती। घी चुंआ-चुंआ के सांझ-सकारे परांठे खिलाती जाओगी तो बचेगा क्या? मालती के मन में आता, पर...।

"भाभी, आप बहुत बुरी हैं। मण्टू-टिंकू को न जाने कहां भेज दिया है! एक बार दिखलाया तक नहीं। सुना, बहुत प्यारे हैं। बहुत खूबसूरत। हूबहू भइया पर गए हैं।"

मालती मौन देखती रहती है।

"आपको बच्चों की याद नहीं आती भाभी?"

मालती कुछ न कह पाती।

"भाभी सच्ची, हमारे बुलन्दसैर वाले भइया कहते हैं कि मैं पढ़-लिखकर डॉक्टरनी बनने वाली हूं। मेरे जनम-पतरे में भी मांजी कहती हैं कुछ ऐसा ही संजोग है। तब सच्ची भाभी, मैं इलाज कर आपको अच्छा कर दूंगी। भइया तो कुछ करते-धरते नहीं।...आजकल के डॉक्टर मुए निगोड़े होते हैं।...हमारे बुलन्दसैर में है एक भाभी। वह जिसका इलाज करता है वही फट् हो जाता है...।"

"....।"

"भाभी, बच्चों को हमारे घर भेज दो! सच्ची, मैं पालूंगी।...भाभी, भइय अब गिलैरी-विलैरी नहीं कहते। मेरी चिउरी पर दो अंगुलियां छुआ के कभ 'लवली...लवली...' कह देते हैं। तब पता नहीं मैं क्यों शरमा जाती हूं। सच्च भाभी, मेरा मुख लाल हो जाता है—पके अनार की तरह!"

मालती को कुछ सुनाई नहीं देता। वह आंखें फाड़े, पपड़ी लगे खुरदरे होंठ खोले, विस्मित-सी छत की ओर देखती रहती है। खिड़की के ठीक ऊपर, खटिया के पावों के पास हवा की जाली है। ठण्डी हवा से बचने के लिए जिसे जाड़ो में अखबार या मोटे गत्ते के टुकड़े से ढंक देते हैं। लेकिन गर्मियों के झांकते ही वह आवरण हट जाता है। पर इस साल वह वैसा ही है—उसकी लम्बी बीमारी के कारण...। मकड़ियों ने उलझ-उलझकर जाले रच डाले हैं। इन जालों के उस पार उसे एक तस्वीर दीखती है, जिसमें अब गर्द की भारी तह चढ़ चुकी है।...लेकिन एकान्त के सूने क्षणों में जब कभी उसकी पलकें खुलती हैं—वही तस्वीर उभरकर ऊपर आती है—मटमैली-सी। धुंधली-सी। न जाने क्यों!

सामने दाहिनी ओर आले में बच्चों के टूटे खिलौने पड़े हैं। रंग अब पुंछ गया है। मंटू बुआ के यहां जाते समय भूल गया था। सुबह की गाडी पकड़नी थी। पौ फटे के अधमुंदे अंधियारे में आंखें मलता हुआ चला गया था—"अम्मी, तुम भी आना हां!...अम्मी!...अम्मी!!" तब से कोई उस ओर जा न पाया।

परसों टिंकू का पत्र आया था। पेन्सिल से लिखा था—"अम्मी, यहां सब हमसे झगड़ते हैं।....कहते हैं हमारी मम्मी बीमार है। मरने वाली है।...मण्टू आधी रात को नींद में चिल्लाने लगता है।...वह अब खाना नहीं खाता। दूध भी नहीं पीता।...हमें बुला लो अम्मी...!"

सच ही मालती का गला सूख आता। चीखने को मन होता। पर गले में पत्थर जम जाता। शब्द फूटकर बाहर न आ पाता।

"मिन्नी पानी...।"

दो घूंट पानी गले से उतरने पर होश आता। मिन्नी की ओर देखनी हांफती, गेती—"मिन्नी, तुम्हें भैया अच्छे लगते हैं!...वे भी तो तुम्हें प्यार करते हैं न...!"

"...।"

"मेरे बच्चों की देख-रेख कर सकोगी मिन्नी!...उन्हें प्यार कर सकोगी! ...बिल्कुल तुम्हारे भैया पर गए हैं...!"

थोड़ी देर बाद मालती संयत होती तो स्वयं ही पछताने लगती। हाय, वह

क्या कह गई मिन्नी से।...नहीं...नहीं...। वह कसकर चारपाई की पाटी से जा लगती। जैसे भूचाल से धरती फट रही हो। त्राण पाने के लिए वह अन्तिम सहारे से लिपटी जा रही हो।...कहीं मंझधार में तिनका...और...!

चूंकि मिन्नी की छुट्टियां अब किनारे पर हैं। चूंकि जल्दी ही उसे अब अपने शहर लौटना है। चूंकि जितेन ने ही सम्भवतः उसे उकसाया हो, अतः आज प्रातः से ही वह तुली थी कि इत्ते दिनों में कभी उसने 'चिड़ीघर' नहीं देखा। क्योंकि आज इतवार का दिन होने से छुट्टी है इसलिए उसे अवश्य दिखलाया जाए। नहीं तो वह वहां लौटकर क्या कहेगी! बाबा ने आती बेर टेसन में कलास भइया से कहा था कि वह इस बार अवश्य पूरी दिल्ली देखकर लौटनी चाहिए। भइया ने सिर हिलाते हुए हामी भी भरी थी। लेकिन...।

जितेन ने पहले अधिक 'बिजी' होने की बात कही। फिर 'हेडेक' की और अन्त में जब मिन्नी नहीं मानी तो उसने श्रीमतीजी की ओर देखा—"यह गांव की गिलहरी चैन से बैठने नहीं देगी। बताओ क्या करूं! दो-चार रुपए का पानी यों ही हो जाएगा...। पर..."

मालती ने स्पष्ट कोई उत्तर न दिया। सुखना बुआ और बच्चों की नई चिट्ठी की बातें उधेड़कर दिशा ही बदल डाली।

अन्त में मिन्नी ने शोरगुल अधिक मचाया तो वह अनमने भाव से तैयार हुआ। मिन्नी के फूहड़पन की दो-चार बातें बुदबुदाता हुआ मालनी के सामने से झुंझलाकर गुजरा। पर क्षण-भर बाद सीढ़ियों में ढलान की ओर तेजी से उतरते जूतों की चट्-चट् आवाज आई। फिर सम्मिलित हंसी का जैसा स्वर व्यापा।

मालती अकेली रह गई तो वे सूनी दीवारें, श्मशान की-सी मुर्दानगी लिए उसे झपटने को भागीं। वह आंखें मींचे बार-बार करवट बदलती रही। कभी उसे चिड़ियाघर की बत्तख-सारसों वाली घुमावदार झील के किनारे, करील की छतरीनुमा डालियों की एकांत छांह में, हरी-हरी मखमली मुलायम दूब पर बैठी मिन्नी दीखती। जितेन दीखता। तरह-तरह की सुख-दुःख की कड़वी-मीठी बातें सुनाई देतीं। झटके से वह करवट बदलती और आंखें खोल देती।

अब फिर पलकें ढंकने पर फिर वही दृश्य। अब मिन्नी के घुटनों के पास आसमान की ओर मुंह किए जितेन लेटा है। जैसे खोया हो। भूला हो। दो अंगुलियों के बीच 'चारमीनार' सुलगकर राख हुई जा रही है, पर उसे होश नहीं। मिन्नी उसके माथे की पसीने की बूंदों को अपने दुपट्टे से पोंछती है। जितेन के पके पांगर-से खूबसूरत घुंघराले बालों को छल्ले की तरह अंगुली में लपेटती

है। फिर बीच में से अंगुली हटाकर देखती है।—अरे, मुआ छल्ला पूरी गोलाई का बना नहीं। दो सिरे मिलते नहीं। बीच में नाखून के बराबर दायरा खाली रह जाता है।...मिन्नी दो अंगुलियों की नोंक से उन्हें फिर-फिर मिलाने की असफल चेष्टा कर रही है।...दोनों चुप हैं।...उस ओर रास्ते से इक्के-दुक्के लोग गुजर रहे हैं, लेकिन मिन्नी की उधर पीठ है।...उसने जितेन का धूप का काला चश्मा पहन रखा है।

—तुम मेरी तरफ यों घूरकर क्यों देख रहे हो?

—तुम्हारी दो आंखों में छोटे-छोटे दो जितेन दिखलाई दे रहे हैं...।

फिर दोनों चुप हैं।

—घर लौटकर याद करेगी न मिन्नी...?

वह एक बार उसकी ओर देखती है...और हंस भर देती है।

गिलहरी जब हंसती है तो कितनी भली लगती है! मेमने-सा भोला मुखड़ा। रूई के गोले-से कोमल गुलाबी गालों पर गड्ढे। कच्चे अनार के सफेद दानों की तरह मोतिया दांत...मालती के डूबे मन में तीर-सा चुभा। लपककर उसने पास ही मेज़ पर धरी कानी आरसी उठाई। अपने चेहरे के सामने रखकर, अपने से ही आंखें चार करती, देखती रही, अविचलित भाव से। देखते-देखते उसका मुंह मलिन हो आया। आंखों के कोर भीग गए...।

दोपहर ढले बाहर की जाफरी के किवाड़ का कुण्डा खटका। मालती ने चौंककर झांका। मानो नींद से जागी हो। "अरे, त्अ...! इत्ती अबेर!"

धम्-धम् कर मिन्नी दाखिल हुई, हाथ में प्लास्टिक की रीती टोकरी नचाती हुई।

मालती ने यों ही देखा—"वे नहीं आए...!" अधर अनचाहे खुले।

"यहीं 'सी' ब्लाक की तरफ गए हैं। किसी मद्रासी दोस्त के घर कुछ काम बताते थे।"

वह धम्म से निहत्थी चरमराती कुर्सी पर गिर पड़ी। पास ही कुर्सी की पीठ की पाटी पर लटके मालती के धुले ब्लाउज से पसीना पोंछती हुई, बिखरे बालों को दोनों हाथों से कनपटी के ऊपर से समेटकर माथे की ओर से पीछे ले गई। फिर घुटनों पर दोनों कुहनियां टिकाकर, दोनों हाथों से ठोड़ी थामती चहक उठी—"मजा आ गया! हद्द हो गई भाभी! भइया भी क्या हैं! सच्ची, मैं मरती-मरती यहां तक आ पाई। इत्ता खिला दिया बस्स!...जहां पर भी खाने की कोई चीज़ दिखी नहीं बस, हमारे बुलन्दसैर की कमेटी के कूड़ा उठाने वाले बैल की तरह अपने आप ठिठक पड़े।...बैंगन की पकौड़ी खिलाई। दही-भल्ले खिलाए।

इत्ते-इत्ते सन्तरे खुद अपने हाथों छीलकर खिलाए।...ऊपर से दो, नहीं-नहीं तीन भरी ठण्डी बोतलें पिलाई। मैं जित्ती मनाही करती, भैया उत्ती जबरन करते। कहते—मैं खाऊंगी नहीं तो अपनी भाभी की तरह सींक-सलाई बन जाऊंगी।...लौटती बेर तो बेहद मज़ा आया भाभी।...भइया की बगल में बैठने को ठौर मिल गई। भइया गिन-गिनकर सब दिखाते रहे—इण्डिया गेट। हवाई-गाड़ी का अड्डा।...इस सेर की मोटर-बस भी क्या है भाभी!...मुए बड़े झटके लगते हैं। कभी भइया मेरे ऊपर गिर पड़ते और कभी मैं भइया के ऊपर...!''

मालती के मन में आया कि यह भी पूछे कि चिड़ियाघर तो तुमने जल्दी देख लिया होगा, फिर सारे दिन क्या करते रहे। झील के किनारे दूब पर भी बैठे होगे न।...भैया से क्या-क्या बातें हुई।...पर तभी दरवाजा खुला। जितेन आ खडा हुआ।

मालती न महसूस किया कि शायद वह ठीक सोच रही थी। उसके मुंह का जायका बिगड़ गया। किसी से उसने कोई बात नही की। कटे तने की तरह निढाल लेट गई।

...कल भी तो ऐसा ही हुआ था कुछ! परसों भी! नरसों भी...!

मिन्नी आज चली जाएगी। मालती सोचती है—चलो ठीक है। चुड़ैल चली जाय तो उसके लिए कुछ दिन और जीना सम्भव हो सकेगा।

जाफरी वाले कमरे में आज सुबह से दोनो बैठे है। क्या पता जितेन ने छुट्टी का बहाना बना लिया हो।

मिन्नी जितेन के जूते के तस्मे बाधती हे और उसके हाथ को अपने हाथ मे थामकर घड़ी।

मालती सिर से पांव तक कान बनी हे। जितेन के हाथ में कल शाम घर आते समय कागजों का एक पुलिन्दा था। हो न हो गिलहरी के लिए कोई 'चीज' लाया हो। कल दिन से वह परेशान है। बातें करते-करते काटने को भागता है।

दोनों जने पता नहीं क्या-क्या बातें कर रहे हैं। लड़ते हैं, झगड़ते हैं, कभी-कभी हंस भी लेते हैं। वह आज फिर 'गिलहरी-गिलहरी' चिढ़ा रहा है। 'नागन' कहता हुआ उसकी चोटी खींच रहा है। उसके बालों में फूल खोंसता मुई अंगरेजी में भी कुछ कह रहा है। और समझा रहा है कि उसे अब सलीके से कपड़े पहनने चाहिएं। सलीके से बोलना चाहिए। सलीके से उठना-बैठना चाहिए। क्योंकि अब वह बच्ची नहीं है। गांवों में तो उसकी उमर की लड़कियों

के दो-दो बच्चे हो जाते हैं। और वह सिर हिलाकर हामी भर रही है कि उसकं अनारो बुआ की छोटी लड़की कुलवन्ती का ब्याह बिरनपुरा में हुआ है। उसकं (मिन्नी की) मांजी कहती हैं कि वह उमर में उससे कम है। लेकिन इसी पिछ्ल चैत में एक बच्चा हुआ है...।

बाहर घर...घर...करता हुआ स्कूटर खड़ा है।

जितेन सीढ़ियों पर खड़ा आवाज लगा रहा है—"सुनती नहीं, अरि अं चुड़ैल....!"

मिन्नी हड़बड़ाती खड़ी है। उसकी डोरी के हत्थे वाली प्लास्टिक की टोकरी नहीं मिल पा रही है। अब उसकी बागपत वाली भाभी उसका श्राद्ध कर डालेगी।

टोकरी बड़ी उथल-पुथल के पश्चात्, बड़ी कठिनाई से कोयले की रीती बोरी से दबी मिल जाती है। झाड़ू लगाते समय शायद मेहतरानी की मेहरबानी हुई हो।

"भइया के साथ कभी हमारे घर अय्यो हं भाभी!"

मालती के अधर खुल पड़ते हैं—"हां, हां! क्यों नहीं!"

मिन्नी के हाथ में थमी टोकरी पंखे की तरह घूमती जाती है—"मेरे बाव। कहते हैं भाभी, कि अगर मैं पढ़ने में इक्कीस नहीं रही तो मैं आगे पढूंगी नही। तब खाता-पीता अच्छा घर ढूंढकर मेरा ब्याह हो जाएगा। ब्याह में तो आओगी न भाभी!...मफ्टू-टिंकू को भी लइयो हं!"

मालती क्या कहे! हौले से हंस देती है।

नीचे से फिर आवाज आती है कि गाड़ी का समय हो गया है। चुड़ैल क्या कर रही है।

मिन्नी उतावले में हाथ जोड़ने की तरह अपने दोनों हाथों की अंगुलिया केवल दूर से ही मिला देती है—अच्छा...भाभी...!

सीढ़ियां उतरकर, पल-भर बाद पुनः हांफती लौट आती है—"मुई याद ही नहीं रही भाभी...!" वह जतन से आले में धरी कागज में लिपटी कोई चीज निकालती है, "यह भइया का फोटू लिए जा रही हूं भाभी! भइया से मांगकर—हां वहां अपनी सवत्रा जिज्जी को दिखलाऊंगी। मण्डी धनौरी वाली भाभी को भी। बुलन्दसैर में हमारे दूर के रिश्ते के फूफा के लड़के जसबीर भइया भी ऐन-मैन जितेन भइया जैसे ही हैं। हमारे घर बौत आते-जाते हैं। मेरे कन्धों पर दोनो हाथ धरकर जोर से दबाते हैं। कहते हैं, देखें, तेरे मामा पक्के हैं या कच्चे। कभी-कभी वे मुझे पढ़ाने और बाजार घुमाने को भी कहते हैं। तुम कहो तो उनको भी दिखलाऊंगी भाभी!..." एक सांस में कहकर मिन्नी तेजी से चली जाती है।

स्कूटर में पहले मिन्नी बैठती है फिर जितेन। स्कूटर का मुंह सामने सड़क की ओर है। इसलिए मालती की ओर पीठ। खिड़की के सींकचों के सहारे खड़ी वह देख रही है।

स्कूटर की आवाज बढ़ती हे। छोटे-छोटे दो पिछले पहिए घूमते हैं। गाड़ी आगे फिसलती है।

मालती को दो कन्धे अलग-अलग दीखते हैं। दोनों अगल-बगल के दो किनारों की ओर झुके। स्कूटर कुछ आगे बढ़ता है तो मालती को लगता हे कन्धों की दूरी भी कम हो गई है।...बिल्कुल कम हो गई है!...दोनों एकदम एक-दूसरे से मिल गए हैं!...एक-दूसरे पर गिर गए हे!

मालती की आंख मुंद जाती हैं। माथा घूमने लगता है। ऐसा भी कहीं हा सकता है: जितेन को वह अच्छी तरह जानती है। वह हरगिज ऐसा नहीं हे। फिर क्यों ऐसी ऊल-जलूल वातें सोचा करती है वह!...नहीं...नहीं। वह फिर आखें मलती है। एक बार फिर देखने का प्रयास करती है—धूप से बचने की तरह पांचों उंगलियां फिर माथे पर टिकाते हुए। लेकिन धुंधली निगाहों को कुछ भी दीखता नहीं। स्कूटर पहले ही मोड़ से ओझल जो हो चला है!



परिणति

वितस्ता ने खादी के बेल-बूटे वाले, रंगीन भारी पर्दे रिंग पर एक ओर समेटे तो देखा—दूर गेट के पास कोई छाया-सी खड़ी है। व्यस्तता के कारण उधर अधिक ध्यान न दे पाई। यों ही देखा-अनदेखा करके ड्राइंग-रूम की ओर चली गई। उसका मन आज न जाने क्यों इतना भारी, उदास है। कहीं भी जी लगाए लगता नहीं।

नाश्ते की प्लेटें लगी थीं। भदई कन्धे पर गमछा लटकाए, बड़े अदब से, ठहर-ठहरकर गिलासों में जल भर रहा था। एक भी बूंद धोखे से टेबिल-क्लाथ पर बिखरी नहीं कि उसे बड़ी शालीनता के साथ गमछे में समेट लेता।

चिरन्तन ने समाचार-पत्र परे रखते हुए एक हल्की-सी अंगड़ाई ली। इधर-उधर देखा तो निगाहें वितस्ता पर ठहर गई। सामने की कुर्सी पर वह गूंगी दुल्हन की तरह होंठ सिए चुप बैठी है। दोनों कुहनियां मेज़ पर टिकाए, हथेलियो में ठोड़ी थामे, आंखें मूंदे पता नहीं क्या सोच रही है! इस तरह से जब कभी वह किसी भाव में लीन रहती है तो उसकी यह भंगिमा चिरन्तन को बहुत अधिक भाती है...।

वितस्ता घर-बाहर का सारा काम-काज जानती है। कला के प्रति उसकी अभिरुचि है। वह बहुत मीठा गाती है। सितार बहुत अच्छा बजा लेती है। अपने अधमुंदे अंधेरे कमरे में जब कभी सांझ के समय वह तन्मय होकर तारों को छेड़ती है तो प्रशान्त वातावरण में एक लहर-सी दौड़ जाती है। एक अजीब-सी वेदना कण-कण में व्याप जाती है। घण्टों तक, पता नहीं कब तक, उसकी संगमरमर-सी सफेद, तराशी हुई बारीक लम्बी नाजुक उंगलियां तारों को सहलाती

रहती हैं। धीरे-धीरे हवा थम जाती है। उंगलियां ठहर जाती हैं। सितार के झनझनाते तार कंपकंपाना छोड़कर, सांस साधे रुक-से जाते हैं। वितस्ता गरदन झुका लेती है। माथा सितार पर टिका देती है। तब उसकी आकृति भाव-शून्य हो जाती है। एकदम प्रतिमा की तरह शान्त। किन्तु दूसरे ही क्षण ज्योंही गरदन ऊपर उठाती हुई जोर से पलकें मींचती है, कभी-कभी बूंद-भर खारा पानी आंखों से उतरकर गालों पर ढुलक पड़ता है।

सच, कितनी विचित्र है वितस्ता! चिरन्तन क्षण-भर उसे देखता रहा, फिर हौले-से कुर्सी से उठकर उसके पीछे खड़ा हो गया। उसके कन्धों पर बिखरी अधगीली लटों को सहलाता हुआ, उसकी आंखों की गहराइयो में कुछ टटोलने लगा।

वितस्ता ने भी उसी भाव से गरदन ऊपर उठाई तो चिरन्तन ने सामने खिला चांद अपने दोनों हाथों में भर लिया—"क्या सोच रही हो वित्ती?"

वितस्ता ने केवल सिर हिलाया—"जी, कुछ भी नहीं।"

"कुछ तो!"

"ना।"

"चुप! चुप!" कहता हुआ वह और झुक गया है और अपने धधकते होंठ उसके रक्तिम कपोलों पर रखने ही वाला था कि तभी दरवाजे की निगोड़ी कॉल-बेल टुनटुनाई। अचकचाकर, संभलकर दोनों बाहर की ओर झांकने लगे जैसे कहीं चोरी न पकड़ ली गई हो।

भदई टिकोजी से ढंका टी-पॉट लाता-लाता ठहर गया। साहब को कहीं उठकर देखने का कष्ट न हो, अतः स्वयं वैसा ही दरवाजे की ओर मुड़ा।

"कहिए!"

"मिस्टर चिरन्तन हैं?"

"आइए।"

भदई ने जैसे खाना-पूरी की, वैसे ही मुंह लटकाए कहा। वास्तव में भदई को इस आकृति में तनिक भी नवीनता नहीं दीखती। अकसर वक्त-बेवक्त इसी तरह घण्टी बजती है। नाइलोनी साड़ी में लिपटी, पर्स हाथ में झुलाती, लिपस्टिक-पुते अधरों से मुस्कराती, कोई टिकटिक आती है और बेधड़क चिरन्तन के कमरे में चली जाती है।

चिरन्तन के विवाह के बाद, आज बहुत दिनों पश्चात् वह पहली बार आई है। अतः आकृति में कुछ असमंजस का अटपटा-सा भाव है। पांवों में अनिश्चितता। वे सधे ढंग से, आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ नहीं पा रहे हैं।

"आइए! आइए!" चिरन्तन ने आगे बढ़कर स्वागत किया—"कम इन!... आप दोनों का परिचय करा दूं!...आप हैं कुमारी जुबेदा और आप...यानी कि...यानी कि...आइ मीन!"

"समझी, समझी!" कहकर सामने खड़ी कुमारी ने वितस्ता की ओर मुस्कराकर देखा, अभिवादन किया और बड़े तपाक् से हाथ मिलाया।

टेबिल पर तीनों बैठकर बड़ी बेतकल्लुफ बातें करने लगे। वितस्ता कुछ कम बोलती, अपने स्वभाव के अनुसार, पर चिरन्तन और जुबेदा साहित्य से लेकर सेक्स तक हर टापिक पर देर तक, निस्संकोच बातें करते रहे। वितस्ता को बड़ा आश्चर्य हुआ कि कोई नारी किसी पर-पुरुष से इतनी स्पष्ट बात कर सकती है।

किसी काम के बहाने उठकर वितस्ता दूसरे कमरे में चली गई। भदई को गमलों में पानी देने और फर्श को साबुन से धोने के बारे में कुछ हिदायतें देती रही। फिर रसोईघर में घुसकर सारा काम स्वयं देखने लगी।

धुएं के कारण उसकी आंखों में पानी भर आया। आंचल से पलकें पोंछती जब वह ड्राइंग-रूम की ओर लौट रही थी कि उसकी आंखों के आगे बिजली-सी कौंधी। उसके चलते पांव एकाएक ठहर गए—एकदम चेतना-शून्य हो गए।

जुबेदा चिरन्तन की बांहों में घिरी थी और वह उसकी काली बिखरी जुल्फों को हाथों में समेटे...।

तीनों प्राणी—जो जहां थे, वहीं पर सुन्न खड़े रह गए। न चिरन्तन कुछ बोला, न जुबेदा कुछ कहने का साहस जुटा पाई और न वितस्ता ने ही कुछ कहने की आवश्यकता समझी...।

शाम को चिरन्तन का मन घर लौटने का न था। फिर भी वह लौट रहा था। अनेक आशंकाएं उठ रही थीं। वितस्ता से सामना कर पाने की हिम्मत न थी। सुबह के अपने व्यवहार से वह बेहद क्षुब्ध था। उसे स्वयं पर झुंझलाहट हो रही थी कि वह ऐसा अभद्र व्यवहार क्यों कर बैठा। विवाह हुए अभी दिन ही कितने बीते हैं! फिर ऐसी हरकतें क्या शोभा देती हैं! इतनी बड़ी नौकरी है, इतना बड़ा जिम्मेदारी का ओहदा है, शान है, शोहरत है, भारी नाम है। फिर यह!...वितस्ता क्या सोचती होगी! उसके स्थान पर कोई और होती तो क्या सोचती।

उसने जब घर की देहरी पर पांव धरा तो चारों ओर रोज की तरह सन्नाटा था। वितस्ता अपने कमरे में, किताबों के ढेर के पास, सितार सहला रही थी। दर्द की एक हल्की-सी लहर वायु में घुल-घुलकर एक वीतरागी करुण-दृश्य रच

रही थी।

दरवाजे के खुलने की खटक ओर सीमेंट के फर्श पर जूतों की आहट से वितस्ता की तन्द्रा टूटी। वह लपककर आगे वढ़ी। हमेशा की तरह मुस्कराती सामने खड़ी हो गई। बोली—"बड़ी देर कर दी आज!"

चिरन्तन चुप था। कुर्सी पर बैठा ही था कि वितस्ता उसके पांवों के पास फर्श पर बैठ गई। जूते के तस्मे खोलने लगी। फिर निश्चित स्थान पर जूते रखकर कुर्सी के सहारे उसके सामने खड़ी हो गई। बोली—"तबीयत तो ठीक हे न।"

प्रत्युत्तर में चिरन्तन से कुछ भी कहा न गया।

वितस्ता उसके ठण्डे माथे को अपनी गरम हथेलियों से सहलाने लगी—"इतनी रात बाहर रहते हो तभी तो सेहत खराव रहती है। मैं न जाने कब से खिड़की पर खड़ी-खड़ी प्रतीक्षा करती थक गई। किताबें उलटने लगी तो मन लगा नहीं। सितार भी कब तक बजाती...!"

चिरन्तन अपलक उसकी ओर देखता रहा। न मालूम एक साथ कितनी परछाइयां, कितने भाव, कितने विचार अन्तर से उभर-उभरकर, धूप-छांव की तरह आए और ओझल हो गए।

अभी तक भी चिरन्तन को चुप देखकर वितस्ता उसके और समीप खिंच आई। उसके घुंघराले बालों को छल्ले की तरह उंगलियों में लपेटती-बिखेरती रही। फिर सामने खड़ी हो, उसकी टाई की गांठ खोलने लगी—"कितनी ज़ोर से बांधते हें आप। गरदन मे दर्द नहीं होता!"

"...।"

"चलो, उठो न! खा लो। कब से पड़ा-पड़ा ठण्डा हो गया। कितनी मेहनत से आज खुद ही सब्जी खरीदकर लाई, खुद ही बनाई। पर सब...!" वह चिरन्तन का हाथ थामे उठाने लगी।

चिरन्तन को इस सवकी कल्पना तक न थी। न वितस्ता घर पर रूठी बैठी थी, न घर में अंधेरा था, न उसके घर पहुंचते ही वह बिफरी, न उसने रोते हुए ही यह कहा कि 'सुनिए, मुझे मेरे मैके पहुंचा दीजिए। इश्क ही लड़ाना था तो फिर ब्याह क्यों किया? किसी एक की जिन्दगी से यों खिलवाड़ करके आपको क्या मिला!'

पर वितस्ता चुप थी। उसकी निर्विकार, सुशान्त, सुनिश्चित आकृति की ओर वह न मालूम इस तरह से क्यों देखता रहा! और फिर पालतू पशु की तरह चुपचाप उठा और पीछे-पीछे चल दिया।

निवाले तोड़-तोड़कर, अबोध शिशु की तरह वितस्ता उसे खिलाने लगी।

"तुमने खा लिया।"

"जी, खा लूंगी। इतनी जल्दी क्या है! पहले आप लीजिए न!"

चिरन्तन की निगाहें घड़ी की ओर मुड़ीं—"तुम्हें खाकर सो जाना चाहिए था। खाना भदई खिला देता या सुजानो। इतनी जल्दी कामकाज समाप्त करके घर चली गई क्या?"

"क्यों खिला देती जी कोई—होते हुए मेरे!" वितस्ता कहकर भी कह न पाई। केवल बुदबुदाकर चुप हो गई।

चिरन्तन ने कौर के साथ-साथ दो-तीन बार उसकी फ्लासबीन-सी पतली नाजुक उंगलियां भी काट डालीं। अन्तिम ग्रास के साथ वह शरारत से मुस्कराता हुआ वितस्ता के होंठों के पास मुंह ले गया तो वितस्ता चौंककर पीछे हट गई। चिरन्तन के मुंह से शराब की बदबू आ रही थी।

"क्या हुआ?"

"जी, कुछ नहीं।" वितस्ता हंस पड़ी। वह हंसी उसके दिल को चीरकर पता नहीं किस गहराई से निकली थी।

सोते समय वितस्ता उसके माथे को सहलाती रही। चिरन्तन के मन में न जाने कौन-सा ज्वार उमड़ रहा था। न जाने कौन-सा झंझावात उसे झकझोर रहा था। शायद उसके अन्तःकरण की अपराध-भावना उसे मथ रही थी। शायद वह होश में नहीं था—"तुम बहुत मीठी हो, हो न!" वह बुदबुदाया—"लेकिन जुबेदा, तुमसे भी...।"

वह चुप थी। चिरन्तन भी।

"क्यों जी, वह आपको बहुत अच्छी लगती है?"

"हां।"

"क्या खासियत है उसमें?"

"खासियत...!" वह बड़े जोर से, बड़े भद्दे ढंग से हंसा—"कोई जवान हो। उस पर लड़की हो। उस पर खूबसूरत हो, यह क्या कम है!" तनिक रुककर चिरन्तन बोला—शायद अब वह बिल्कुल होश में न था—"शी इज रियली स्वीट! वह बड़े मोहक ढंग से मुस्कराती है, हंसती है, बातें करती है, चलती है। उसके चिकने, सुडौल, गोरे शरीर में सांप की केंचुली-सी बारीक नाइलोन की फिसलती हुई साड़ी खूब फबती है। बड़े आर्टिस्टिक ढंग से स्मोक करती है। बॉल-डांस और शराबी निगाहों से देखती हुई शैम्पेन के...! ओह, शी इज रियली स्वीट!" उसने जोर से वितस्ता को अपनी ओर खींचा, जैसे सामने वितस्ता नहीं जुबेदा

ही हो और फिर आंखें मूंदे जोर से उसे चूमता हुआ फुसफुसाया—"स्वीट! सो स्वीट!! सो स्वीट!!!"

लेकिन दूसरी ओर वितस्ता का मन चीत्कार कर उठा। वह वैसी ही बेबस पड़ी रही। चिरन्तन जब थककर सो गया तो वह हौले से अपने कमरे में गई और फिर सारी रात सितार उसकी बांहों में लिपटा, न जाने क्यों रोता रहा!

सुबह फिर ताजे फूलों की तरह वितस्ता ताजी थी। बड़े प्यार से उसने चिरन्तन को जगाया। बिस्तरे पर ही कॉफी का गर्म प्याला उसके होंठों से लगाती हुई बोली—"देखिए, आप कितने लापरवाह हैं! एक तो ऑफिस में काम बहुत रहता है, दूसरे रात को देर तक जागते रहते हैं। इससे सेहत खराब हो जाती है। देखो न, आपकी आंखें कितनी लाल हैं—सूजी हुई।" वितस्ता पास ही मेज पर रखा शीशा उसके सामने तक लाई। पर चिरन्तन शीशे की ओर नहीं, केवल उसकी आकृति की ओर देखता हुआ हंस पड़ा। वितस्ता की समझ में कुछ न आया। चिरन्तन ने शीशे का मुंह वितस्ता की ओर कर दिया और कॉफी का गरम प्याला उसके हाथों से थाम लिया।

वितस्ता सचमुच वितस्ता लगती न थी। उसका चेहरा बेहद सूजा हुआ था। आंखें गुड़हल के फूल की तरह सुर्ख थीं।

"लगता है रात-भर जागती रहीं?"

"नहीं तो!"

"फिर?"

"फिर क्या", यों ही हंसने का प्रयास करती वितस्ता ने कहा—"मेरी आंखें इधर बहुत कमजोर हो गई हैं न! तभी तो थोड़े से ही शीत से सूज जाती हैं।"

चिरन्तन ने दो ही घूंट में प्याला रीता कर दिया। वितस्ता ने फिर कोई बात न की। केवल चुपके से रीता प्याला उठाकर चली गई। ड्राइंग-रूम में, आदमकद शीशे के सामने अपना प्रतिबिम्ब तौलने लगी—सचमुच उसकी उदास आंखें भरे-घड़े की तरह सहसा छलछला आई। अपने को संभालती हुई वह सीधी बाथरूम गई। किवाड़ भीतर से बन्द कर, खूब जी भर रोती रही।

अन्त में, हल्की होकर, नहा-धोकर, वस्त्र बदलकर नाश्ते की मेज पर आई तो देखा चिरन्तन कब से प्रतीक्षा कर रहा है। ऐश-ट्रे में अधजले सिगरेट के ढेर सारे टूटे टुकड़े तैर रहे हैं और अभी तक वह लगातार धुआं उगल रहा है।

उसे देखते ही चिरन्तन का मूड बदल गया—"आज तो तुम बहुत खूबसूरत लग रही हो।" पूरी की पूरी सिगरेट उसने ऐश-ट्रे में डुबो डाली और फिर झट

से छुरी-चम्मच लेकर, डबल-रोटी के अधसिके टुकड़ों पर मक्खन की मोटी-मोटी परतें चढ़ाने लगा—"आज तो एकदम अल्ट्रामॉडर्न नजर आती हो। कलर-लेस नाइलोन का स्लीवलेस ब्लाउज, नाइलोनी साड़ी, इतना बारीक पेटीकोट पहने हो और इतनी गहरी लिपस्टिक कि जुबेदा भी पानी भरने चली जाय।"

वितस्ता लाज से सिकुड़कर चौथाई रह गई।

"डांस जानती हो?"

"वैसे जानती तो नहीं, आप कहेंगे तो सीख लूंगी।"

चिरन्तन फिर सिगरेट जला चुका था। धुएं के गोल-गोल छल्ले, एक के बाद एक, छत की ओर उड़ाने लगा। वितस्ता प्यालियों में दूध डालकर चम्मच से उन्हें हिलाने लगी। आज ठण्ड कुछ अधिक थी, इसलिए उसका बदन कंपकंपा रहा था।

चिरन्तन के मुंह से सिगरेट छीनकर वितस्ता ने अपने रंगीन अधरों पर लगाया। एक कश जोर से खींचते हुए कहा—"वह ऐसे ही पीती है! कहिए न, अब तो आपको अच्छी लग र...ही!" तभी खांसी शुरू हुई। वह इतनी जोर से, इतनी देर तक लगातार खांसती रही कि उसकी आंखों में पानी भर आया। किन्तु दूसरी ओर चिरन्तन ठहाके लगाता रहा।

चिरन्तन ऑफिस जाने लगा तो आज वितस्ता उसे छोड़ने द्वार तक गई। जाते समय अपनी नाजुक उंगलियां हवा में हिलाती हुई बोली—"देखिए, आज ऑफिस से सीधे घर आइएगा। क्लब जाना चाहेंगे तो मैं भी साथ चलूंगी।"

दूरी कुछ बढ़ने लगी तो वितस्ता की आवाज उसी अनुपात से ऊंची हो आई, जैसे चिरन्तन को कुछ कम सुनाई पड़ता हो, "आज आपसे कुछ बहुत जरूरी बातें करनी हैं। ठीक छः बजे पहुंच जाना, हां!" वह लपककर और पास चली आई। उसके कन्धों पर झुकती हुई बोली—"दिन-भर अकेली बैठी-बैठी बोर हो जाती हूं। यदि दिन में कभी आपको फोन कर लूं तो आप डिस्टर्ब तो न होंगे। बुरा तो नहीं मानेंगे...!"

सांझ को चिरन्तन ऑफिस से उठकर सीधा घर चला आया। वितस्ता पलकें बिछाए पांच बजे से ही द्वार पर खड़ी थी। चिरन्तन को देखते ही उसकी उदास आंखें चमक उठीं। वह लपककर आगे बढ़ी और उससे लिपट गई।

पास ही भदई फूलों में पानी दे रहा, यह सब देख रहा था। अतः उसकी ओर दृष्टि जाते ही वह शर्म से लाल हो, लपककर भीतर चली गई। भदई भी अपने को कोसता, पानी का फव्वारा थामे, दूसरे कोने में खड़ा हो गया।

वितस्ता ने एक बहुत सुन्दर, कलात्मक नया एलबम उसके सामने बढ़ाया,

"खाली बैठे-बैठे क्या करती! आपके बक्स में कितने सुन्दर-सुन्दर फोटो यों ही घास-कूड़े की तरह ठुंसे थे। सोचा उन्हें ही ठीक कर दूं।"

उन्हें देखते ही चिरन्तन को कुछ कहते न बना। मौन-भाव से, दार्शनिक-ढंग से पन्ने पलटता रहा। ये वे चित्र थे, जो उसकी पूर्व-प्रेमिकाओं ने 'अमित स्नेह' के साथ समर्पित किए थे।

कोई नारी ऐसा व्यवहार भी कर सकती है, वह सोच नहीं सकता था। पर यह वितस्ता नाम की लड़की वस्तुतः क्या है—उसकी समझ में न आता था।

"इन्हें देखकर तुम्हें ईर्ष्या नहीं हुई?"

"ईर्ष्या क्यों हो भला!" बड़े सहज-भाव से वितस्ता कहने लगी—"जो आपको प्रिय हैं, वे सब मुझे भी प्रिय हैं। जिन्हें आपने अपने प्राणों से भी अधिक चाहा, मेरे लिए उनका मूल्य मेरे प्राणों से भी अधिक क्यों न हो! विवाह की वेदी पर, परमात्मा को साक्षी रखकर, मैंने सौगन्ध खाई कि जिस ढंग से आप सुखी रहें, जो आपको अच्छा लगे, उसी को अच्छा मानकर आपके चरणों में बैठी, जीवन-पर्यन्त आपकी सेवा करती रहूंगी। मेरी खुशियों का सारा संसार आप पर केन्द्रित है—केवल आप पर!" वितस्ता की आवाज भारी हो गई।

दूसरे दिन रविवार की छुट्टी थी। चिरन्तन लॉन में बेंत की कुर्सियां डाले धूप सेंकता हुआ मैगजीनों के पन्ने पलट रहा था। पास ही बैठी वितस्ता उसके लिए रोएंदार मुलायम ऊन का, पूरी आस्तीन का स्वेटर बुन रही थी और बार-बार घड़ी की ओर देख रही थी।

"आज भी आपको ऑफिस जाना है! सच कह रहे हैं!"

"हां, तोऽ!"

"मैं सोच रही थी, आज आपकी पसन्द की डिश बनाऊंगी। आज धूप में बैठे हम दोनों साथ-साथ भोजन करेंगे।"

चिरन्तन वैसे ही पन्ने पलटता रहा।

"कभी-कभार एक दिन मुझे भी तो दीजिए! केवल इसी दिन के इन्तजार में अपना सारा सप्ताह किस तरह गुजारती हूं, आपको क्या पता!"

चिरन्तन की ओर से उत्तर इस बार न आया तो समझौता करती वितस्ता बोली—"अच्छा, तो शाम को जल्दी आइएगा, हां!"

"शाम को...!" चिरन्तन ने गरदन उठाकर ऊपर देखा और ऐसे कहा जैसे पहली ही बार सुन रहा हो—"शाम को भी समय कहां मिलेगा! जोनल-कमेटी की मीटिंग कभी-कभी तो रात के आठ-नौ बजे तक चलती रहती है। फिर...!"

इस 'फिर' का वितस्ता के पास कौन-सा समाधान हो सकता था। अतः वह चुप हो गई और चिरन्तन भी समय पर गाड़ी लेकर ऑफिस चला गया।

वितस्ता को यह बेबसी से लदा अकेलापन बहुत अखरने लगा। वह अकेले ही अपने आपसे जूझती-झगड़ती रही। कभी उसका मन रोने को होता, कभी अपने बालों को नोचने को। लेकिन फिर एक आशा की सुनहरी लहर-सी दौड़ती और वह चुप हो जाती। उसे इस पर ही कुछ कम सन्तोष न था कि चलो इतने दिनों में चिरन्तन में कुछ तो परिवर्तन आ ही गए हैं। धीरे-धीरे एक दिन पूरा ही बदल जाए तो क्या आश्चर्य! जुबेदा का एक बार भी उसने नाम लिया न था और न कभी हल्की बातें ही कही थीं और न कभी लौटने में ही अकारण बहुत विलम्ब किया था।

पर वह बैठी-बैठी क्या करे! इस तरह से खीझकर, अब वह पीठ के बल बिस्तर पर लेटकर, छत पर लटके रंगीन लाल बल्ब की ओर देख रही थी। आज सितार बजाने को मन न था। न फूलों को सजाने और न पुस्तकों को पढ़ने या घर के किसी और काम-काज में ही।

तभी कमरे के किवाड़ खटके। वह चौंककर उठे इससे पहले ही बिन्दो हथेली में भरी प्लेट थामे खड़ी हो गई—"कहिए, श्रीमती वितस्ता देवीजी, एम. ए. अर्थशास्त्र, आप किस कल्पना-नगरी में विचरण कर रही हैं?" बिन्दो ने सदा की तरह शरारत से अजीब-सा मुंह बनाया।

बिन्दो उसकी बचपन की सहेली है। यहीं पास ही 'बी' स्क्वायर में, पीली-कोठी की मालकिन है। मालिक देश-विदेश में इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का धन्धा करते हैं और यह घर पर अकेली रहती है। खूब पैसे और खूब बाल-बच्चों वाली है। किसी किस्म का कष्ट नहीं। बचपन से ही खुशमिजाज है, मिलनसार है। इसलिए जब भी समय मिलता है, कोई न कोई काम का बहाना बनाकर स्वतः ही चली आती है।

वितस्ता सहसा बिस्तर पर ही उठ बैठी। सामने बिखरे बालों को परे हटाती हुई बोली—"अरी, बैठो न! यह क्या ले आई?"

"अचार, तुम्हारे लिए।"

"क्यों?"

"अरी, भोली!" हाथ नचाते हुए बिन्दो बिल्कुल पास ही सटकर बैठ गई—"हमसे छिपाती हो रानी! अब तो अचार खाने को मन करने लगा होगा न!"

"अचार खाने को! क्यों?"

"च्च...! मेम साहिबा, ये बनाने वाली बातें किसी और से करना। हम

सब जानते हैं।" वह हंस पड़ी।

"अरी, क्या जानती हो? बाईगॉड, मैं समझी नहीं!"

"सच बित्ती, तू तो एकदम निरी-निरी ही है री!" उसके मुंह के पास मीठे अचार की एक फांक ले जाती हुई बोली—"सच, तू कभी इतनी सुन्दर लगती है कि बस, चूमने को जी चाहता है। सच्ची, तू पुरुष होती तो मैं तुझसे ही शादी करती!"

दोनों खिलखिलाकर हंस पड़ीं।

"थोड़ा अचार बाहर से मंगवाया था।" कुछ पल बाद संयत होकर बिन्दो ने कहा—"सोचा तुम्हारा शेयर तुम्हें दे आऊं।...सुन, जब जरूरत पड़े निस्संकोच कहना। तुम्हारे लिए तो मैं अचार का कारखाना तक खुलवा दूंगी...।"

बिन्दो मुस्कराती हुई उठ खड़ी होती है—"अरी सुन तो! देख, अभी भदई से मालूम हुआ कि साहब ऑफिस गए हैं। हम भी अकेले हैं। यही सोचकर सिनेमा के दो टिकट मंगवा लिए। ये देखो!" उसने अपने ब्लाउज में से मुड़े-तुड़े दो टिकट निकाले और वितस्ता की ओर बढ़ा दिए।

वितस्ता असमंजस में सोचती रही—"उनसे पूछे बिना!"

"च्चअ! तो क्या गजब हो जाएगा डार्लिंग! तुम्हारे साहब सात-आठ से पहले लौटने के नहीं और हम छह से पहले ही घर पर हाजिर! फिर...!" बांह पकड़कर बिन्दो ने उसे पलंग पर से उठाया—"जब देखो तब पलंग पर! अरी, पलंग क्या इतना अच्छा लगता है कि...! ब्याह तो सभी के होते है, पर दुनिया का भी तो कुछ लिहाज कर!"

उसे मुंह भींचकर हंसती देख वितस्ता भी अपनी हंसी रोक न पाई।

वास्तव में वितस्ता का कहीं भी जाने को मन न था। लेकिन वह जोंक की तरह ऐसी चिपट गई कि...।

जाते-जाते पिक्चर शुरू हो चुकी थी। हॉल में अंधेरा छा गया था। सामने के सफेद पर्दे पर डाक्यूमेण्ट्री बड़ी तेजी से फिसल रही थी।

थोड़ी देर बाद फिर असली पिक्चर प्रारम्भ हुई। वितस्ता ने देखा, आज छुट्टी का दिन होने के कारण हॉल खचाखच भरा हुआ है। लोग छुट्टी के मूड में हैं। कितने ही दम्पति साथ-साथ बैठे सिनेमा का पूरा-पूरा आनन्द ले रहे हैं। बांहों में बांहें डाले—बीच-बीच में फुसफुसा रहे हैं। अनायास खिलखिला रहे हैं। और एक हैं—उसके पति, जो छुट्टी के दिन भी ऑफिस जाते हैं। जोनल-कमेटी की मीटिंग जिन्हें आए दिन खाए जाती है। जैसे ऑफिस के अलावा जीवन

में उनके लिए और कुछ है ही नहीं! सामने तीसरी कतार में बैठे एक दम्पति पर उसकी निगाहें ठहर गई। अभी-अभी अंधेरा होते ही जिन्होंने बड़ी अदा से एक-दूसरे को 'किस' कर लिया था।

वितस्ता के सारे शरीर में सुरसुरी-सी फैल गई। पिक्चर कहां से शुरू हुई, कहां तक पहुंच गई—उसे फिर कुछ पता न चला। लेकिन इण्टरवल में ज्योंही सहसा प्रकाश फैला, उसकी मुंदी पलकें खुलीं, जैसे वह नींद से जागी हो। अचकचाकर उसने बिन्दो की ओर देखा और फिर सामने तीसरी कतार में बैठे दम्पति की पीठ पर पलकें गड़ गई और खुली-की-खुली रह गईं।

चिरन्तन, बगल की सीट की पिछली पाटी पर दूर तक अपनी बांहें फैलाए बैठा था। बांहों की सीमा-रेखा पास बैठी जुबेदा के दाहिने किनारे के कन्धों तक को घेरे थी। चिरन्तन मुस्करा रहा था। जुबेदा भी बालों में पीले फूल खोंसे मुस्कराकर, चिरन्तन को आंखों-ही-आंखों में पीकर 'कोका' की चुस्कियां ले रही थी।

वितस्ता के पांवों तले धरती खिसक गई। हॉल की सारी-की-सारी छत टूटकर उसके सिर पर गिर पड़ी हो जैसे। वह सिर-दर्द का बहाना बनाकर सीट से उठी और सीधे घर की ओर चल पड़ी।

शाम को चिरन्तन काफी देर से लौटा। वितस्ता आज रोज की तरह अनन्त प्रतीक्षा में खड़ी न रही। न आज उसके कमरे में हल्के-से मद्धिम प्रकाश की किरणें ही फूट रही थीं। न अथाह सूनेपन में डूबे सितार के तार ही चमक रहे थे। चारों ओर सन्नाटा था। बुझा हुआ सन्नाटा—एकदम असह्य, भयावना!

कमरे में पहुंचकर, स्विच पर हाथ गया तो देखा—मेज़ पर जहां रोज वितस्ता अपने पीने के लिए गंगाजल रखती थी, आज औंधे मुंह शराब की खुली बोतल ढुलक रही थी। भुनी मछली के कुछ खाए-अनखाए टुकड़े बिखरे थे। पास ही वितस्ता अर्द्ध-नग्नता में, नशे में चूर पड़ी थी। उसके माथे पर रक्त के कई घाव थे जिनसे अभी तक भी खून बह रहा था। पास ही सितार टूटा था जिसके तार-तार अलग हो गए थे। और पास ही किसी युवा-पुरुष का चित्र था और एकाध प्रेम-पत्र जो वितस्ता को लिखा गया था।

चिरन्तन जैसे सातवें आसमान से धरती पर गिर पड़ा हो। सारी रात उसकी पलकें खुली रहीं—धरती चारों ओर तेजी से घूमती रही।

सुबह वितस्ता कराहती हुई जागी तो देखा—बोतल के टुकड़े रद्दी की टोकरी में पड़े हैं। युवा-पुरुष का चित्र फटकर जमीन पर बिखरा है। चिरन्तन का एलबम भी कूड़े के ढेर में टूटा पड़ा है। चिरन्तन कमरे में नहीं है। उसके जूते पास

ही पड़े हैं। शायद गुसलखाने गया है।

कल रात वह क्या कर बैठी! उसे स्वयं पर विस्मय हो रहा था। साथ ही पश्चाताप और दुःख भी। वह इतनी निर्लज्ज भी हो सकती है, उसने सोचा तक न था।

नहा-धोकर चिरन्तन नाश्ते की मेज़ पर भदई के बदले स्वयं ही प्लेटें सजा रहा था।

वितस्ता ने भागकर उसके हाथों से प्लेटें छीन लीं—"यह क्या कर रहे हैं!"

"क्यों?"

"क्यों क्या? यह आपको शोभा देता है!"

"शोभा क्या देता है, क्या नहीं!...छोड़ो भी!" एक गहरी सांस भरकर चिरन्तन ने कहा।

मेज़ पर दोनों चुप बैठे थे। वितस्ता लाज से सिर ऊपर न उठा पा रही थी, बातें करना तो दूर रहा। चिरन्तन भी गरदन झुकाए था—चुप!

"कल पागलपन में पता नहीं क्या कर बैठी!"

चिरन्तन सिप-सिप चाय निगलता रहा।

"देखिए, मुझे माफ कर दीजिए!" बड़े कातर-भाव से तड़पकर वितस्ता ने कहा—"जिस ढंग से आपको सुख मिले, वैसा कीजिए। आपकी खुशी से मेरी खुशी क्या अलग है! आपको यदि कुंवारी लड़कियों के साथ घूमने और शराब पीने का शौक है, शौक से पीजिए। मुझसे झूठ बोलने की क्या जरूरत! मैं तो कहती हूं, जुबेदा या किसी और को, जो आपको अच्छी लग्ती है, यहीं बुला लीजिए। बाहर छिपकर मिलने से आपकी इज्जत पर बट्टा लगता है। और बाहर के लोगों को कहने-सुनने का मौका मिलता है। मैं आपको कभी भी मना न करूंगी। आपकी खुशियों के लिए मैं सब-कुछ कर सकती हूं—सब-कुछ...।" वितस्ता का गला भर आया।

चिरन्तन उसकी कुर्सी की पाटी पर बैठकर उसके माथे को चुपचाप सहलाने लगा।

"कल रात जो फोटो मेरे सिरहाने रखा था, जिसके गुस्से से आपने टुकड़े-टुकड़े कर दिए न, वह तो बिन्दो के भाई का था।" वितस्ता ने भर्राई आवाज में कहा—"कल उससे मांगकर लाई थी। और वह लव-लेटर भी बिन्दो से ही कल लिखवाया था। आप जोनल-कमेटी की मीटिंग का बहाना बनाकर सिनेमा जाते हैं। यदि मैं भी कोई बहाना बनाकर किसी पर-पुरुष के साथ घूमने लगूं तो आपको अच्छा लगेगा?" वितस्ता ने आंसुओं से भीगा मुख ऊपर उठाया—"लेकिन

देखिए, मैं ऐसा न करूंगी। अपने पांवों के पास थोड़ी-सी ठौर दे दीजिए। वहीं पर पड़ी रहकर जिन्दगी गुजार दूंगी। कभी उफ तक न करूंगी...!" वितस्ता जोर से फूट पड़ी।

चिरन्तन ने उसे बांहों में समेटकर उठाया। उसका आंसुओं से भीगा मुखड़ा ओंठों से छुआ और अपनी हथेलियों में छिपा लिया।



सफेद सपने

आज सारा दिन वह इतनी उदास रही! अब तक की जिंदगी में यह उसका इस तरह का पहला ही अनुभव नहीं था। इतना कुछ देख, सुन लिया था कि उसी के सहारे शेष जिंदगी गुजारी जा सकती थी।

वह खिड़की पर कुछ और झुकती है। कुहनियों पर भार कुछ अधिक पड़ता है। देखती है सामने—बादल का एक ऊनी टुकड़ा भीगी छतरी की तरह आसमान पर झुक आया है...।

हवा में बिखरे बाल! दो उजली स्वच्छ आंखें' प्रायः हर शनिवार को वह चित्र की तरह काउण्टर पर खड़ा हो जाता—

"कोई हैण्डलूम की प्रिंटेड छींट दिखलाएं...।" वह जैसे सिनेमा का कोई डायलॉग दुहरा रहा हो!

वह पूरी-की-पूरी गड्डी उसके सामने कुतुबमीनार की तरह खड़ी कर देती। सामने दीवार पर लगे शीशे में निगाहें टकराती हैं। लगता, उम्र आधी ढल चुकी है।

वह रंगीन कपड़े के टुकड़े उलटता-पुलटता है।

"किस परपज के लिए चाहिए?" वह कुछ सम्हलकर पूछती है।

"ऐसे ही। सिर्फ एक मीटर।"

"क्या ब्लाउज बनाना है?"

वह सामने काउण्टर पर झुकी महिला की ओर, नहीं-नहीं, लड़की की ओर देखता है। फिर कुछ घबराया हुआ-सा थूक निगलता है और किंचित् हल्का होने का प्रयास करता है, "जी हांऽ।"

दोनों की निगाहें मिलती हैं और फिर कपड़ों के टुकड़ों पर उलझ जाती हैं।

"तो बतलाइए, किसमें से दूं—?"

"कोई भी!" वह सामने की ओर देखता है।

तीन-चार टुकड़े छांटकर, वह आगे की ओर बढ़ाती है।

उनमें से भालू के पंजे जैसी डिजाइन वाले कपड़े को वह सबसे ऊपर रखता है।

उसकी अबोध आकृति की ओर वह देखती है, सहज आत्मीयता से, "यह तो अच्छा नहीं लगेगा!"

"तो आप ही दीजिए न अपनी पसंद का!"

"जिनके लिए चाहिए, उन्हें ही ले आते न! स्वयं छांट लेतीं...।"

उसकी आवाज में स्वाभाविकता के साथ-साथ कुछ शरारत भी है, किन्तु वह उसी भोले भाव से उत्तर देता है, "मैंने कहा तो था, पर मानी नहीं। कहती है—साथ-साथ चलने से बदनामी होती है।"

वह हंस पड़ती है। कपड़ा नापती हुई कहती है, "एक मीटर तो अधिक रहेगा। क्या उमर है उनकी?"

"बस्स, समझ लीजिए, मुझे अपने लिए चाहिए। हम दोनों का कद करीब-करीब बराबर है...।"

वह और जोर से हंसती हुई कपड़ा फाड़ती है।

इतने ब्लाउज के टुकड़ों से वह क्या करेगा, उसे सूझता नहीं।

एक दिन लंच के बाद वह काउण्टर पर आई ही थी कि देखा, वही लड़का छोटी मोहरी की पैंट पहने खड़ा है और समीप ही एक लड़की—उसी के बराबर।

"देखिए, एक अच्छा-सा पीस...।"

वह ढेर सारे कपड़े बिखेर देती है।

"आपने जितने भी दिए, इन्हें एक भी पसन्द नहीं आया...इसलिए आज इन्हें ही ले आया हूं...। कल रात की ट्रेन से ये शिमला जा रही हैं, अपने पापा के साथ। इसलिए इनके लिए एक अच्छा-सा पुलओवर भी खरीदना है।" बड़े सयानेपन के साथ वह अपने कर्त्तव्य का बोध कराता है।

साथ आई लड़की को यह अच्छा नहीं लगता कि किसी से इस तरह अपनी व्यक्तिगत बातें कहे। पर उसे जैसे चिन्ता नहीं, वह उसी गति से कहता है, "सुनिए, एक अच्छी-सी साड़ी भी दीजिए।" वह सामने की ओर देखता है, "इनका रंग गोरा है न! काली या सलेटी रंग की खूब फबेगी।"

लड़की कुछ देर तक चुप रहती है। फिर कुछ सोचती हुई अपना मुंह लम्बा

करती है। हौले से उसकी अंगुलियां दबाती है। फुसफुसाती है, "पैसे हैं या...!"

"पैसे की तुम्हें क्या?" वह छोटा-सा, जिसकी दाढ़ी के बाल भी अभी उगे नहीं, बड़े आत्मविश्वास के साथ, तुनककर कहता है।

काउण्टर वाली महिला को विचित्र-सा लगता है। कुतूहल भी होता है। इतना छोटा होने पर भी इसका व्यवहार।

साड़ी भी खरीदी जाती है। पैसे भी चुकाए जाते हैं। साथ आई लड़की की बांहों को सहारा देकर वह बाहर जाता है और सिगरेट सुलगाकर जोर का कश खींचता है।

हवा का तेज झोंका-सा। उसकी झुकी हुई कुहनियों में दर्द होने लगता है–एक तरह की झनझनाहट-सी, जैसे असंख्य सुइयां एक साथ चुभ रही हों।

खिडकी के पर्दे हौले से नीचे लटका देती है। पलंग पर थकी-थकी-सी औंधी गिर पड़ती है और देखती है, वह फिर काउण्टर पर खड़ी है और वह फिर सामने!

एक तस्वीर-सी उलझती है। वह फिर देखती है। फिर–

उसके बाल बहुत अस्त-व्यस्त हैं। कपड़े भी ऐसे ही। आकृति में गहरी उदासी का भाव। चेहरे के भूरे रोंए और लम्बे हो आए हैं।

"क्या चाहिए था?" वह जिज्ञासा से पूछती है।

"कुछ नहीं!"

अपने रूखे होंठों को वह चबाता है। बड़ी तल्खी से काउण्टर पर बिखरे कपड़ों को देखता है। वास्तव में उसका ध्यान कहीं और है। वह देखकर भी कुछ नहीं देख पा रहा है।

"सुनो!" वह अपना मुंह आगे बढ़ाता है। शायद बेहद परेशान है–आपे से बाहर।

वह उत्सुकता से देखती है–

"शाम को छुट्टी के बाद 'वोल्गा' या कहीं मिलो। तुमसे कुछ जरूरी काम है...।" वह साधिकार कहता है, जैसे किसी बच्ची पर हुक्म चला रहा हो।

उससे इस तरह के अप्रत्याशित कथन की आशा नहीं थी उसे।

प्रत्युत्तर में वह कुछ कहे, बोले, उससे पहले ही वह अपनी बात आगे बढ़ाता है, "मैं बाहर कॉरीडोर में खड़ा हूं।" सिगरेट का धुआं वह जैसे भीतर-ही-भीतर निगल लेता है। फिर आंखें गड़ाकर देखता है, "वहां से हम दोनों साथ-साथ चलेंगे।"

वह कुछ कहे, उससे पहले ही वह चला जाता है।

शाम को छुट्टी के बाद हाथ में पर्स झुलाती वह बाहर आती है। देखती है, सचमुच वह रेलिंग के सहारे खड़ा है। रेल के इंजन की तरह सिगरेट का धुआं चारों ओर बिखेर रहा है।

"चलो!" लपककर वह पास आता है और उसके उत्तर का इन्तजार किए बिना साथ-साथ चलने लगता है।

वह कुछ भी कह नहीं पाती। केवल हैरान-सी होकर रह जाती है।

एक किनारे की सीट पर वे बैठते हैं। एक ही सांस में वह पानी का गिलास रीता कर देता है। ठण्डे गिलास के बाहर ओस की-सी कुछ बूंदें झलक रही हैं।

अंगुलियों के बीच दबी तीन-चौथाई सिगरेट वह ऐश-ट्रे में डुबो देता है और फिर रूमाल से होंठों को पोंछता हुआ गम्भीरता से कहता है, "देखा, मैंने उसके लिए कितना कुछ नहीं किया, किन्तु शिमला से लौटने के बाद...।"

वह आंखें मिचमिचाकर देखता है। यों ही देखता है, "अब वह अपने लेक्चरार के साथ घूमती है—दिन-रात उसी के साथ। कहती है, वह उसका भविष्य बना रहा है...।"

स्वर टूटा-टूटा-सा। मायूसी जैसा भाव। वह जीभ अपने होंठों पर फेरता है, "मैंने इधर बहुत 'ड्रिंक' किया। देखो न, मेरी आँखें कितनी सूज गई हैं। कितनी ही रातें मैंने पार्कों में पड़े-पड़े गुजार दीं। पढ़ने में भी अब मन नहीं लगता, कहीं भी तो नहीं। कितनी बार सोचता हूं, आत्महत्या कर लूं। मैं बुरी तरह टूट गया हूं।"

उसका हाथ वह अपने हाथों में लेता है। नन्ही-नन्ही अंगुलियों को सहलाता है। फिर अपना माथा उन पर टिका देता है।

वह सशंकित भाव से इधर-उधर देखती है। कहीं कोई देख तो नहीं रहा! उसकी समझ में नहीं आता, यह क्या कर रहा है!

"पिछले तीन महीने से मैंने किताब के पन्ने तक नहीं पलटे।" वह जैसे अपने से कह रहा हो, "कॉलेज की फीस तक के पैसे उस पर खरच डाले। अपने सूट के रुपये उस पर लगा दिए, पर उसने कहीं का भी नहीं रख छोड़ा मुझे। अब कहती है, मुझमें बचपना है। ढंग से प्यार करना नहीं आता मुझे...।" वह कहीं भी न देखकर पलकें मूंद लेता है।

कॉफी आती है। कुछ खाने के लिए भी।

"घर वाले इस सबसे तुम्हें रोकते नहीं?" वह कुछ सोचती हुई कहती है।

"है ही कौन घर पर...।" उसका स्वर बड़ा वैसा हो आता है, "अम्मा

को गुजरे अब बारह साल हो गए। बड़ी दिद्दी शादी के बाद ससुराल चली गई। पिताजी बिजनेस टूर पर बाहर रहते हैं। उनकी सारी आशाएं मुझ पर केन्द्रित हैं। वास्तव में मेरे लिए ही उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। मेरे अलावा परिवार में अब है ही कौन...?" वह कहते-कहते जैसे हांफने-सा लगा।

कुछ समय तक सन्नाटा रहना है। पास ही किसी कमरे से पाश्चात्य संगीत की हल्की-हल्की धुन!

"तुम्हें देर तो नहीं हो रही—?"

"न्ना!" वह कहती है।

"इन चक्करों में पड़ते ही क्यों हो?" वह मन-ही-मन कुछ दुहराती है। सोचती है। कहती है, "पढ़ने में लगे रहो। इन व्यर्थ की बातों से क्या लाभ...?"

सामने रखे रीते गिलास को वह बड़ी तल्खी से देखता है, "मैं कहां पड़ा! उसी ने मेरे साथ जबर्दस्ती घूमना शुरू किया। किताब का बहाना बनाकर हमारे घर आई। पहले ही दिन मेरी 'रिस्टवॉच' पहनकर ले गई। लोग कहते हैं, वह तो पहले से ही बुरी थी। अपने हाथों जोर देकर मुझे 'बीयर' पिलाती थी और फिर बुरी तरह नोचती थी...।" अपने सफेद गाल पर उसने काला-सा खरोंच का निशान दिखलाया।

'अब भी क्या बिगड़ा है...?' वह कहना चाहती है, पर कह नहीं पाती। शायद कुछ सोचकर चुप हो जाती है।

"तुम्हारे कॉलेज खुल गए?"

"हां।"

"अटैंड करते हो?"

"कभी-कभी...।" वह उसकी ओर देखता है, "हायर सेकण्डरी में मेरी पहली पोजीशन थी, पर अब पास होना ही कठिन हो गया है।"

बैठे-बैठे बहुत समय गुजर जाता है। वह घड़ी की ओर देखती है।

लड़का खोया-खोया-सा है। पता नहीं बिल के कितने पैसे चुकाता है। बाहर पान वाले से सिगरेट का बीस वाला पैकेट खरीदता है।

दोनों चुपचाप चलते रहते हैं।

"आज सुबह से मेरा मूड ऑफ था।" वह जैसे स्वयं को सुना रहा हो, "विचित्र-सी बेचैनी अनुभव कर रहा था। मुझे सूझता नहीं था कि क्या करूं? किधर जाऊं?...पर अब पहले से बैटर फील कर रहा हूं।"

वह कुछ नहीं कहती।

बस-स्टॉप पर अब कोई भी नहीं। लगता है, अधिक समय बीत गया है।

इतनी रात तक भी कहीं बसें चला करती हैं?

"तुम कैसे जाओगी?"

"कुछ मिल जाएगा।"

"क्या अकेली जाओगी?" वह गुस्से से कहता है। सामने भाग रहा एक खाली स्कूटर रुकवाता है, "बैठो!"

वह बैठ जाती है। और वह भी एक किनारे पर धंस पड़ता है, "तुम्हें छोड़कर इसी से वापस आ जाऊंगा...।"

पुराना स्कूटर सूनी सड़क पर लड़खड़ाता, खड़खड़ाता बूढ़े खरगोश की तरह उछलता हुआ भागने लगता है।

मोड़ पर हवा के झोंके के साथ वह सम्हलता है, "मेरी बात का तुम बुरा तो नहीं मानतीं!" वह जैसे किसी दुधमुंही बच्ची को समझा रहा हो।

"नहीं तो—!"

"तुमसे कुछ ऐसा-वैसा कह बैठा हूं तो फील न करना। मैं तुम्हें केवल एक मित्र के रूप में लेता हूं...।" वह दूर से आती गाड़ी की ओर देखता है, "वास्तव में उस लड़की ने मुझे पागल बना दिया है। उसके लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।...सच, अब मेरे पास कुछ भी तो नहीं है।" उसकी आवाज जैसे भंवर में डूब जाती है!

मोड़ पर स्कूटर का झटका उन्हें और पास ले आता है। वह उसके दुबले-पतले हाथों को अपनी गोद में रख लेती है। उसके बिखरे बालों को अपनी अंगुलियों की कंघी से सहलाती है।

"तुम्हारा माथा तप रहा है! 'फीवर' तो नहीं?" अंधियारे में उसके चेहरे के भावों को परखने के लिए वह अपनी पलकें फैलाती है।

"सच, न जाने क्या हो गया है मुझे!" वह जैसे उसी परिधि पर अब तक घूम रहा है, "कभी-कभी तो अपने से ही डर लगने लगता है। घर लौटने को मन नहीं। सोचता हूं, कुछ खा लूं और—!"

वह उसके होंठों पर अपनी हथेली धर देती है। उसे पास खींचती है और वह सिमटकर और छोटा हो आता है।

"ऐसा नहीं कहते, हां!" वह उसे सम्हालती है।

वह कुछ नहीं कह पाता।

घर से पहले ही उतर जाती है वह। पर्स से पैसे निकालने लगती है, पर वह मना कर देता है।

लगभग दो सप्ताह तक फिर वह कहीं दीखता नहीं। एक दिन छुट्टी के बाद बस-स्टॉप पर खड़ी रहती है तो देखे का अनदेखा कर वह सामने से निकल जाता है।

पहले के मुकाबले वह चुस्त-दुरुस्त नजर आता है। कपड़े संवरे, दाढ़ी बनी, हाथ में सदा की तरह सुलगती सिगरेट। दो-तीन हमउम्र दोस्त और हल्की-हल्की हसी—निर्दोष, निश्चिन्त!

उसे बड़ा भला लगता है। अभी उमर ही क्या है! जिसने जिधर बहका दिया!

थोड़ी देर बाद उसे लगता है, कोई उसके सामने खड़ा मुस्करा रहा है।

"मैंने पहले ही देख लिया था तुम्हें, पर दोस्तों के बीच केसे बातें करता! उन्हें 'रीगल' तक छोड़ आया हूं...। कहो, ठीक तो हो न?" वह बड़े सरल भाव से हंसता है। संगमरमर से सफेद दांतों की पाटी चमकती है।

वह कुछ नहीं कह पाती, उसकी ओर अपलक देखती मुस्कराती रहती है।

"यहां खड़े-खड़े घण्टा बीत गया। तुम्हें कब से ढूंढ रहा हूं। सुनो, मेरे लिए कुछ कपड़ा-वपड़ा खरीद दो न! तुम्हारी 'च्वॉयस' बड़ी अच्छी है।"

"तो वहीं चले आते—'भवन' में।"

"वहां—!" वह उसकी ओर देखता है, "वह भी कोई कपड़ा खरीदने की जगह है! 'वह' कहती थी न, यह बूढ़े लोगों की दुकान है। इसीलिए शायद उसने मेरा खरीदा कोई भी ब्लाउज कभी नहीं पहना...।"

वह मुस्कराती है।

"चलो न!" वह साधिकार कहता है।

उसे आज जल्दी घर पहुंचना था, मेहमान आने वाले थे। परन्तु वह मना नही कर पाती। साथ-साथ चलने लगती है।

लगभग तीस-चालीस कदम वे चलते रहे, चुपचाप। बस-स्टॉप की सीमा-रेखा को पार करने के पश्चात वह हौले से, उसकी ओर देखता हुआ बोला, "मेने अब सारे चक्कर छोड़ दिंए हैं। पिताजी कहते हैं, मेरी तन्दुरुस्ती गिर गई है। इस साल मैंने फिर 'टॉप' करने का निश्चय किया है। पिताजी ने कहा है कि दो वर्ष यहां पूरे करने के पश्चात् वे मुझे फॉरेन भेज देंगे...।"

उसे खुशी होती है कि अब वह समझदार हो रहा है।

अब वे कनॉट सर्कस के भीतर वाले गोल दायरे में हैं। हौले-हौले चल रहे हैं, दुकान की खोज में। जबकि वे भलीभांति जानते हैं कि दुकानें कब की बद हो चुकी हैं। फिर कपड़ा कहां से खरीदेंगे! फिर भी चल रहे हैं। चलते

चले जा रहे हैं।

"तुम्हें क्या 'पे' मिलती है?"

"लगभग तेरह सौ।"

"कब से हो यहां?"

"कोई पांचेक साल से।"

"खद्दर बेचती-बेचती बुढ़िया हो जाओगी एक दिन...।" वह हल्के ढंग से कहता है।

"हो तो गई हूं!" वह हंस पड़ती है।

वह 'कॉफी हाउस' की ओर मुड़ता है। वह भी मौन भाव से चलती रहती है।

दोनों भीतर जाकर कुछ हल्के से हो आते हैं। वह छोटे बच्चों की तरह उसे समझाती है कि इस कच्ची उम्र में इस ओर नहीं बढ़ना चाहिए। शुरू-शुरू में अच्छा लगता है। लगता है, यही सब-कुछ है। पर धीरे-धीरे ये सारी वस्तुएं एक व्यसन बन जाती हैं...। काम करने वाली कुंवारी लड़कियों की तो आजीवन विवशता होती है—कभी प्यार की, कभी रोजी-रोटी की...। बाद में उम्र ढलने पर एकान्त की। एक अवस्था ऐसी आती है जब आदमी बहुत अकेलापन अनुभव करता है। उम्र बढ़ जाती है। शादी की सम्भावनाएं समाप्त हो जाती हैं। तब औरत की जिंदगी कैसी-कैसी हो जाती है, कल्पना भी नहीं कर सकते! मेरी उम्र भले ही अभी उतनी नहीं...मुझे ही देख लो...।" वह उसकी ओर न जाने किस भाव से देखती है और सामने मेज़ पर दोनों कुहनियां टिका देती है।

आज दोनों को जल्दी है। दोनों ही अधिक बैठने के मूड में नहीं हैं। बाहर निकलकर वह चलते-चलते कहता है, "कभी घर आना। मां के फोटो वाला एलबम तुम्हें दिखलाऊंगा! समय मिला तो करौलबाग से कुछ कपड़े खरीद दोगी? मेरे पास अब एक भी अच्छा कपड़ा नहीं।"

वह सिर हिलाती है।

"परसों 'सन-डे' दोपहर। खाना साथ-साथ...।"

"..."

"तुम्हें घर ढूंढने में परेशानी होगी...मैं ले आऊंगा...।"

किसी निश्चित समय के साथ किसी निश्चित बस-स्टॉप का नाम लेकर वह चली जाती है।

सचमुच बस-स्टॉप पर उस दिन वह प्रतीक्षा में खड़ी रहती है। दोनों साथ-साथ घर आते हैं।

बहुत बड़ा घर, खुला-खुला-सा। ऐसे मकान दिल्ली में रहने के लिए कितनों को मिल पाते हैं! वह बड़े कुतूहल से हर वस्तु को देखती-परखती है।

वह बाथरूम में नहाने के लिए चला जाता है।

हमेशा की तरह मात्र तौलिया पहने बाहर आता है।

"खाली बैठी-बैठी क्या कर रही हो! जब तक मैं कपड़े पहनकर तैयार होता हूं, तुम एलबम देखो।" वह जल्दी-जल्दी अलमारी से एलबम निकालता है।

"ये देखो ये...बचपन में मैं ऐसा था..." वह जल्दी से एक-दो पृष्ठ पलटता हे। परन्तु वह चाहकर भी एलबम पर दृष्टि टिका नहीं पाती। उसके कुंवारे सुकोमल शरीर से गंध-सी फूट रही है। नहाने के बाद वह और ताजा लग रहा है।

वह स्वप्नमयी आंखों से देख रही है। उसके होंठों पर कितनी पवित्र मुस्कान खेल रही है।

वह कह रहा है—"सात साल की अवस्था तक भी अम्मा मुझे गोटे वाली टोपी पहनाया करती थी...अच्छा, तुम देखो।" उसे जाने की जल्दी है।

"जरा ठीक से समझाओ न! जल्दी मे कुछ दीखता नहीं!" वह शिकायत से कहती है। और वह कुछ उत्तर दे, उससे पहले ही फिर बोल पड़ती है, "ये तुम्हारी माताजी हैं न! और वह बगल में पानी की बाल्टी में नंगा बैठा...।" वह शरारत से हंसती है, तो वह झेंप जाता है।

"पहले मैं कपड़े तो बदल लूं...!"

"एलबम तो पूरा दिखलाया नहीं, जिसके लिए बुलाया था ।"

"तुम देख लो न!"

"ना, ऐसे नहीं!"

"तो—?"

"तुम दिखलाओ न पास बैठकर। हमें बिना बतलाए क्या पता चलेगा कि कौन क्या है?" वह उससे और सटकर बैठ जाती है। उसका दिल कुछ और धड़कने लगता है। गंध कुछ और बढ़ जाती है।

वह उठने लगता है तो उसका हाथ पकड़कर वह और समीप खींच लेती है! बनावटी गुस्से से देखती है, "ऐसी भी जल्दी क्या है!"

वह विवश होकर वैसा ही बैठा रहता है, जल्दी-जल्दी पन्ने पलटता हुआ।

पर उसे कुछ दीखता नहीं। केवल पन्ने एक के बाद एक। और फिर दोनों हथेलियों में अपना मुंह जोर से छिपा लेती है। उसकी सांस रुकने-सी लगती है...।

तभी पट्टू दरवाजा खटखटाता है। वह अचकचाकर जैसे नींद से जागती

है। देखती है—अम्मा दूध की लस्सी का गिलास थामे खड़ी है, "अरी, क्या सारा दिन सोती रहेगी?"

वह कुछ कह नहीं पाती!

"अभी बाजार भी तो चलना है। राशन खरीदने...।"

"पांच भी तो अभी बजे नहीं। छह-सवा छह तक चलेंगे। तब तक तुम भी तैयार हो लो।"

अम्मा पट्टू को घसीटती हुई ले जाती है। उसे लगता है, जैसे शीशे का-सा सुन्दर, पारदर्शी सपना अम्मा ने पत्थर फेंककर तोड़ दिया हो। लस्सी का गिलास एक ही सांस में पीकर फिर निढाल हो जाती है।

पर विचारों की कड़ी फिर देर तक जुड़ नहीं पाती...वह फिर पलकें मूंद लेती है, गंदले पानी में झांकती, कुछ अकारण टटोलने लगती है।

एक झोंका-सा आता है। उसे लगने लगता है, जैसे वह सामने खड़ा है। उसकी ओर न जाने किन निगाहों से ताक रहा है। उसकी दाढ़ी बढ़ी है, आंखों के कोर सजल हैं। कपड़े भी पागलों जैसे। एक किनारे ले जाता है वह।

"वह लड़की फिर आई थी मेरे पास। सच, वह जार-जार रो रही थी। कहती थी, वह मुसीबत में पड़ गई है। बड़ी बदनामी हो रही है। सबको पता चल गया है। इसलिए अबॉर्शन की भी सम्भावना नहीं। बस, आत्महत्या के अलावा अब और कोई रास्ता नहीं...।"

"बतलाती किसका है?"

"पता नहीं। वैसे उसका इशारा लेक्चरार की तरफ था।"

"तो वह क्या कहता है?"

"सुना है, चुप है। कहता है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो पहले से ही बाल-बच्चों वाला है...।"

"तो फिर...?"

"यही कि कल लेक्चरार मेरे पांवों पर गिरकर कह रहा था कि यदि मैं कह दूं कि यह दोष मेरा है, तो सारी समस्या सुलझ जाएगी। वह मेरे लिए कुछ भी करने को तैयार है। कहता था, उसके मामा 'एम.पी.' हैं। कहीं अच्छी नौकरी दिलवा देगा। घर वाले निकाल भी दें तो कोई बात नहीं। लड़की की देख-रेख वह पहले की तरह अब भी करेगा। लड़की भी यही कहती है। एकान्त में ले जाकर, मुझसे लिपट-लिपटकर रोती थी। कहती थी—वह तो केवल मुझे ही प्यार करती रही है। लेक्चरार ने तो कुछ लालच देकर मात्र बहका दिया था। ऐसा कोई दिन नहीं, जब उसने मुझे याद नहीं किया हो और याद करके

खूब रोई न हो।"

"तो फिर...?"

"क्या करता! मैंने बात मान ली।"

"क्यों...?"

"आखिर मेरा उसके प्रति प्यार तो रहा ही है न! क्या प्यार का ही दूसरा नाम 'सेक्रिफाइस' नहीं?"

उसे लगा, उसने जैसे पुस्तक में लिखा कोई वाक्य दुहरा दिया हो।

"तुम्हारे घर वाले क्या कहते हैं?"

"कहते क्या हैं! पिताजी ने खाना-पीना सब छोड़ दिया है। कहते हैं, उनकी लाश पर ही यह सब होगा...।"

"इस बुढ़ापे में उन्हें कष्ट दे रहे हो! खुदा न खास्ता उन्हें कुछ हो गया तो तुम क्या करोगे? तुमसे इत्ता बड़ा कारोबार सम्हाला जाएगा? एक ही दिन में भिखारी बन जाओगे लल्लू मियां...!"

"तो क्या करूं?" विवश होकर वह किनारा टटोलता है।

"...।"

"पिताजी कहते हैं..." वह कुछ सोचता हुआ दुहराता है, "कि मैं यहां से बम्बई चला जाऊं और वहीं मंझली बुआ के पास रहकर पढ़ूं।"

"फिर तुमने क्या सोचा?"

"सोचना क्या है?" वह झटके के साथ सिर हिलाता है, "क्या करूं? वहीं चला जाऊं? सच, पिताजी का दुख देखा नहीं जाता। इस बुढ़ापे में बच्चों की तरह रोते हैं। कहते हैं, मैंने उन्हें कहीं का भी नहीं रख छोड़ा।"

वह देखती रहती है, यह भी कैसा व्यक्ति है! जिसने जो कहा, उसे ही ठीक मान लेता है।

दोनों देर तक चुप रहते हैं।

वह सहसा सन्नाटा तोड़ती हुई कहती है, "उसका तो खैर कुछ न कुछ हो ही जाएगा, पर मेरा क्या होगा?"

"क्यों, तुम्हारा क्या होना है?" वह आंखें पिचमिचाता है, आश्चर्य से।

"मेरा क्यों कुछ नहीं होना है?" वह कुछ गुस्से से कहती है, "मेरे साथ तुमने जो कुछ किया है, उसका भी कुछ प्रबन्ध करोगे या सीधे बम्बई भाग जाओगे? मेरे पास तो कोई ऐसा लेक्चरार भी नहीं है, जिसका नाम ले सकूं। तुम्हें ही उसका कुछ करना है...।"

"हे भगवान...!" वह जैसे सातवें आसमान से नीचे गिर पड़ता है।

"सच कह रही हो?" उसकी आवाज बैठ जाती है। रक्त जमने-सा लगता है। उसके ओंठों पर वह अपनी हथेली रख देता है, "परमात्मा के लिए ऐसा न कहो! लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे! पिताजी तो वहीं पर दम तोड़ देंगे!" उसका गला सूख आता है। वह हांफने-सा लगता है।

वह ठहाका मारकर हंस पड़ती है, "अरे, मर्दों के एक नहीं, इक्कीस विवाह होते हैं। फिर तुम दो-चार में ही घबरा जाओगे तो कैसे चलेगा!"

वह कुछ कह नहीं पाता। उसके पांव लड़खड़ाने लगते हैं।

सामने पार्क की हरी दूब पर दोनों बैठ जाते हैं।

"बेबी का नाम क्या रखोगे?"

"...।"

"बम्बई चलो तो दो टिकट खरीदना। मैं भी बुआ के पास रहूंगी...।"

उसके हाथों को वह कसकर दबाता है। दबाता चला जाता है, जैसे गला घोंट रहा हो।

"अरे र...ये क्या? लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। सोचेंगे, पता नहीं ये क्या कर रहे हैं!" अपने को छुड़ाती हुई वह जोर से हंस पड़ती है। अंधियारे में देखती है, "बस, घबरा गए!" वह मुस्कराती है, "अच्छा बाबा, जाओ माफ किया! जो होगा, हम खुद भुगत लेंगे। तुम आराम से जाओ बम्बई...।"

उसकी सांस में सांस आती है।

"वहां जाकर खूब मेहनत से पढ़ोगे न?"

"हां।"

"कभी दिल्ली नहीं आओगे?"

"नहीं।"

"मुझे बम्बई नहीं बुलाओगे?"

"क्यों?"

"क्यों क्या, सुना है वहां बहुत बड़ा समुद्र है। डूब मरने में सहूलियत होगी!"

वह हंस पड़ती है तो उसके गाल पर वह यों ही हल्की-सी चपत लगाता है। उसे लगता है, उसका गाल अभी तक भी झनझना रहा है। अभी तक भी लाल है। वह फिर कलाई पर बंधी घड़ी की ओर देखती है। सोचती है—बम्बई के रास्ते पर उसकी ट्रेन अब कहां तक पहुंची होगी!

□

एक पारमिता

बाबूजी आंखों पर चश्मा चढाए चुपचाप कमरे में आते हैं और मेज़ पर टाइमपीस के नीचे कागज़ का एक छोटा-सा टुकड़ा दबाकर लौट जाते हैं।

पारमिता की निगाहें किताब से उठकर कागज़ पर जा अटकती हैं। वह हौले-से उठकर कागज़ खोलती है ओर फिर उसी तरह मोड़कर रख देती है।

"हूं!" अजीब-सा मुंह बनाकर वह खिड़की में बैठ जाती है।

अम्मा ने आज सारे घर की उथल-पुथल शुरू कर डाली है। आंगन में मेहतरानी कब की बुहारी लगाकर लौट गई है। फर्श को तीन बार धोया गया हे। बाबूजी को बाफ्ते का कुरता, अण्डी की जवाहरकट के साथ बक्स में से निकाल दिया है। टेबल पर धुला मेज़पोश और सोफे पर नई गद्दिया बिछा डाली हे। तारो, कनिका, चच्चन और बड़ी बुआ ने भी कपड़े बदलने शुरू कर दिए हैं।

अम्मा सुबह से परेशान हैं। बार-बार कमरे में आकर झिड़क जाती हे—"पारो, नहाती-धोती क्यों नहीं? बाल काढ़ ले और वो पीली वाली सिल्क की साडी पहन ले...।"

पारमिता को कुछ सुनाई नहीं देता। मेज़ पर धरा कागज़ एक बार और पढती है। फिर किताब के काले पन्ने एक के बाद एक उलटती रहती है—यों ही—बार-बार। उसे लगता है, पारमिता वह नहीं, बल्कि कोई दूसरी ही लड़की है—जिसे उसने देखा है, जिसे वह जानती है।

गुड़ी-मुड़ी-सी वह बैठक में बैठी है। उसका दिल धक्-धक् कर रहा है। लजाकर वह और सिकुड़ जाती है।

अम्मा, बाबूजी सब एक-एक कर काम के बहाने उठकर बाहर चले जाते हैं और कमरे में एक असह्य सन्नाटा छा जाता है।

"तुमने बी. ए. पास किया है?"

"जी।"

"एम. ए. क्यों नहीं कर लिया?"

वह चुप रहती है।

"लिट्रेचर में इन्ट्रेस्टेड हो?"

"जी।"

"गाना भी गा लेती हो?"

"जी।"

"कोई गाना सुना सकती हो अभी?"

वह चुप रहती है।

"तुम्हारा फोटो तो बड़ा सुन्दर था...जरा देखो इधर...।"

वह और सिकुड़ जाती है। उसका शरीर कांपने लगता है। रंग लाल पड जाता है। फिर भी वह आंचल हटाती है।

क्षण-भर सन्नाटा रहता है।

"हं! तो तुम खूबसूरत तो बहुत हो...अच्छा, एक बात बताओ...।"

वह जिज्ञासा से देखती है।

"किसी से लव-अफेयर्स भी चले थे कभी?"

वह अवाक् देखती है।

"उमर के साथ-साथ कुछ तो चलता रहता है न! कॉलेज में पढ़ते समय ...या...या...फिर...इतनी खूबसूरत होकर न चले, असम्भव है।"

पारमिता क्या कहे।

"बोलतीं क्यों नहीं?"

वह केवल चुपचाप रो देती है और कमरे से उठकर चली जाती है।

तीन महीने तक बाबूजी खत की राह देखते रहते हैं। अन्त में छोटा-सा पत्र आता है और सबके चेहरों पर हमेशा की तरह राख फैल जाती है।

एक दिन कहीं से फिर पत्र आता है। घर की नए सिरे से सफाई होती है। बाबूजी बक्स में से फिर बाफ्ते का कुरता और अण्डी की जवाहरकट निकालते हैं। तारो, कनिका सब एक-एक कर कपड़े बदलने शुरू कर देते हैं।

"ज्वाइण्ट फैमिली है। रह सकोगी?"

"जी।"

"पहली वाइफ गुजर गई। उससे केवल एक बच्चा है। प्यार कर सकोगी?"

"जी।"

"आमदनी थोड़ी-सी है। बिसाते की दुकान है छोटी-सी। गुजारा चला सकोगी?"

"जी।"

बस, इसी 'जी' के साथ बात समाप्त हो जाती है। इस बार सब खुश हैं।

अम्मा-बाबूजी डाकिए की राह देखते हैं। सवा महीने के भीतर सूचना आती है—इतनी पढ़ी-लिखी बहू से काम नहीं चल सकेगा। और सब फिर चुप हो जाते हैं।

इसी तरह हर दूसरे-तीसरे महीने एक नुमाइश लगती है और खत्म हो जाती है। पर अब उसे सारे प्रश्नों के उत्तर देने आते हैं। अम्मा-बाबूजी को सिखलाने की आवश्यकता नहीं रहती। अब उसका मुंह लज्जा से लाल भी नहीं होता। अब वह अधिक सिमटती भी नहीं। मशीन की तरह प्रश्नों का उत्तर देती जाती है। ले...कि...न...

"पारो, तू क्या कर रही है? यह पढ़ने का समय है। सवा आठ बज गए।"

पारो किताब बन्द करती है। नहाती-धोती है और सिल्क की साड़ी पहनकर हमेशा की तरह ड्राइंगरूम में जाती है।

सबके हट जाने पर फिर मौन व्याप जाता है।

इस बार पहल उसी की ओर से है, "देखिए, आप मुझे देखने आए हैं। है न?"

अजनबी उसकी ओर देखता है।

"तो देखिए। लोगों की निगाह मे मै सुन्दर हूं, शायद आपकी निगाह में भी सुन्दर होऊं! इसीलिए हो सकता है, कभी मेरे लव-अफेयर्स भी चले हों शायद—वास्तव में चले नहीं। लोग मुझे कुछ पढ़ी-लिखी भी मानते हैं और बहुतों का कहना है कि साधारण घराने में मेरा गुजारा नहीं चल सकता। वैसे मैं आपको बताती हूं...यह कीमती साड़ी मेरी नहीं, मेरी जीजी की है...जो इसी काम के लिए हमने उधार मांग रखी है...तो बतलाइए, आप अब भी मुझसे शादी करना चाहते है?"

अजनबी को अपने कानों पर विश्वास नहीं होता, पर वह कहती जाती है, "अच्छा बतलाइए, आपने अब तक कितनी लड़कियां देखी हैं? आप पढ़े-लिखे है। होनहार हैं। शरीफ घराने के हैं। फिर घर-घर जाकर नुमाइश लगवाना आपको अच्छा लगता है? सुनिए, मुझे भी किसी के साथ अपनी जिन्दगी बसर करनी है। और फिर मेरी भी अपनी पसन्द है...और सुनिए, आप मुझे कतई पसन्द नहीं हैं...।"

उठकर वह बाहर चली जाती है।

घर में सब विस्मित रह जाते हैं।

बाबूजी की बूढ़ी आंखों पर बेबसी का जल छलक आता है। अम्मा माथा पीटने लगती हैं, "तुझे क्या हो गया है पारो? तूने क्या कर दिया? तेरे लिए यह रोज-रोज का नाटक कब तक रचते रहें? तुझे अब तीस साल पूरे होने को हैं...।" मां जोर से रो पड़ती हैं।

गूंगी-सी पारमिता सब सुनती रहती हे। अपने कमरे में जाकर किवाड़ वन्द कर लेती है, कागज़ टटोलती है, फिर कैलेण्डर की ओर देखती है।

क्या उसे अभी बी. एड. में प्रवेश नहीं मिल सकता? क्या उसे कोई नौकरी नहीं मिल सकती? क्या वह अपना भार इस उम्र में भी खुद नही उठा सकती ...क्यों नहीं उठा सकती...क्यों?

उसकी आंखें 'क्यों' के साथ शून्य में निराधार अटक जाती हैं, जिनमें बूंद-बूंद कर जल टपकता रहता है।



रथ-चक्र

पीली-पीली धूप निखरने लगी है। चीड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ और भी ऊंचे लग रहे हैं। बर्फ से ढंकी पहाड़ों की चोटियां पिघले सोने की तरह चमक रही हैं। धुंधलके के उस पार मैं कुछ खोज रहा हूं, पर स्पष्ट कुछ दीखता नहीं।

आज इतने लम्बे अर्से बाद मैं फिर आया हूं यहां। उस जगह, जिसे घर कहते हैं। यहां के कण-कण में कितने ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब बनते-बिगड़ते देखे हैं मैंने! शैशव की कितनी ही हर्ष-विषाद-मिश्रित स्मृतियां!

पिताजी जब गुजरे, हम छोटे थे। मां का बिलख-बिखलकर रोना, दीदी के कभी न थमने वाले आंसू, बाबा का कोरा कागज़-सा सफेद चेहरा—आज भी अनायास याद आता है तो अजीब सिहरन-सी होती है और मैं कांप-कांप उठता हूं।

मैं तब मनु के बराबर था। देहरी के पास बैठी मां चूड़ियां तोड़ रही थीं। बाबा पत्थर की तरह गुम-सुम हो गए थे। एक भी शब्द बोल न पा रहे थे। दीदी मुझे गोदी में उठाए चुपचाप रो रही थी—रोए जा रही थी!

पिताजी की अकाल-मृत्यु ने बाबा को और भी बूढ़ा बना दिया था। हाथ-पांव अब अधिक चल न पाते थे। स्मृति भी अब किसी सीमा तक साथ छोड़ रही थी। बातें करते-करते बहक उठते। बार-बार बताने पर भी काई बात जल्दी भूल जाते।

जिनके पास दुकान का जितना उधार था, उन सबने ठेंगे दिखला दिए थे। रिश्तेदारों ने मदद देना तो अलग रहा, पिताजी की आकस्मिक मौत का पूरा-पूरा फायदा उठा लिया था। दुबारा अपनी रकमें वसूल करने से भी वे चूके न थे।

किसी पड़ोसी दुकानदार ने ग्राहक तोड़ लिए थे। किसी ने अपने बगल की हमारी जमीन दबा ली थी। घर-बाहर के सभी लोग जैसे हमें नोचने के लिए उठ खड़े हो गए थे। संकट की ऐसी घड़ी में कोई भी तो नहीं दीखता था अपना।

किसी से कुछ कहा नहीं कि लोग हाथापाई करने पर उतारू हो जाते। बाबा बूढ़े थे, हम छोटे!

एक दिन बड़े भैया को बाबा ने बुलाया। पता नहीं क्या कहा कि बड़े भैया सारा दिन उदास रहे। शाम को हम खेत से लौट रहे थे कि भैया बोले, "जित्तू, मैं पढ़ने अल्मोड़ा जाऊं तो तू घर का काम देख लेगा?"

मेरी समझ में बात आई नहीं। भैया पढ़ने जाएं, यह ठीक है, लेकिन घर में मुझे क्या संभालना है—कैसे?

"तू सारा दिन आवारागर्दी करता रहता है। देख न, बाबा बूढ़े हो गए। इतना बड़ा करोबार है। दुकान में उनसे अधिक काम हो नहीं पाता। मुनीम रखते हैं, लेकिन वे भी लूट-खसोट करने में कसर नहीं रखते! तू स्कूल से लौटकर सीधा घर आया करना। कभी किसी काम में मदद कर देना। इससे बाबा को बड़ा सहारा मिलेगा।"

बड़े भैया का स्वर भीग आया था। वह उसी बहाव में आगे बोले, "ऐसा कोई भी तो नहीं दीखता, जिसकी हम सहायता ले सकें। हमें खाता-पीता देखकर सब जलते हैं...। पिताजी हमें खूब पढ़ाना-लिखाना चाहते थे न! बाबा कहते हैं कि मैं आगे पढ़ूं।...लोग यह न कह सकें कि पिताजी के गुजरते ही सारा कारोबार चौपट हो गया। पिताजी जिस तरह सारे काम चलाना चाहते थे, वैसे ही सब चलें। बाबा का दिल नहीं दुखाना।...मैं खूब मेहनत करूंगा। तू भी पढने में मेहनत कर। बेकार का घूमना-फिरना छोड़कर, खाली समय में घर का काम देख। छुट्टियां मिलते ही मैं भी घर आ जाया करूंगा।"

बड़े भैया सचमुच एक दिन चलने लगे। घोड़े पर उनका सामान लादा गया। पुल पार तक बाबा लाठी टेकते-टेकते उन्हें पहुंचाने गए। बड़े भैया से पता नहीं क्या-क्या बातें करते रहे!

बड़े भैया उम्र में मुझसे केवल तीन साल बड़े थे, लेकिन लगता था—पिताजी की अकाल-मृत्यु ने उन्हें बहुत कुछ सिखा दिया है।

फिर काम में डूब गए थे बाबा। न दिन देखते, न रात! कहीं कुछ भी कमी न आने दी उन्होंने। जिस तरह मेहमान पहले आते थे, उसी तरह फिर आने लगे। बहू-बेटियां जो भी घर आतीं, बाबा उन्हें उसी तरह देते, जिस तरह पिताजी दिया करते थे। पाठशाला और अस्पताल के चन्दों में अब भी उतनी

ही रकमें दी जातीं, जितनी पहले दी जाती थीं।

लगभग साल-भर बाद बड़े भैया का रिजल्ट आया तो बाबा की बूढ़ी आंखों में खुशी के आंसू छलक आए। कॉलेज-भर में पहली पोजीशन थी उनकी। वजीफा भी मिलने लगा था।

मैं स्कूल जाता। घर का, दुकान का, खेतों का काम भी देखता। खाली समय में पढ़ता और एक के बाद एक सीढ़ी पार करता चला गया। कभी एक पैसा भी फिजूल में खरचते मुझे किसी ने नहीं देखा था।

"बांस की खूंट पर बांस ही उगेगा...नरेन्द्र गुजर गया तो क्या हुआ? दो बच्चे होनहार निकल गए तो मेरी जिन्दगी-भर की तपस्या सफल हो जाएगी।" बाबा जब-तब दुहराते रहते।

पास-पड़ोस के लोगों ने बगीचे लगवाने शुरू कर दिए थे। बाबा ने भी खेतों में पौधे लगाने के लिए गड्ढे खुदवा दिए थे। दुकान की मरम्मत करवाई, गोशाला के आगे लम्बा-चौड़ा आंगन बनवा दिया था।

बड़े भैया छुट्टियों में उन दिनों घर आए हुए थे। शायद उन दिनों बाबा ने सेब और नाशपाती के पौधे लगवाए थे, "अरे, इनके फलने-फूलने तक मैं जिन्दा न भी रहूं...बच्चे तो खाएंगे! हमारा नरेन्द्र फलों का बड़ा शौकीन था। आगन के आगे लगे माल्टा के पौधे वही लाया था चोबटिया से...।"

धीरे-धीरे पौधे बढ़ने लगे, फूलने लगे, फलने लगे। इस बीच कितना कुछ नहीं हो गया था!

बड़े भैया मिलिटरी में चले गए। बहुत अच्छा ओहदा उन्हें मिल गया। मेने दिल्ली में ही नौकरी कर ली। बाबा भी बहुत बरस हुए चल बसे। घर में केवल मां रह गई—अकेली।

पिछली बार घर आया तो बाबा का धूल और धुएं से ढंका फोटो साफ करके मैंने देवताओं के पास रख दिया था।

"तुम अकेली क्यों रहती हो, मा?" मैंने पूछा तो मां बोलीं, "तो कहां जाऊं? तपन का कोई भरोसा नहीं। आज यहां तो कल वहां! तू शादी करता नहीं। मुझे तो ये डांडे-पहाड़ ही अच्छे लगते हैं। जिन्दगी के कुछ दिन और रह गए हैं—वे भी बीत जाएंगे।"

"मां, तुम अपनी पसन्द की बहू ढूंढ लो, जो तुम्हारी खूब सेवा कर सके। अगली बार घर आऊंगा तो तुम्हें निराश न करूंगा। भैया को भी तब छुट्टी मिल जाएगी।" कहकर मैं चला गया।

बड़े भैया ने मिलिटरी में ही काम कर रहे अपने किसी बड़े अफसर की

लड़की से शादी कर ली थी। भाभी केरल की थीं। पहाड़ों की जिन्दगी क्या होती है उन्हें पता न था। एक बार अम्मा उनके साथ कुछ महीने बिताने के लिए गई, लेकिन थोड़े दिनों में लौट आईं। वहां की जिन्दगी उन्हें रास न आ पाई।

मेरे दिल्ली लौटने के कुछ महीनों बाद मां का लिखवाया पत्र मिला था, "तेरे लिए बहू ढूंढ ली है। तपन को लिख दिया है। वह भी आएगा। चेत में शादी होगी...।"

चैत से पहले ही देश की स्थिति बिगड़ने लगी। पाकिस्तान से युद्ध शुरू हो गया था। भैया उन दिनों बांग्ला-देश के मोर्चे पर थे—जैस्सोर की तरफ कहीं...।

युद्ध पर जाने से पहले भैया मिलने आए थे। एक दिन मेरे साथ रहे। उस सारी रात वह सो न पाए। घर की, बाहर की—पता नहीं कहां-कहां की बातें करते रहे। मेरे लिए कुछ कपड़े खरीदे गए। अपने हाथ की कीमती घड़ी उतारकर मुझे दे गए।

भाभी और बच्चों से जान-बूझकर न मिले। बोले, इससे दिल कमजोर हो जाता है। जो होगा देखा जाएगा।

त्रिवेन्द्रम से जब तक भाभी यहां पहुंचीं, वह कलकत्ता के लिए रवाना हो चुके थे।

रेलवे स्टेशन तक मैं छोड़ने गया तो भैया देर तक मेरा हाथ थामे रहे। "जित्तू तूं बहुत कमजोर है। अपना ध्यान रखना। लौटने पर, अबकी बार खूब लम्बी छुट्टी लेंगे। एक-दो महीने आराम से घर पर बिताएंगे।...बंगलानुमा नया मकान बनवाएंगे...।"

ट्रेन जब चलने लगी, भैया के चेहरे पर अजीब-सा भाव था।

घमासान युद्ध की खबरें आतीं। भारतीय सेनाएं, मुक्तिवाहिनी के साथ निरन्तर आगे बढ़ रही थीं, पर मेरी आंखों की नींद न जाने कहां खो गई थी।

तभी एक रात तार मिला। लिखा था—मेजर तपनकुमार जैस्सोर के मोर्चे पर शत्रु से लड़ते हुए, वीरगति को प्राप्त हो गए!

यह वज्रपात असह्य था हम लोगों के लिए!

मां पागलों की तरह दिन-रात रोती रहतीं।

मैं घर आया तो भाभी साथ थीं और बच्चे भी।

"तप्पी ने तो अब आने को लिखा था...चैत में लगन तय किया था...!" मां सुबक-सुबककर रोने लगीं।

"तुम्हें बहू चाहिए थी न, साथ रहने के लिए? लो, भाभी आ गई। ये

छोटे-छोटे बच्चे हैं। इनकी परवरिश करनी है। भैया चल बसे तो क्या हुआ, हम तो हैं! साल-दो साल बाद फिर लगन ढूंढ लेना। कहीं भागा तो नहीं जा रहा विवाह!"

मां चुप हो गईं। अपनी होने वाली चांद-सी बहू का जिक्र उन्होंने फिर कभी भी न किया...।

धूप में चमकता हरा-भरा बगीचा दीख रहा है सामने! वे पेड़ अब बहुत बड़े हो गए हैं, जिन्हें बाबा ने लगाया था। तीन-चार साल पहले बड़े भैया भी छुट्टियों में घर आए थे, कुछ पेड़ वह लगा गए थे—जो अब मेरे बराबर ऊंचे हो गए हैं।

दूर कुछ गड्ढे और चमक रहे हैं, जिन्हें अम्मा ने जाड़ों में खुदवाया था, जिन पर पौधे अब मुझे लगाने हैं।



कोई एक मसीहा

आकाश कुछ झुक-सा गया था। इमारत इस वर्ष कुछ और ऊपर उठ गई थी। जंगला आगे की ओर निकला-सा। कुल मिलाकर वह टूटा मकान एक बंगला-सा लग रहा था।

पर सुरेश भाई की दीर्घ-दृष्टि इस परिचय से परे थी। इधर-उधर वह देर तक टहलते-घूमते रहे। बोले, "इस वर्ष सरकार की ओर से ग्राण्ट कुछ अधिक मिली होगी! मैंने योजना-विभाग में बात चलाई थी। लगता है, आगे अब कठिनाइयां नहीं रहेंगी।"

"जी, हां!" लाभु बेन ने उनकी ओर बाल-सुलभ जिज्ञासा से देखा, "ग्राण्ट के अलावा सरकार ने कुछ बहनों को बुनाई-ट्रेनिंग के लिए वजीफा देना स्वीकार किया है। सब आपकी दया है, सुरेश भाई! आप न होते, तो यह शिविर कब का टूट गया होता।"

कृतज्ञता से लाभु बेन की पलकें झुक आईं।

"अब कुल कितनी बहनें हैं यहां?" सुरेश भाई ने फिर पूछा।

"कुल बत्तीस हैं। संख्या शायद और बढ़ जाएगी। रंगाई-विभाग का काम शुरू हो गया, तो यह सेण्टर तरक्की करेगा।" लाभु बेन कह ही रही थीं कि सुरेश भाई ने फिर उत्सुकता से पूछा, "क्या कुछ नई लड़कियां नहीं आई इस वर्ष? उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए। आगे उन्हीं के बल-बूते पर यह केन्द्र चलने वाला है, यह क्यों भूल जाती हो?"

लाभु बेन अब कुछ और समीप थीं, "कोशिश कर रही हूं, पर जरा मुश्किल-सा है। आजकल की लड़कियों का ध्यान आश्रम की ओर उतना नहीं, जितना...!"

सुरेश भाई कुछ आगे मुड़े। लाभु बेन एक-एक कर उन्हें हर विभाग का निरीक्षण करवाती जा रही थीं। इस वर्ष अम्बर-चरखों की संख्या में वृद्धि थी। सिलाई-विभाग में भी नई मशीनें। लाभु बेन को लगता था, सब उनकी ही कृपा का परिणाम है। अतः इस कृतज्ञता के लिए वह पानी की तरह बिछ जाना चाहती थीं।

वे अब मेन-गेट पर खड़े थे। आश्रम की सारी सदस्याएं दम साधे अपने कार्य में संलग्न थीं, मानो बच्चों की शाला में आज 'डिप्टी साहब' का मुआयना हो रहा हो।

"व्यवस्था ठीक तो लगी न?" लाभु बेन ने जैसे परीक्षा का परिणाम पूछा।

"हां।" बुझे भाव से सुरेश भाई बोले, "ये मनहूस चेहरे कहां से भर लिए? सब भिखारिनों जैसी लगती हैं।"

लाभु बेन को इस प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा नहीं थी। बात को संभालती हुई बोलीं, "कुछ बेचारी विधवाएं हैं, सुरेश भाई! रोज घर पर आकर रोती थीं। रोजी-रोटी के लिए कुछ तो चाहिए!" कुछ रुककर बोलीं, "सुरेश भाई, आप लोगों के राज में यह कैसा हो रहा है! सुबह से शाम तक काम करने पर भी दो वक्त की रोटी नहीं...!"

लाभु बेन कहती-कहती रुक गई, शायद सुरेश भाई की आकृति पर उतरते-झलकते भावों के कारण।

सामने क्यारियों में कुछ फूल थे और उनके पास फलों के पौध, जिन्हें आश्रम की सदस्याओं ने अपने हाथों उगाया था।

लाभु बेन उन्हें डेरे की तरफ ले चलती हैं। चाय का समय हो गया है। सुरेश भाई हजारों मील की यात्रा कर इन केन्द्रों का निरीक्षण करने आए हैं। थके हैं। उन्हें आराम करना चाहिए। कल या परसों फिर अगली यात्रा, और वहां से फिर अगली।

चाय की व्यवस्था वह पहले ही कर आई थीं। उन्होंने समय के हिसाब से स्वयं अनुमान लगा लिया था कि अब चाय खौलकर पाट में उड़ेल दी गई होगी। अतः उनके कदम तेजी से बढ़ने लगे।

"वह लड़की इस बार नहीं दिखाई दे रही है, लाभु बेन! क्या आश्रम छोड़कर चली गई?"

"कौन, लछमी की बात कर रहे हैं न?"

"हां, लछमी जैसा था कुछ नाम! उस हरिजन कन्या में बहुत गुण थे। उसने हमारी बहुत सेवा की थी। उसे तरक्की मिलनी चाहिए थी।"

"ऐमैले साहब ने उसे शहर में कोई अच्छी-सी नौकरी दिला दी है। अब उन्हीं की देख-रेख में कुछ ट्रेनिंग भी ले रही है।" लाभु बेन ने सहज भाव से कहा, "ऐमैले साहब उससे बहुत खुश हैं। अपनी बेटी की तरह मानते हैं और दिन-रात अपने ही साथ रखते हैं।"

"यहीं कोई अच्छा-सा काम दिलवा देतीं! तुममें यही तो समझ नहीं, लाभु बेन! हम उसका यहीं पर अच्छा फ्यूचर बनवा देते।"

पश्चाताप और खीझ के साथ सुरेश भाई कह रहे थे और अपराधिनी की तरह लाभु बेन सुन रही थीं। उन्हें लग रहा था, सुरेश भाई ठीक ही तो कहते हैं। लछमी को यहीं तरक्की देनी चाहिए थी। उसका अच्छा फ्यूचर यहीं बनना चाहिए था। सुरेश भाई की बड़ी पहुंच है—दिल्ली तक। वे किसी का भी फ्यूचर बनाकर कृतार्थ कर सकते हैं...।

कमरे में चाय के बरतन सजे थे। सुरेश भाई की मण्डली में कुछ और लोग भी थे। उनको भी बुलवाया गया। चाय पीने-पिलाने की रस्म शुरू हुई। लाभु बेन एक कोने में बैठीं, जैसे निरीक्षण कर रही हों। इस समय उन्हें पूछने का प्रश्न न था, सब नाश्ते की प्लेटों पर टूट पड़े थे।

आश्रम की अच्छी कन्याओं को चाय पिलाने का भार सौंपा गया था। दो-तीन स्थानीय सज्जन भी सुशोभित थे। पॉलिटिक्स और आगामी आम चुनावों के लिए सम्भावित सदस्यों के टिकटों पर विचार-विमर्श कर रहे थे।

सुरेश भाई का ध्यान शायद उन बातों पर न था, क्योंकि उनकी डिप्टी-मिनिस्टरशिप प्रायः निश्चित हो चुकी थी, इसलिए वह चाय पिलाने वाली लड़की को ध्यान से देख रहे थे।

धीरे-धीरे सब चले गए। जब कुछ एकान्त हुआ, तो लाभु बेन उनके पास आईं। विनीत शब्दों में पूछा, "सुरेश भाई, शाम को क्या लेंगे?"

"जो खिला दोगी।"

लाभु बेन जैसे कृत-कृत हो उठीं।

"भोजन तो सन्ध्या को नहीं लेते न!"

"हां, चल तो अभी तक वैसा ही रहा है।"

लाभु बेन मुस्कराईं, "तो आज भी शबरी के बेर चखोगे न!"

सुरेश भाई कुछ न कहकर हंस-भर दिए।

देश में अन्न की कमी के कारण इधर अर्से से सुरेश भाई ने शाम को फलाहार ही ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की है।

शाम को आश्रम की प्रार्थना हुई। बहनों ने भजन सुनाए। आश्रम में हाल

ही में आई एक बहन ने मीरा ने भजनों के साथ-साथ लोक-नृत्य का प्रदर्शन भी किया। सुरेश भाई ने जिसकी बहुत प्रशंसा की। अपने प्रवचन में उन्होंने उसका जिक्र किया और अन्त में कहा, "कन्याओं को सती सीता, सावित्री तथा मीरा आदि अमर नारियों से प्रेरणा लेनी चाहिए और अपनी लोक-कला की हर कीमत पर रक्षा करनी चाहिए।"

भाषण के पश्चात् सुरेश भाई कुछ स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की मीटिंग में भाग लेने चले गए, और लाभु बेन उनके खाने-पीने-रहने की व्यवस्था मे जुट गई। गाय का घी, असली शहद आदि वस्तुओं का प्रबन्ध पहले ही कर चुकी थीं। जिस कमरे में सुरेश भाई रात को ठहरेंगे, उसकी पुताई कब की हो चुकी थी! सफाई आदि का इन्तजाम भी, ताकि यहां से जाते समय सुरेश भाई को कोई शिकायत न रह जाए, क्योंकि आश्रम को हर हालत में चलाना था और वह तभी सम्भव था जब...!

देश की खाद्य-समस्या और आत्मनिर्भरता पर जब लम्बा भाषण देकर लौटे, तो सुरेश भाई कुछ थके-थके थे।

लाभु बेन ने एकान्त का लाभ उठाकर उनके माथे पर हाथ लगाया, तो उन्हे लगा कि बुरी तरह तप रहा है।

"आपकी तबीयत तो ठीक है न!" तनिक अतिरिक्त आत्मीयना से लाभु बन ने पूछा।

"दिन-रात इधर-उधर आश्रमों में घूमते रहने से तबीयत खराब हो ही जाती हे, लाभु बेन!" सुरेश भाई ने कहा, "देश-सेवा का व्रत कितना कठिन है, तुम कल्पना नहीं कर सकतीं!"

लाभु बेन हथेलियों को सहलाती हैं, माथे को दबाती हैं। सुरेश भाई को अच्छा लगता है। वह लाभु बेन के कुछ और समीप खिसकते हैं।

"तुम्हारा खर्च चल जाता है, लाभु बेन!" वह पूछते हैं।

"हां, हां। क्यों नहीं?"

"बड़ी लड़की अब कहां है?"

"पढ़ रही है।"

"अब तो वह सयानी हो गई होगी न!" सुरेश भाई को याद आया जब वह पहले वहां आया करते थे, तो लाभु बेन उनकी सारी सेवा का भार उसी पर डालती थीं। सुबह से शाम तक छाया की तरह उनके साथ रहती थी।

"हां, काफी बड़ी है।" लाभु बेन सोचती हुई बोलीं।

"कभी उसे भी बुलाओ न! मुद्दत हुई देखा नहीं। वह बहुत मधुर लड़की

थी...!"

इतने में बाहर से कुछ आहट-सी आती है। लाभु बेन पीछे हटकर कुर्सी पर बड़े स्वाभाविक ढंग से बैठ जाती हैं।

सुरेश भाई की कमर तकिए से लग जाती है।

कुछ देर सन्नाटा रहता है। कोई कुछ बोलता नहीं।

बाहर बरतनों की आवाज आती है। कमरे के पास ही रसोईघर लगता है।

"आपकी तबीयत हमेशा ऐसी ही रहती है, सुरेश भाई! दिल्ली-कलकत्ता तो आए दिन जाते रहते हैं, फिर कभी इलाज क्यों नहीं करवा लेते?"

"समय कहां मिलता है! दिन-रात यही भाग-दौड़ तुम देख तो रही हो। जिस दिन खादी के कपड़े पहले-पहल धारण किए थे, उसी दिन बहुत कुछ त्याग दिया था, लाभु बेन...!" वैराग्य भाव से सुरेश भाई ने कहा और कुछ देर के लिए पलकें मूंद लीं।

सुरेश भाई सचमुच वहुत थक गए हैं। दो कन्याएं सहारा देकर उन्हें उनके कमरे तक ले जाती हैं।

यह पहले ही निश्चित हो चुका था कि सुरेश भाई फलाहार किया करते हैं। अतः उसी की व्यवस्था थी। लड़कियां सामान लाने के लिए बाहर जाती हैं।

"ये नई भरती की हैं, सुरेश भाई!" लाभु बेन बोलीं, "छुट्टियों में घर जाना चाहती थीं। इसी बीच आपका इधर आने का कार्यक्रम-पत्र मिला। आपकी सेवा में कोई कसर रहे, यह कैसे हो सकता है! आप आते ही कव-कब हैं, सुरेश भाई!"

"तुम्हारी बड़ी लड़की जैसी कौन हो सकती है!" सुरेश भाई दार्शनिक लहजे में बोले, "इतनी सेवा-भावी मैंने आज तक नहीं देखी...!"

'सव आप लोगों की दया-दृष्टि है।' लाभु बेन कहना चाहती थीं, पर कह न पाईं।

"दूसरी लड़की भी वहीं है!" कुछ सोचते हुए सुरेश भाई ने कहा।

"हां, उन्हीं के लिए तो यह सब कर रही हूं। सुरेश भाई, बच्चे किसी तरह कामयाव हो गए, तो मेरी उम्र-भर की मेहनत सफल हो जाएगी।" लाभु वेन की आवाज भारी थी।

आश्रम की दो लड़कियां फलों की प्लेट लिए आती हैं। गाय का शुद्ध दूध और एक कटोरे में कार्त्तिकी शुद्ध शहद है।

लाभु वेन किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाती हैं और लड़कियां अपने

हाथों से छील-छीलकर फलों का रस-भरा टुकड़ा सुरेश भाई के ओंठों की तरफ ले जाती हैं। सुरेश भाई फलों के साथ-साथ मीठी-मीठी अंगुलियां भी चखते चले जाते हैं।

भोजन कर चुकने के बाद सुरेश भाई आराम से बिस्तर पर पसर जाते हे। दोनों लड़कियां उनके दोनों थके पावों को अपनी गरम गोदियों में रखकर दबाने लगती हैं।

कोमल हथेलियों का बार-बार स्पर्श उन्हें विचलिन कर देता है। परन्तु आंखें मूदे मुर्दे की तरह तटस्थ पड़े रहते हैं।

इतने में प्लेट लिए लाभु बेन आती हे, "ये अहिंसक अण्डे हैं, सुरेश भाई। ये भी फलों की 'कैटेगरी' में आते हैं!"

सुरेश भाई कोई बहस न कर प्लेट थाम लेते हैं।

"दवाई की बोतल भी तो पहुंचा जाना, लाभु बेन! आज शरीर बुरी तरह टूटा जा रहा हे।" सुरेश भाई करवट बदलते हैं।

कुछ देर बाद कपड़े में लिपटी दवाई की बोतल भी आ जाती है।

"दवा मैं पिला जाऊं..!" डरती-डरती लाभु बेन पूछती हैं।

"च्चऽ! तुम क्यो कष्ट उठाती हो?" सुरेश भाई न बोलना चाहकर भी बोल रहे थे, "ये दोनों बहनें यहीं तो हैं, पिला देंगी!...अब तुम सो जाओ, लाभु बेन! दिन-भर की थकी होगी।"

लाभु बेन जाने लगती हैं, तो सुरेश भाई आवाज देकर बुलाते हैं, "हमारे सभी साथियों की ठीक-ठीक व्यवस्था करवा देना, उन्हें शिकायत नहीं होनी चाहिए।"

"जी, हां!" कहती हुई लाभु बेन चली जाती हैं।

दोनों लडकियां अब तक उसी मोन-मन्थर भाव से पांवों को दबाती चली जा रही थी।

सुरेश भाई ने करवट बदली।

"तुम कब से यहां हो, बिटिया?"

"अभी एक ही महीना गुजरा है।" दोनों ने एक-सा उत्तर दिया, एक साथ।

"इसे पहले क्या करती थीं?"

"गांव के मिडिल स्कूल में पढ़ती थीं।"

"तुम्हें यहां कोई कष्ट तो नहीं!"

"नाऽ!"

"कोई शिकायत हो, तो हमसे कहना, अच्छा!"

"जी!"

"तुम्हारी उमर क्या है?" कुछ सोचते हुए एक से पूछते हैं।

"सतरह...!"

"और तुम्हारी?"

"इस चैत में पन्द्रह पूरे होंगे!"

सुरेश भाई अब बिस्तरे पर ही बैठ गए हैं।

"तुम्हें नींद लग रही है, तो तुम सो जाओ!" वह बड़ी लड़की से कहते है।

"जी, नहीं...।"

"अरी, हम कहते हैं, सो जाओ! जब इसे नींद लगने लगेगी, यह भी जाकर सो जाएगी।"

वह बहस नहीं करती, सहमती-सी चली जाती है।

"बाहर से हवा आ रही है..!" सुरेश भाई अपना दुखता सिर दबाते है।

वह दरवाजा बन्द कर देती है, और उसी तरह फिर पांव को दबाने लगती है।

"तुम्हारा नाम क्या है, बिटिया?"

"सावितरीऽ।"

"नाम तो बहुत अच्छा है।...छोटों को बड़ों की सेवा करनी चाहिए, पाठशाला में यह तो तुम्हें पढ़ाया गया होगा न!"

"जी, हां।"

"बड़ों की सेवा करने से पुण्य मिलता है। यह और वह, दोनों जनम सफल होते हैं। गीता-महाभारत में पढ़ा होगा न!"

"जी, हां।"

सुरेश भाई के पांवों में आज बड़ा दर्द है, इसलिए वह ऊपर तक पाव दबाने को कहते हैं।

"तुमने आगे क्यों नहीं पढ़ा...!" सुरेश भाई बड़ी आत्मीयता से पूछते है।

"जी, घर की हालत ठीक नहीं थी!"

सुरेश भाई को दुःख होता है।

"गांधीजी की जीवनी पढ़ा करो!" सुरेश भाई प्रवचन के से स्वर मे कहते हैं, "उससे सत्य की खोज में सहायता मिलती है। हम सब लोग सत्य की उसी खोज में अब तक लगे हैं। विनोबाजी ने तो देखो, अपना जीवन समर्पित कर दिया।"

सावित्री की समझ में अधिक नहीं आता। वह केवल सिर हिलाती रहती है, "हां, ज्जी!"

"जरा, दवा पिला दो, बिटिया...!"

सावित्री कपड़े से ढंकी दवा की बोतल निकालती है। गिलास में उड़ेलकर पिलाने लगती है, तो सुरेश भाई कहते है, "तुम भी पियो न! यह ताकत की दवा है। दोनों साथ-साथ पियेंगे।"

दवा की पहली घूंट सावित्री के गले को आग की लकीर की तरह छीलती पार हो जाती हे।..वह मुंह विचकाकर अचरज से देखती है।

सुरेश भाई जोर से हंस पड़ते हैं।

सावित्री अब कुछ और पास थी। उसका सिर घूम रहा था। अब उसे सुरेश भाई जैसे बड़े आदमी से भय नहीं लग रहा था।

सुरेश भाई की तरह तकिए के सहारे अब वह लेटी थी। सुरेश भाई उसके पावों के पास बैठे, उन्हें दबा रहे थे। दवा की रीती बोतल पलंग के नीचे गिरी थी।

सुवह सुरेश भाई की पलकें खुलती हे, तो बड़ा अच्छा लगता है उन्हें। लाभु वेन स्वयं चाय लाई थीं। मुस्करा रही थी। उसी तरह अकारण सुरेश भाई भी मुस्करा रहे थे। उनकी आंखों में अभी तक शरारत थी।

खादी के शुभ्र वस्त्र धारण किए सुरेश भाई प्रार्थना के लिए जाने लगे, ता सावित्री सीढ़ियो के पास मुंह धो रही थी। उसका चेहरा उतरा हुआ था।

सुरेश भाई का आज का प्रार्थना-प्रवचन बहुत लम्बा नहीं चला। उन्हें आज दूसरे केन्द्र का निरीक्षण करना है। लगभग चालीस मील की यात्रा।

आश्रम की सभी बहनों ने चलते समय सुरेश भाई की आरती उतारी और फूलों की सुगन्धित मालाओं से उन्हें सुशोभित किया।

वह जीप में बेठने वाले थे कि उन्होंने पास खड़ी सावित्री के कन्धों को थपथपाया। लाभु बेन की ओर देखा, "बड़ी सेवा-भावी बिटिया है यह, लाभु वेन! इसे खादी की एक धोती हमारी तरफ से पुरस्कार में दे देना...!"

"सब आपकी दया है, सुरेश भाई।" लाभु बेन बोलीं, "आपकी सेवा का सोभाग्य कब-कब किसको मिल पाता है...!"



देखे हुए दिन

झील की ओर चलने वाली हवा इस समय यद्यपि उतनी ठंडी नहीं, फिर भी लगता है दिल्ली से चलते समय साथ में गरम कपड़े रखकर मैंने कोई गलत काम नहीं किया। लाल कहता था, "इत्ते गरम कपड़े ढोकर क्या करोगे? प्लेन्स में लू से झुलसकर लोग मर गए हैं, फिर नैनीताल में इस जून-जुलाई के महीने में इतनी सर्दी कहां से आएगी?"

लाल ऐसी ही बेतुकी बातें किया करता है।

सामने हज़ारों सलवटों वाली रेशमी चादर की तरह हरी झील फैली है, मृखन की-सी प्रक्रिया से गुजरती हुई। मेरी बगल से कुछ घोड़े धूल उड़ाते हुए निकल जाते हैं। इस रात में भी लोग घुड़सवारी से बाज नहीं आते। कैसा अंधेर है!

मैं देखता हूं—मुंह से सफेद झाग उगलते हुए तीन-चार घोड़े एक-दूसरे के पीछे कतार में भाग रहे हैं। उनकी पीठ पर पहाड़ की तरह लदी रंग-बिरंगी आधुनिकाएं लगभग उसी क्रम से, उसी लय से (जीन पर), अपनी ही जगह पर बार-बार उछलती-गिरती घुड़सवारी का पूरा आनन्द ले रही हैं। और पीछे से घोड़े की पूंछ पकड़े सईस घोड़े की ही गति से हांफते हुए दौड़ रहे हैं।

सर्कस का-सा यह दृश्य बड़ा विचित्र लगता है। मैं सोचता हूं, ये सभी लोग जो यहां आए हैं न दिन में विश्राम करते हैं, न रात को सोते। जीवन का सारा सुख जैसे चन्द दिनों में, चन्द पैसों के बदले खरीदकर ले जाना चाहते हैं। यहां आकर लगता नहीं कि हमारा सम्बन्ध किसी ऐसे देश से है, जहां के करोड़ों लोगों को एक वक्त का भोजन आज भी नहीं मिल पाता।

बजरी वाली कच्ची सड़क मुझे अब कुछ और आगे ले जाती है—जापानी ढंग से सजाई गई झील के उस किनारे, जहां ठंडी बेंचों पर कुछ जोड़े एक-दूसरे

से गुंथे अब तक बैठे हैं। सड़क के किनारे खड़े लोहे के सफेद खम्भों पर मर्करी बल्ब कहीं-कहीं चमक रहे हैं, शेष रंगहीन, ठंडा धुंधलका-सा है।

बम्बई से आया इन्श्योरेंस वाला कृष्ण वर्ण का नाटा स्वामी आज सुबह भोजन के बाद अपनी कफनी पहनते हुए किशन से कह रहा था, ''होपलेस्स्...! ये शहर अपने माफिक नहीं...अपन मुम्बई में त्तोऽ...।''

स्वामी का आक्रोश गलत नहीं। आखिर जब मुम्बई में...तो फिर नैनीताल में क्यों नहीं!

पर यहां ऐसा नहीं। क्यों नहीं? मुझे याद आता है, स्वामी के बिस्तर के बगल वाले अफगान विद्यार्थी (जो शायद भारत सरकार के वजीफे पर इलाहाबाद के बमरौली हवाई अड्डे में कोई तकनीकी शिक्षा ले रहा है) की भी शिकायत कुछ ऐसी ही थी। वह महीने-भर यहां रहने के विचार से आया था, पर एक ही सप्ताह में ऊबकर चला गया।

स्वामी 'नब्बे' रुपए की ऐश-ट्रे में चारमीनार की राख झाड़ता हुआ बतलाता है कि वह (अफगान) होस्टल के किसी नेटिव ईसाई नौकर को लेकर रोज शाम को जंगल जाता था। वही नौकर 'बुड़ज्यू' के साथ आजकल हमारे लिए बेड-टी लाता है...और अंग्रेजी में 'नमस्ते' करता है।

मैं थककर किसी अधकटे पेड़ के नीचे पड़ी, सीमेण्ट की ठंडी, खाली बेंच पर बैठ जाता हूं। इधर मैं अपने में बहुत अधिक थकान अनुभव करता हूं। जब से नैनीताल आया हूं, पता नहीं क्यों मैंने सिगरेट पीना आरम्भ कर दिया है। किशन को आश्चर्य होता है कि मैं इतनी ज्यादा सिगरेट कैसे पी लेता हूं, जिसकी वजह से मेरा गला खराब रहता है...।

किशन का एक डॉक्टर मित्र एक दिन उससे कह रहा था, ''कैल्शियम की कमी और फ्रस्ट्रेशन की हालत में यह सब स्वाभाविक है...।''

पर यह कारण मुझे अपने अधिक अनुकूल नज़र नहीं आया। यहां आकर एकाएक कुछ हो गया हो, मुझे नहीं लगता।

सामने तारकोल से ढंकी तालाब की काली लहरों की ओर देखता हूं, जिनमें मैंने कई बार अपना प्रतिबिम्ब देखा है। दूर अन्धकार में कब्रगाह जैसी लगने वाली दूधिया इमारतों की ओर भी, जिनसे कभी मेरा कुछ सम्बन्ध था। हां, सम्बन्ध ही तो था एक तरह से...।

गत बारह वर्षों के लम्बे जीवन में अपने सिर पर कितने पहाड़, कितनी नदियां, कितनी झीलें और छोटे-बड़े पता नहीं कितने शहर मैं लादे फिरा हूं! फीते की तरह लिपटी बहुत-सी सड़कें मैंने अब सिर पर से उतार फेंकी हैं।

...इसलिए शायद मैं कभी-कभी कुछ हल्कापन-सा अनुभव करता हूं।

मुझे लगता है, इतने वर्षों बाद यहां आकर मैं सचमुच कुछ भावुक तो नहीं हो गया, नहीं तो जो बीत गया उसके बारे में अकारण इस तरह से बार-बार क्यों सोचता हूं?

दिल्ली की भीड़ में से बूंद की तरह छिटककर यहां आने में मुझे कुछ अधिक प्रसन्न दीखना चाहिए था।...किशन कहता था—शिमला चलेंगे, वहां 'भापे' के यहां ठहरेंगे तो खर्चा कुछ कम आएगा। पर जान-बूझकर नैनीताल के लिए ज़िद मैंने ही की थी। मेरे ही कहने पर...।

ग्यारह से अधिक समय हो गया होगा अब। किशन कब का सो चुका होगा। पहाड़ों पर चढ़ने का उसे अभ्यास नहीं, अतः जल्दी हांफने लगता है। रात को सोते समय अपनी दुखती पिण्डलियां दबाता हुआ कहता है, "यहां लोग सेहत बनाने के लिए आते हैं, पर अपना हिसाब उल्टा हो रहा है। कल 'कैपिटल' में वेट लिया, पूरा एक पौंड कम निकला।"

पिछले तीन-सवा तीन साल से किशन को 'फ्रेंच' का बुखार चढ़ा है। वह नई दिल्ली में फ्रांसीसी दूतावास द्वारा चलाई जाने वाली किसी इंस्टीट्यूट में बड़ी मेहनत से फ्रेंच सीख रहा है। फ्रांस की बातें उसे बहुत अच्छी लगती हैं। फ्रांस जाने का उसने पता नहीं कब से इरादा कर रखा है। पर मैं समझ नहीं पाता, जिसे नैनीताल रास नहीं आया, उसे फ्रांस कैसे रास आएगा।

कल 'टिफिन-टाप' पर चढ़ते समय कोई नव-विवाहिता-सी लगने वाली महाराष्ट्रियन लड़की मेरी ओर इंगित करती हुई, बड़ी गम्भीर मुद्रा मे अपने पति से कुछ कह रही थी, 'हयां माणसा चा चेहरा पाहले ला माहित पणतो...।'

इसी तरह एक दम्पति उस दिन 'चीना-पीक' में टकरा गए थे। हम लोग एक ऊंचे पत्थर पर बैठे, सामने झलकती बर्फीली चोटियां देख रहे थे। पास ही बेठा कोई मिलिटरी का रिटायर्ड अफसर गले में माला की तरह दूरबीन लटकाये अपने कपाल पर हाथ रखे चीन के आक्रमण के विषय में अपने 'व्यक्तिगत' अनुभव बतला रहा था और उसी बहस में वे लोग भी न जाने कब, कैसे सम्मिलित हो गए थे (वे यानी पति कम और पत्नी अधिक)। फिर नीचे उतरते समय वे हमारे ही साथ हो लिए थे। न जाने हम चारों कहां-कहां की, कितनी-कितनी बातें करते रहे!..इतना लम्बा रास्ता कब, किस तरह कटा, पता ही न चला।

पिकनिक या सैलानियों की तरह पहाड़ों पर यों ही घूमते समय साथ में किसी महिला का होना कितना अच्छा लगता है! भले ही वह कोई भी हो, और उससे किसी भी किस्म का सम्बन्ध न हो। नारी की मात्र उपस्थिति ही सारा

वातावरण कितना जीवन्त बना देती है।

हां, तो मल्लीताल में फव्वारे के पास अलग होते समय जब हम हाथ मिलाने लगे तो उन्होंने हमें शाम को अपने साथ बोटिंग के लिए 'इनवाइट' किया और मेरे बहुत निकट आकर धीरे से कहा, "शाम का खाना हम साथ-साथ लें तो कैसा रहेगा? कुछ पीने-पिलाने का प्रोग्राम भी...सारी व्यवस्था है।" पर प्रत्युत्तर में प्रसन्न होने के बदले यह जानकर उन्हें सचमुच बहुत निराशा होती है कि में 'पीता' नहीं।

मैं कहता हूं, "किशन कभी-कभी पी लेता है। मैं बैठा साथ दूंगा। कुछ और ले लूंगा। क्या हर्ज है...?"

किशन चुप है। इसका अर्थ है, उसे आपत्ति नहीं।

उस समय सब 'हां' कर विदा होते हैं, पर शाम का कार्यक्रम कुछ इस तरह का बनता है कि न हम बोटिंग के लिए जा पाते हैं ओर न भोजन के लिए ही।

रात को सोते समय किशन मुझसे शिकायत करता है कि मैं यहां आकर कुछ अधिक रोमांटिक हो गया हूं। वह 'लडकी' अपने पति की निगाहें बचा-बचाकर बार-बार मेरी ओर देख रही थी। बहस में जान-बूझकर मेरा साथ दे रही थी। देवदार की जो टहनी मेने पानी की टंकी के पास यों ही तोड़कर फेंकी थी, उसने बाद में चुपके से उठा ली थी और उसे अपने गालों से सहला रही थी।

"आज हम नही गए न! अपने पति को लेकर कल वह अवश्य आएगी। तुम देख लेना।" किशन के शब्दो मे व्यंग्य-भरी चुनौती का-सा भाव है।

असल में बात ऐसी नहीं। किशन का यह मात्र भ्रम है। वह चिढ़ाने के लिए ऐसा कह रहा है, यह मै जानता हूं। इसलिए ठहाका लगाकर हंसने लगता हूं।

पर दूसरे दिन सचमुच मुझसे अधिक आश्चर्य किशन को होता है जब वे दोनों आ धमकते हे। पता नहीं कितने उलाहने देते हैं और फिर हमें साथ ले जाते हैं।

इस बार 'लेण्ड्स-एण्ड' का प्रोग्राम बनता है। स्वामी और किशन साथ-साथ चलते हैं और उन्हीं के आगे या कुछ पीछे हम तीनों।

हम हर टापिक पर मुक्त भाव से बातें करते हैं। किसी भी बात पर, भले ही वह कितनी ही विवादास्पद क्यों न हो, वे बहस नहीं करते। सच तो यह है कि बहस का उनका स्वभाव नहीं। वे हर बात बच्चों की तरह मुग्ध भाव से सुनते चले जाते हैं। वह 'लड़की' कभी-कभी अपलक मेरी ओर देखती है।

उसकी बड़ी-बड़ी निरीह आंखों में कभी कोई भाव नहीं होता।

मुझे अब कुछ सर्दी-सी अनुभव हो रही है। लगता है अंधेरा पहले की अपेक्षा अधिक गहरा हो गया है। हरी-हरी, कुछ-कुछ नीली, ठंडी रोशनी कहीं खम्भों के आसपास झलकती है। शेष अंधेरा। अंधेरा-ही-अंधेरा!

अपनी जगह से मैं उठ खड़ा होता हूं, मेरी टैरीवूल की पैण्ट पीछे से बर्फ की तरह ठंडी हो गई है। मुझे विस्मय होता है कि मैं इतनी सिगरेट कैसे पी गया हूं!

किशन 'ऐश' शब्द का उच्चारण ठीक पंजाबियों की तरह करता है तो मुझे अजीब-सा लगता है।

कहीं-कहीं अंधियारे में परस्पर एक-दूसरे से चिपके जोड़े अब तक दीख रहे हैं।

आज सुबह पता नहीं फोटोग्राफरों की कितनी दुकानें टटोलकर झील का एक रंगीन व्यू खरीदकर लाया हूं।

—पा को भेजने के लिए।

पिछले दिनों नीना भी नैनीताल आई थी। एम्पायर होटल के पते से उसका पत्र आया था—'कजिन की शादी में पिताजी के साथ कल ही यहां आई हूं। आज दिन-भर आपके ही बारे में सोचती रही। यदि मैं बुलाती तो आते? मैं जानती हूं नहीं आते! कभी नहीं! कभी भी नहीं न!'

यह पत्र फिर न जाने किस तरह से पत्नी के हाथ लग गया था। मुझे याद है उसके कुछ दिन बाद लगातार दिल्ली में भूचाल के झटके आते रहे। ...एक-दो सरकारी इमारतों में दरारें भी पड़ गई थीं। हां, नीना अब पत्र नहीं भेजती। यानी कि एक तरह से मैंने ही पत्र देना बन्द कर दिया है। उससे एक तरह से सारे सम्बन्ध टूट-से गए हैं। मैं उससे, बस एक बार मिला था—केवल पांच मिनट के लिए। इतने ही कुछ समय में उसने कम-से-कम हज़ार बार कहा था, "आप चश्मा क्यों पहनते हैं? शुभा'दी के पास आपका जो चित्र था उसमें तो चश्मा नहीं था।"

...फिर चश्मा...चश्मा और चश्मा...!

उसकी मूर्खता-भरी ऐसी ही बातों से सच मैं बुरी तरह ऊब गया था। फिर एक क्षण गुजारना तक मुझे मुश्किल लगता था।...पता नहीं मेरा स्वभाव ऐसा क्यों है! मुझे इस तरह की बातें कभी जंचती नहीं, चाहे वे किसी की भी क्यों न हों...! पत्थर के खम्भों के पायों पर खड़ी नगरपालिका की लाइब्रेरी के

नीचे, झील की लहरों का पानी कभी-कभी छलककर ऊपर तक पहुंच जाता है। वहीं जल-मुर्गियों का दरबा है।...नाव से उतरकर, उनके इर्द-गिर्द अकड़कर खड़े होकर फोटो खिंचवाने में कुछ सैलानी कितना गर्व अनुभव करते हैं...।

इस बार नैनीताल से लौटने के बाद कण्ठन् पिल्लई (कालीकट का एक मित्र) मुझसे कहता था, 'नैनीताल एक कुआं है, जिसमें बहुत-से रंगीन मेंढक रहते हैं। कुछ मेंढक बरसात में बहकर बाहर भी चले जाते हैं। कभी-कभी ठंडे पानी में भीगने पर कुछ को जुकाम भी होता हुआ देखा गया है...।'

मेंढक को जुकाम होने वाली बात अपने-आप में काफी वजनदार लगती है। पर में समझ नही पाता, पिछले कुछ महीनों से कण्ठन् मछली की कम, मेंढक की बाते अधिक क्यों करता है?

अब मुर्गी और मुर्गियों को शरण देने वाली लाइब्रेरी भी पीछे छूट गई हैं। बजरी पर जूतों की रगड़ से पैदा होने वाली कर्र-कर्र की आवाज बहुत ऊंची सुनाई दे रही है।...सड़क पर अब कहीं कोई भी नहीं। फिर मै इस आधी रात में अकेला कहां भटक रहा हूं...?

कल रात भी हम ऐसे ही निरुद्देश्य इधर-उधर घूमते रहे थे। फ्लैट और बोट-हाउस क्लब के कितने ही चक्कर लगा गए थे।...मल्लीताल—रिक्शा स्टैण्ड के पास से डारमेटरी में रहने वाले मित्रों ने वर्मा का जुलूस निकाला था। वर्मा के गले में ताजे मोतियों वाला सफेद हार था। उसे डाडी पर बिठलाकर मालरोड की भीड में सब साथ-साथ चले थे—एक जुलूस की शक्ल मे।

भीड़ के छंटने के बाद अन्त मे शेष रह गए थे हम तीनों।

स्वामी आज कुछ मूड में था। इसी मूड मे वह अनायास बहुत कुछ कह जाता है। यही कि वह बम्बई के पास समुद्र-तट का रहने वाला है—मूलतः मछुआरे परिवार का। उसने घोरतम गरीबी मे अपने बचपन के दिन गुजारे हैं। अपनी विधवा मामी के यहां रहकर उसने पढ़ा है। अपनी खूबसूरत जवान विधवा मछुआरिन मामी के रंगीन किस्से वह इस तरह से सुनाता है कि किशन के होंठ खुले के खुले रह जाते हैं।..अपने परिवार की इतनी अंतरंग बातें कोई बाहर के दो दिन के मित्रों से इस तरह से कर सकता है, मुझे विश्वास नहीं होता। या तो स्वामी सचमुच महान है या हद दर्जे का मूर्ख, इन दो में से तीसरी बात हो नहीं सकती।

वह कहता है कि वह उल्टा पैदा हुआ है और निरूपाराय को व्यक्तिगत रूप से जानता है। भोजन के बाद वह नित्य 'बामकुक्शी' किया करता हैं।

भले ही स्वामी स्वयं कितना ही दिलचस्प क्यों न हो, पर मैं जानता हूं,

यहां से जाने के बाद मैं जल्दी ही सब-कुछ भूल जाऊंगा—केवल दो शब्दो के अतिरिक्त, जिनका सम्बन्ध 'बामकुक्शी' और 'कफनी' से है।

किशन भी कुछ ऐसा ही सोचता है। स्वामी से जब से उसकी मित्रता हुई, उसने भीमताल और रानीखेत जाने का इरादा छोड़ दिया है। दिन-रात ताश के अतिरिक्त जैसे और शेष कुछ रहा ही न हो। ताश तो दिल्ली में भी खेले जा सकते हैं, फिर यहां आकर!

अधिक दूर जाने की अब मुझे अपने में हिम्मत नहीं लगती। सिगरेट अधिक पीने से गला आज कुछ और अधिक खराब हो गया है। मैं लौटकर फिर मि. राल्स्टन की 'सराय' की पैंतालीस डिग्री की चढ़ाई चढ़ने लगता हूं, जहा आदमियों के दरवे हैं—एक-एक दरबे में आठ-आठ, दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह तक। जो दोपाए इनमें नहीं समा सकते, वे बाहर बरामदे में चादर तानकर रात गुज़ार लेते हैं।

ज्योही तिराहा पार करता हूं, मेरे सिर के ऊपर 'वाई.एम.सी.ए.' का बड़ा धनुषाकार बोर्ड चमकता है। मुझे बारह-तेरह साल पहले की एक घटना याद हो आती है, जो किसी छोटी आंखों वाली उस दूधिया रंग की लड़की से सम्बन्धित है, जिसे मैंने यहां अन्तिम वार देखा था। शायद वे दशहरा या उसके बाद के दिन थे। उसके बाद उसके डॉक्टर पिता का ट्रांसफर मिर्जापुर या मुजफ्फरपुर—कहीं हो गया था। उसके बाद मैंने उसे फिर कभी नहीं देखा। हा, एक बार राजेन्द्र कहता था, अब वह बहुत बड़ी हो गई है, ठीक माला सिन्हा जेसी लगती है।

'होटल एवरेस्ट' के पास किसी का पालतू कुत्ता बड़ी बेरहमी से भौंक रहा है।...इतनी गत इस मुक्त भाव से इधर-उधर घूमने में मुझे अजीब-सा न लगा। न किसी ने मेरे इस तरह घूमने के विषय में अपनी चिन्ता ही व्यक्त की।

मैं जानता हूं, सुबह उठने ही किशन कहेगा, "रात को तुम करीब एक बजे लौटं थे...।"

"डॉक्टर मिसेज मित्रा को साथ लेकर तीसरी बार 'गाइड' देखने गया है। ...व्हीलर कल फिर तीन बजे रात को 'बोट हाउस क्लब' से लौटा था। उसकी बहन रोजी रात-भर नहीं लौटी।"

किशन को शायद सारी रात नींद नहीं आती। मुझे लगता है, अब वह जल्दी ही यहां से जाने की स्थिति तक पहुंचने वाला है। कहते हैं, यहां से जाते समय लोग ऐसा ही व्यवहार करने लगते हैं।



रास्ता रुक गया है!

सारी रात नींद नहीं आती।

लालटेन जल रही है। चारों ओर घना अंधेरा है। मूसलाधार पानी गिर रहा है। पास ही घनी झाड़ियों से सीटी की-सी आवाजें आ रही हैं। ऊंचे-ऊंचे पहाड़, डरावने जंगल—जहां आज भी कभी-कभी मानवभक्षी शेरों का आतंक छाया रहता है।

मेरी पलकें भारी हैं। न जाने क्यों मन मे एक अजीब-सी दहशत घर करती चली जा रही है! ये बड़े-बड़े पहाड़ मुझे अब और भी भयावने लगते हैं।

छोलदारी के बाहर आकर झांकता हूं—दूर, अथाह अंधियारे में, सूनी घाटी से उफनती नदी का शोर उमड़ रहा है। बाढ़ का पानी प्रतिक्षण बढ़ता चला जा रहा है। यदि तीन-चार फुट पानी अभी और बढ़ा तो पुल बह जाएगा—इतना निश्चित है।

प्रलय का तूफान सामने सीना ताने खड़ा है। नींद न जाने कहां खो गई है। बार-बार मैं इधर-उधर झांक रहा हूं।

'इंजीनियर साहब, सारी इंजीनियरी ताक पर धरी-की-धरी रह जाएगी। काली नदी की यह काली घाटी, काले कारनामों के लिए ही नहीं, काले सांपों के लिए भी बदनाम है। काली नदी का पानी कैसा होगा—काला! फिर सोच लीजिए, 'काले पानी' की सजा आप बिना अपराध क्यों भुगतें? इसीलिए अपना तबादला रुकवा लीजिए, अभी कुछ बिगड़ा नहीं।' साथियों ने भले ही कुछ सोचकर कहा हो, लेकिन अब मुझे उस कहने का 'अर्थ' समझ में आने लगा है। पर अब क्या हो सकता है!

मैं विवश भाव से सामने की ओर देखता हूं—रास्ते के किनारे-किनारे सड़क पर काम करने वाले कुलियों की टूटी-फूटी झोंपड़ियां बिखरी हैं। आस-पास बिच्छू के कांटेदार पौधों का झाड़-झंखाड़। आग में कहीं-कहीं उपले झोंके जा रहे हैं।

कहते हैं—इनकी गन्ध से सांप पास नहीं फटकते। इतने बचाव के बावजूद सारी रात—'सांप! सांप! बचाओ! बचाओ!' की आवाजें गूंजती रहती हैं...।

इसी रफ्तार से सुबह तक पानी बरसता रहा है। घाटी के ऊपर उठता हुआ कुहरा भी कम घना नहीं। रास्ते, पगडंडियां, सब कीचड़ से सने हैं। गैंती, कुदाली, फावड़े लिए, पानी से भीगते हुए नंगे-भूखे मजदूरों के झुण्ड-के-झुण्ड—शिव के बारातियों की तरह काम पर बढ़े चले जा रहे हैं। बारिश ज्यादा होने से पहाड़ धंस गए हैं। शिवालिक की पहाड़ियों के सीने पर सांप की तरह लेटी मोटर की सड़क खिसककर घाटी में चली गई है। चम्पावत की तरफ से आने वाली यात्री-गाड़ियां जंगल में रुकी हैं। आज तीन दिन हो गए हैं। यही हालत रही तो यात्रियों के भूखे मरने की स्थिति पैदा हो जाएगी। सारा यातायात ठप्प हो गया है।

"इंजीनियर साहब, गैंग तैयार है। चल्थी के उस पार की सड़क शायद आज तैयार हो जाएगी।" ओवरसियर सिर झुकाता हुआ सलामी देता है।

"काम बड़ी स्लो स्पीड से हो रहा है, रतीराम! क्या बात है?"

"हुजूर, बरसात जोरों पर है। आधे से ज्यादा मजदूर बीमार पड़े हैं।"

"ठेकेदार ने शायद मिलावट वाला राशन दे दिया है...मजदूर भी अधमरे-से हैं, साहब! काम करते-करते ऊंघने लगते हैं। एक बुढ़िया कल मलबे के साथ-साथ लुढ़कती खड्ड में चली गई थी। यदि बांज की जड हाथ में न आती तो उसकी हड्डियां तक नजर न आतीं।"

"इन्हें मजदूरी कितनी मिलती है?" मैं कुछ सोचता हुआ पूछता हूं।

"सवा दो रुपए मर्दो को, दो रुपए औरतों को, और एक रुपया बच्चों को...! यही यहां का खुला रेट है। ठेकेदार इससे भी कम में मजदूर ढूंढ लाते हैं। गरीब इलाका है, अकाल-महामारी का जोर। मरता क्या न करता, हुजूर!"

पता नहीं वह कब चला जाता है। मैं वैसा ही लेट जाता हूं। सीटी की-सी आवाजें दिन में भी गूंजती सुनाई देती हैं। इस सबके बावजूद मैं निश्चिंत पड़ा हूं—जैसे मुझे दीन-दुनिया से कोई वास्ता नहीं।

पानी दो फुट और ऊपर चढ़ गया है। पुल पर पहले से ही दरारें हैं। सीमेण्ट के बदले ठेकेदारों ने रेत मिला दी है।

इस मुल्क का क्या बनेगा? मुझे सूझता नहीं।

"चाय!" श्रीमतीजी सहसा जगाती हैं।

मैं वैसे ही अनमने-भाव से चुपचाप चाय की चुस्कियां लेता हूं।

"यह मुसीबत कब तक है?" श्रीमतीजी के चेहरे पर चिन्ता के भाव स्पष्ट

झलक रहे हैं, "लगता है हम पर 'शनीचर' का असर है!"

'हम पर ही नहीं, पूरे देश पर...।' कहना चाहता हूं, पर कह नहीं पाता।

वह वैसी ही अविचल खड़ी रहती हैं।

"पता नहीं, ये कैसे पोले पहाड़ हैं—खड़िया के। एक ही रात की वरसात में मीलों लम्बी सड़क न जाने कहां चली जाती है!" कुछ रुककर वह फिर कहती हैं, "या तो पहाड़ पोले हैं, मिट्टी कच्ची है या सड़कें ही ठीक ढंग से नहीं वनतीं। मुझे तो लगता है—नींव कच्ची हे।"

श्रीमतीजी रीता प्याला लेकर चली गई हैं। दूरवीन चढ़ाकर मैं देख रहा हू—काली नदी की नागिन-सी लहरें फन हिलाती, जीभ लपलपाती, खतरे के बिन्दु के ऊपर झांक रही हैं। दूसरी ओर कीड़ों से भी छोटे-छोटे आदमी छिछली चट्टानों पर छिपकलियों की तरह चिपके हुए हैं। बार-बार सुरंगो के फटने की आवाजें आ रही हैं।

सम्पर्क चारों ओर से टूट गया है। मैं द्वीप की तरह घिर गया हूं। कुछ सूझता नहीं कि क्या करूं? क्या न करूं? फिर भी कुर्सी पर लेट जाता हूं। दूरबीन बिस्तर पर पटककर आंखें मूंद लेता हूं। रात-भर नींद न आने से पलकें भारी हैं। तबीयत भारी है। किसी भी काम में मन नहीं लगता।

यों ही पड़े-पड़े एक झपकी आई ही थी कि फिर शोरगुल सुनाई देता हे—पास के मोड़ से किसी औरत के चीखने-चिल्लाने की आवाज!

अचकचाता हुआ जागता हूं। बिना वरसाती या छतरी लिए हडबड़ाता हुआ उस ओर लपकता हूं। पीछे-पीछे कुत्ता भौंकता हुआ दौड़ता है। किसी अप्रत्याशित दुर्घटना की सूचना पाकर श्रीमतीजी भी एकाएक भागने लगती हैं। पीछे-पीछे बच्चे और नौकर भी।

कुछ कदम चलने पर देखता हूं—काले, मैले-कुचैले चीथड़ों में लिपटी एक मज़दूरन अपने बच्चे को सीने से लगाए रो रही है। एक मजदूर उसे सोटी से तड़ातड़ पीट रहा है। गन्दी-गन्दी गालियां दे रहा है। सारे मजदूर खड़े हैं। जमादार, ओवरसियर, ठेकेदार सब तमाशा देख रहे हैं।

मेरे पहुंचते ही सब एकाएक सहमकर खड़े हो जाते हैं।

"क्या बात है?" पूछने पर किसी के गले से भी आवाज नहीं निकलती। ओवरसियर सिर खुजाता हुआ सामने आता है, "हुजूर, इस एक औरत के लिए सारी गैंग रुकी पड़ी है...।"

"यह आदमी कौन है? ऐसी बेरहमी से क्यों पीट रहा है?"

"इसका आदमी है, सरकार!"

"तमाशा क्या है यह सब?" कड़ककर पूछता हूं तो ओवरसियर का मुह निकल आता है। अपने सूखे होंठ चाटता हुआ कहता है, "गोदी में यह इसका बच्चा है सरकार! इसे अकेला छोड़कर यह काम पर जाना नहीं चाहती।"

"तो साथ क्यों नहीं ले जाती फिर?" बात काटता हुआ पूछता हूं।

"हुजूर, वहां ऊपर पहाड़ी पर से पत्थर लुढ़कते रहते हैं। एक बच्चा कुछ दिन पहले घायल हो गया था...।"

"कल तक क्या होता था?"

"साथ वाले की नन्ही बच्ची देखभाल कर देती थी। कल शाम वह अपने मामा के घर चली गई है।"

"तो काम पर न जाए?"

"काम पर नहीं जाएगी तो खाएगी क्या सरकार? यही तो इसका पति कह रहा है। पर यह अपने बच्चे को कलेजे से हटाकर जमीन पर नहीं रखना चाहती। कहती है—बच्चा यहां अकेला पड़ा रहेगा तो सांप खा जाएगा।"

सांप खा जाएगा।

तो क्या हो? असमंजस में डूबा मैं सोचता रहता हूं कि तभी श्रीमतीजी मेरे परेशान चेहरे की ओर देखती हुई कहती हैं—"बच्चे को हमारे कैम्प मे भेज दो!"

"हां-हां! ठीक कहती हो।" इस समाधान से सचमुच मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, "चपरासी दिन-भर खाली बैठा ऊंघता रहता है, वह देख लेगा। बीच में दूध पिलाने के लिए आ जाना।...जाओ! अब काम पर जाओ सब लोग। सड़क आज हर हालत में तैयार होनी है समझे!"

देखता हूं—उस औरत पर जैसे मेरी बात का रंचमात्र भी असर नहीं हुआ। वह उसी तरह निश्चल खड़ी है।

"अब क्या बात है?" इस बार सच ही मैं झुंझला उठता हूं।

औरत आंचल में मुंह छिपा लेती है, "सरकार, बच्चा बीमार है।"

"बीमार है? क्या बीमार है?"

"सूखे का जैसा पता नहीं क्या रोग लग गया है इसे!" वह रो पडती है। फटे आंचल में लिपटे बच्चे को मेरे पांव पर, यानी गीली धरती पर लिटा देती है। फिर झटके से मुंह फेरती हुई जोर से आंखें मूंद लेती है।

बच्चे को देखते ही मैं झट से पीछे हो जाता हूं—जैसे बिजली का करेण्ट छू गया हो! कुछ कहते बनता नहीं। बच्चे का हिलना-डुलना बंद है। सांस रुकी हुई है। आंखें मुंदी हैं। मुंह खुला है। नन्हे-नन्हे दूधिया दांत बाहर झाक रहे

हैं। जैसे हंस रहा हो!

मै कुछ भी कह नहीं पाता। रक्त जमने-सा लगता है मेरा। किसी तरह मैं उदास-मन डेरे की तरफ मुड़ता हूं। सुनता हूं—गैंग काम पर चली गई है वह औरत मरे हुए बच्चे को सीने से लगाए बावली-सी फिर रही है और अब पुल के सहारे खड़ी फूट-फूटकर रो रही है।

"क्या बात थी? बच्चा जिंदा नहीं था न?" श्रीमतीजी पूछती हैं।

"शायद।"

"क्या सांप ने डस लिया था?"

"हो सकता है...।"

कुछ सोचती हुई वह फिर पूछती हैं, "ज़हर ज्यादा था क्या? सांप ज़हरीला होगा!"

मैं चुप रहता हूं।

"कौन जाने गेहुआं या बेतिया हो! सुना है ऐसे सांप यहां होते हैं।" वह जेसे अपने को ही सुना रही हों!

मैं कहना चाहता हूं—सांप बेतिया ही ज़हरीला नहीं होता है। तुम नहीं जानतीं, उससे भी तेज ज़हर होता है आदमी का...। तुम नहीं समझ सकतीं यह सब।

पता नहीं, कब रात घिर आई है। अभी तक भी बारिश है। अभी तक भी मजदूर गैस जलाकर छिछली चट्टानों से चिपके हुए हैं। कुछ घर लौट आए हैं, कुछ घर लौट रहे हैं। लेकिन चारों ओर शोरगुल उसी तरह मच रहा है। हाहाकार मच रहा है। चीत्कार मच रहा है। झाड़ियों से सीटी की-सी आवाजें आ रही हैं। अंधेरे में काली-काली आंखें चमक रही हैं। फन हिल रहे हैं—सांप! सांप! जागो! जागो!

अंधेरी रात जैसे पागल हो गई है!

मैं आंखें मूंदकर, माथा दबाकर बैठ जाता हूं। न जाने कब तक बैठा रहता हू! तभी कोई बताता है कि मोर्चा फतह कर लिया है। रास्ता बन गया है। सड़क खुल गई है!

लेकिन मुझे यह सुनकर रंचमात्र भी खुशी नहीं होती, क्योंकि उससे पहले ही मैं सुन चुका हूं—'पुल बह गया है और रास्ता रुक गया है हमेशा-हमेशा के लिए।'

□

एक दिन

तेज हवा के बाद चीलों का झुण्ड काले बादलों की तह में एक गोल दाय में मंडराने लगा तो उसे लगा, हो न हो आज जरूर बारिश होगी।

पिछले महीने से डिपो में एक बहुत घने भूरे बालों वाली लम्बी लड़क आई है, जो पैसे चुकाते समय जान-बूझकर रोज उसकी अंगुलियां छू लेती है अंगुलियों के पोरों का गरम-गरम स्पर्श उसे बहुत अच्छा लगता है। अतः व प्रायः फुटकर पैसे सीमेण्ट की गीली पाटी पर रखने की बजाय उसके हाथो ही देना अधिक पसन्द करता है। और वह भी बिना गिने टॉफी के गीते डिब में ऊपर से पानी की धार की तरह गेरकर चुपचाप रख देती है, और कभी-कभ मुस्कराकर भी देख लेती है जब उसका मूड बहुत अच्छा होता है।

स्टोव में तेल और धूल ने मिलकर एक नये किस्म के काले, लिसलि वार्निश का रंग ले लिया है। वह रोज सोचता है—गरम पानी में कपड़े का फट टुकड़ा भिगोकर वह घण्टे-भर तक रगड़-रगड़कर इस बत्तियों वाले जग लगे टि के स्टोव का कायाकल्प कर देगा, पर पिछले दो साल से वह मुहूर्त अब तक तो आया नहीं।

और आज जब वह पतीली में चाय के लिए पानी रखकर स्टोव जला का इरादा कर ही रहा था कि उसे पता चला, दियासलाई की डिबिया कल रीती है, उसमें अब एक भी तीली शेष नहीं।

सामने वाले पड़ोसी से वह मांगना नहीं चाहता। पिछले मई से कॉमन बाथरूम को लेकर जो शीत-युद्ध शुरू हुआ था, वह अब तक चल रहा है। बाथरू के संघर्ष के अतिरिक्त उसके पड़ोसी (माधव मोहन्ती, जिसे आसपास के सब लोग मात्र 'मोहन्ती' के ही नाम से जानते हैं) को शक है कि वह उसकी एम

ए. में पढ़ने वाली जवान लड़की से ताक-झांक कर लेता है। इसलिए वह हर समय मुंह फुलाए रहता है, बोलता नहीं।

दरअसल सच बात तो यह है कि वह कभी कुछ नहीं करता। बस, कभी भूले-भटके से, दूर से देख-भर लेता है, केवल पड़ोसी होने के नाते। अधिकतर जब वह सुबह बाथरूम जाती है, नहाने के लिए, तो वह सामने वाली अपनी अधखुली खिड़की की दरार कुछ और बड़ी कर लेता है और टकटकी बांधे अबोध बच्चे की तरह ताकता रहता है। बाथरूम के दरवाजे के ऊपर बालिश्त-भर जगह छूटी है। उसके ऊपर पहले एक कमीज लटकती दीखती है। फिर सलवार। फिर ..।

कुछ ही क्षण बाद सहसा नल पूरा खुल जाता है और गुसलखाने से गुनगुनाने की टूटी आवाज पानी की आवाज में विलीन होकर एक विचित्र-से मोहक संगीत का स्वरूप ले लेती है। उसकी मुंदी पलकों के उस पार कहीं कोई चित्र-सा खिंच आता है।

धीरे-धीरे पानी का सीमेण्ट के पक्के फर्श पर छटपटाना, बाथरूम की दीवारों का अपने-आप गुनगुनाना और एक-एक कर टंगे हुए कपड़ों का गायब होना ..और फिर कुछ ही क्षणों में भीतर लगी चिटखनी के खटकने के कर्कश स्वर के साथ वह सचेत हो जाता है। अपने अध-पहने, अस्त-व्यस्त कपड़ों के साथ ढेर सारे निथरते बालों को समेटे सामने के बरामदे से लपककर वह सर्र-से अपने कमरे में गायब हो जाती है...तो एक नशा-सा छा जाता है।

गर्मियों की छुट्टियों में वह अपनी नानी के घर, भुवनेश्वर गई थी। उसे यह जाना अच्छा नहीं लगा था। बल्कि कहा जाय तो कुछ-कुछ गुस्सा ही आया था उसकी बुढ़िया नानी पर। सत्तर साल की उम्र के बाद भी वह विधवा अब मरती क्यों नहीं!

दो सौ सत्तर वाले नवानी के दरवाजे की ओर बढ़ता है वह। शायद उसका बहरा लड़का दीख जाए, जिसे कॉमन सीढ़ियों में सुबह-सुबह छह बजे नंगा होकर इधर-उधर गंदगी बिखेरने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं। पर वह भी आज कहीं दीखता नहीं। सीढ़ियां आज साफ हैं। कहीं भी बदबू नहीं। वह घड़ी की ओर देखता है। सात तो कब के बज गए! फिर सीढ़ियां अब तक क्यों गन्दी नहीं हुई।

दोनों हाथ में पानी का छलकता पतीला लिए नवानी की अधेड़ उम्र की काली मां सामने से गुजरती है। उसकी ओर अजीब-सी निगाहों से देखती है (जो उसे अच्छी नहीं लगती)।

लोग कहते हैं कि नवानी की मां की नवानी के बाप से अनबन है। पिछले सात साल से वह अपने पति के पास नहीं गई। नवानी का बाप किसी प्राइवेट फर्म में नौकरी करता है और अपने भानजे के साथ कहीं गांधीनगर की तरफ रहता है और होटल की रोटियां तोड़कर, अपनी जिन्दगी के शेष दिन बिता रहा है।

गर्मी के दिनों में जब लोग रात को बाहर सोते हैं, वह बेचारा बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। नवानी अपने बच्चों के साथ छत पर चला जाता है। नवानी की मां अपने दरवाजे के सामने खटिया सटाकर पसर जाती है। आधी रात तक उसे नींद नहीं आती। खुररी खटिया पर सोई, दुलत्ती झाड़ने की तरह पहले पाव बहुत दूर, ऊपर तक ले जाती है और फिर एकदम झटके के साथ नीचे छोड देती है और बार-बार अपने को मसलती हुई अकारण करवट पर करवट बदलती चली जाती है।

अपने दरवाजे के आगे गलियारे पर लगी उसकी खुद की चारपाई नवानी की मां की चारपाई से अधिक-से-अधिक चार या पांच गज की दूरी पर होगी। अपने बिस्तर पर मुर्दे की तरह लेटा वह अजीब-से इन हाव-भावों को पता नहीं कब तक देखता रहता है। हर वक्त उसे यही आशंका घेरे रखती है कि आवेश के किसी नाजुक क्षण में बुढ़िया से कुछ अनहोना न हो बैठे...और उसका प्रायश्चित उसे भोगना पड़े, जबकि उसका कोई कसूर नहीं। वह हर दृष्टि से निर्दोष है।

सुबह उसे अपना सिर भारी और आंखें लाल दीखती हैं।

छत मोहन्ती के बाप की ही नहीं, आधी उसकी अपनी भी है। पहली को वह भी किराया देता है। कितनी बार यह विचार उसके मन में आया है। किन्तु मोहन्ती अपनी पत्नी और पुत्री के अतिरिक्त आधा दर्जन बच्चों को लिए शाम को ही ऊपर चला जाता है। फर्श पर पानी छिड़ककर इस किनारे से उस किनारे तक सारे बिस्तरे बिखेर देता है। फिर कहीं इंच-भर भी जगह नहीं बचती। इस पर भी यदि वह इस भीड़ में घुस पड़ा तो उसे पक्का यकीन है कि मोहन्ती उससे कुछ भी कहने का साहस न जुटाकर, आधी रात के अंधियारे में ही आत्महत्या करने के लिए कुतुबमीनार की ओर भागता दिखाई देगा।

मोहन्ती के इस तरह के अन्त से वह सहमत नहीं हो पाता। अत. जान-बूझकर वह चुप रहता है और गलियारे पर पड़ा-पड़ा नारकीय यातनाएं सहता चला जाता है।

दूध की ठण्डी बोतल, 'बीयर' की तरह यों ही मुंह में उड़ेलकर वह गटक जाता है। बेंत की कुर्सी पर निढाल गिरकर बड़े दार्शनिकाना अन्दाज में सुबह

का ताजा 'पेपर' पढ़ने लगता है। सबसे पहले 'मैट्रिमोनियल' देखता है...पिछले सप्ताह की 'वीकली' में नवविवाहितों के पृष्ठ पर अरुणा आप्टे का भी चित्र था।

बाहर से आने वाली आवाज से उसकी तन्द्रा टूटती है। वह देखता है, सफाई वाली महिला, इतने सारे पड़ोसियों के जिन्दा होते हुए भी पानी गेरने का आग्रह उसी से कर रही है।...पिछली वाली भी एक अपने ही किस्म की थी। वह भी केवल उसी की खिड़की की ओट में खड़ी आवाज देती थी। उसका कद ही छोटा नहीं बल्कि इससे उम्र में भी कुछ कम होगी। पास-पड़ोस के लोगों की शिकायत थी कि वह सबसे अधिक समय सामने वाले ब्लाक में लगाती है। दोपहर को भी अकारण वहां जाती है।

लगभग आठ बजे वह शेव बनाना आरम्भ करता है। सामने सड़क की चहल-पहल अब तक काफी बढ़ जाती है। जब से इस क्षेत्र मे नया गर्ल्स कॉलेज खुला है, उसका ही नहीं सबका अनुमान है कि रौनक आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है।

दो-दो, तीन-तीन, चार-चार के झुण्ड में चहकती रंग-बिरंगी तितलियों को देखने का उसका नित्य का-सा नियम बन गया है। यह क्रम पूरे दिन के सारे कार्यक्रमों की अपेक्षा उसे सबसे अधिक अच्छा लगता है। सर्वत्र एक-सी उन्मुक्त हसी, हर किसी के खिले हुए चेहरे पर, जैसे फूलों के रंग-बिरगे गुलदस्ते सड़क पर हंसते हुए जा रहे हों!

होटल में जब से खाने, हाथ धोने और उठने-बैठने तक के लिए 'क्यू' सिस्टम का आविर्भाव हुआ है, उसने अपने ऑफिस की कैण्टीन को अधिक महत्व देना आरम्भ कर दिया है। यों सुबह भूख भी नहीं लगती और इसी भागमभाग मे ऑफिस को देर भी हो जाती है। और फिर कब्र में से निकलकर आया, बिना आंखों का, बिना हाथ और बिना पांवों का, बूढ़ा बॉस अपना सिर पटकता हुआ कुर्सी पर से उछलता है तो वह दृश्य देखने लायक होता है। उसे अच्छा नहीं लगता कि वह 'महाभारत' सप्ताह में एक-दो बार से अधिक चले। इसीलिए वह तुरन्त हथियार डालकर युद्ध-विराम की पहल करता है। बिना 'ताशकन्द-समझौते' के ही दोनों पांच अगस्त तक की स्थिति में अपने-आप आ जाते हैं।

बस की कतार और अजगर के आकार में उसे कहीं कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। वह बॉब-कट वाली लड़की कतार में खड़ी होने पर भी कतार से अलग दिखती है। पौने नौ के करीब स्लेटी रंग का एक वैस्पा खड़ा होता है और वह बड़े सहज ढंग से उसके पीछे बैठकर देखते-देखते ओझल हो जाती है।

उसे याद आता है, पहले दिल्ली परिवहन की बसों में महिलाओं के लिए

सीटें सुरक्षित नहीं रहती थीं। और एक समय ऐसा भी था, जब किसी-किसी बस में महिला कण्डक्टर भी हुआ करती थी। महिलाओं के लिए अलग से सीटें सुरक्षित रखना उसे आज की सभ्यता को एक चुनौती-सा लगता है।

वह महिला पुरुषों से एकदम सटकर खड़ी है। बस में भी महिलाओं वाली खाली सीट पर न बैठकर अलग बैठती है—पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर।

अब काफी अर्सा हो गया। पहले इसी रूट की बस से प्रायः दो पढ़ने वाली नाटे कद की लड़कियां जाया करती थीं। उसे याद आता है, वे उसकी ओर जब-तब जाने या अनजाने घूर-घूरकर देखा करती थीं। और फिर जान-बूझकर उसी की बगल में बैठती थीं। परन्तु उसने कभी भी उन्हें लिफ्ट नहीं दी, क्योंकि वे उससे उम्र में बहुत छोटी थीं...एकदम बच्ची-सी!

परन्तु उसका स्वप्नभंग उस दिन हुआ, जब उसी बस में एक गंजे अधेड़ आदमी की बगल में वे नियमित रूप से बैठने लगीं। उसे अच्छी तरह याद है, वह आदमी पहले कर्जन रोड के बैरकों वाले स्टैण्ड पर उतरा करता था। दो-तीन बार खुद उसने अपनी आंखों से देखा, वह मदरसे के ही स्टैण्ड पर उतरने लग गया है और उसके पीछे-पीछे दो में से एक लड़की भी।

उनमें से एक अब भी यदा-कदा दीख जाती है। अवस्था में ही नहीं, अब शरीर में भी सयानी लगती है। चेहरे में भी भारीपन और कुछ-कुछ परिपक्वता की रेखाएं दूर से ही झलक आती हैं। (उसे अचरज होता है, उसने अपनी आंखो के सामने ही कितनी-कितनी लड़कियों को देखते-देखते बूढ़ी होते देखा है!) पिछले शनिवार, उसने अपने दोनों हाथों में लाख की ढेर सारी लाल चूड़ियां डाल रखी थीं।...रंगीन साड़ी के अतिरिक्त माथे पर एक लाल डोरा-सा भी। वह अधेड़ आदमी अब कहीं भी दिखलाई नहीं देता। कहते हैं, मार्केट के सामने बिजली के खम्भे से टकराकर जिसकी घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई थी, वह व्यक्ति वही था। हाथ में टिफिन का पीला डिब्बा था, बस में कहीं रत्ती-भर भी स्थान न होने के कारण वह लटककर जा रहा था।

लिफ्ट की कतार में शर्मा ने उसे 'विश' किया। शर्मा का विश करने का भी अपना ही अन्दाज है। सबके सामने वह विश भी कर देता है और किसी अन्य को आभास तक नहीं हो पाता...। सरीन आज फिर सी. एस. के साथ स्कूटर पर आई है।...पटवर्धन कहता है, एव. कैमिस्ट से उसके सम्बन्ध इन दिनों आवश्यकता से अधिक अच्छे हो गए हैं। वह खुद अपने स्कूटर से छोड़ने और

ले जाने आता है। जिस दिन वह नहीं आ पाता, उस दिन किराये का कोई थ्री-व्हीलर कर देता है।

एक दिन सफदरजंग मोड़ से उसकी वस जब पृथ्वीराज रोड की तरफ मुड़ रही थी तो, उसने देखा, मोटरसाइकिल पर एक लाल आंखों और घनी मूंछों वाले भद्दे-से पुरुष के पीछे सरीन जैसी कोई बेठी है। वे लोग विपरीत दिशा में, यानी कि कुतुवमीनार की ओर, महरौली रोड से भागे जा रहे हैं। उसे अपनी आंखों पर सन्देह हुआ। पौने दस बजे के करीव ऑफिस जाने के बदले, अन्यत्र वह मरने के लिए कहां जाएगी! हाजिरी के रजिस्टर पर दस्तखत करके वह सीधा सरीन वाले हॉल में घुसा तो सचमुच उसकी सीट खाली थी। उसकी कोई अर्जी भी न थी और अब ग्यारह बज रहे थे।

पिछले साल बड़े दिन की छुट्टी तक सरीन जब-तब उसकी सीट पर आती थी। छोटे रैक के ऊपर रखी फाइलों के ऊपर ही बैठकर उससे तरह-तरह की बातें किया करती थी। यह सिलसिला जब कुछ दिनों नहीं, हफ्तों नहीं, बल्कि कुछ महीनों तक निरन्तर चलता रहा, तो कारण कुछ-कुछ वह समझ पाया। एक दिन अपनी विवशता व्यक्त करते हुए उसने कह ही दिया कि उसे अभी अपनी दो बहनों की शादी और करनी है, तब कहीं वह अपने विवाह की बात सोच सकता है। बहनें अब काफी सयानी हो गई हैं। अब अगर उनकी शादी नहीं हुई तो फिर कभी भी नहीं हो सकेगी।

उस दिन के बाद यद्यपि वह एक-दो बार फिर आई, बैठी, किन्तु फिर ऐसी बातें न हो सकीं, जो उन दोनों को इतनी अच्छी लगतीं कि वे परस्पर और करीब आ सकते।

नाटे कद की, गोरे रंग और गठे हुए शरीर की सरीन, जितनी लम्बाई में है, उतनी ही अब चौड़ाई में भी हो गई है। लोग कहते हैं, प्रतुल और राना, हर दूसरे, तीसरे दिन कनॉट-प्लेस में कहीं ले जाते थे और ऑफिस में ही कभी मौका मिलने पर छेड़खानी करने से नहीं चूकते थे। वे दोनों अब सरीन के साथ एक ही सेक्शन में काम करते थे। (यह बात अब की नहीं लगभग 1965 की है।)

'पण्डत' और 'सिरीचन्द' सर्राफ की भी इसी को लेकर कुछ कम भद्द नहीं उड़ी थी। और इसी बात पर एक दिन पण्डत की लड़की ने सबके सामने गिलास पर थूका ही नहीं, उसे फर्श पर पटककर तोड़ दिया था।

फाइलों की धूल झाड़ने और गंदगी हटाने के बाद वह थक जाता है। जंब बहुत अधिक 'बोर' हो जाता है तो उठकर दुबे की सीट पर चला जाता है और

उसके कन्धे पर आत्मीयता से हाथ मारता हुआ पूछता है कि उसका क्या हाल है।

दुबे की रोज-रोज एक ही शिकायत है कि वह अब तक दुबे है। चौबे और छब्बे बनने का अवसर उसे जीते-जी कभी भी मिल नहीं सकता, क्योंकि यहां करेप्शन है। एडमिनिस्ट्रेशन करेप्ट है। यूनियन वाले करेप्ट हैं। वह जाने या अनजाने इस नमक के सागर में गिर गया है और उसे स्वयं नमक बन जाने से अब कोई भी रोक नहीं सकता।

वह बातें दुबे की सुन रहा होता है, पर निगाहें उसकी सामने बैठी रेखी पर होती हैं। अंगुलियों पर गिन-गिनकर वह हिसाब लगाता है कि रेखी अब तक कुल कितनों की 'बिटिया' बन चुकी है।

समय के साथ-साथ उम्र की ही नहीं, रेखी की समझ का दायरा भी अब काफी बढ़ गया है। अब वह कभी-कभी हाई सोसाइटी में भी 'मूव' कर लेती है। मिनिस्ट्री के अफसरों तक की कम्पनी में वह रह चुकी है। परमानन्द ने सब-कुछ अपनी आंखों से देखा है।

रेखी लड़कों जैसी आवाज में बोलती है और पांव छितरे कर बड़े भद्दे ढग से चलती है...।

लोग कहते हैं, पिछले चन्द दिनों से वह सारे सेक्शन में एक विशेष चर्चा का विषय बन गई है। इसी एक बात की वजह से उसके सम्बन्ध में अच्छी-बुरी तरह-तरह की धारणाएं पनप चुकी हैं। कुछ यह मानते हैं कि वह अच्छी ही नहीं, बहुत अच्छी है, क्योंकि कभी किसी को निराश नहीं करती। किन्तु कुछ लोग इसे दूसरे अर्थ में लेते हैं। रेखी की यह उदारता उन्हें फूटी आंख भी नहीं सुहाती। रेखी की महिमा सुनकर उन्हें पाप ही नहीं, बुखार भी चढ़ने लगता है...।

पिछले महीने दूसरे शनिवार की छुट्टी के दिन रेखी के किसी एक मित्र ने उसे पिकनिक के लिए ओखला आमंत्रित किया।

रेखी सज-धजकर, नियत समय पर जब वहां पहुंची, तो उसे अपना मित्र अकेला नहीं, बल्कि दो अन्य अभिन्न मित्रों से घिरा हुआ मिला, जो सिगरेट का धुआं उगलते हुए जोर-जोर से गन्दी बातें कर रहे थे। रेखी इस स्थिति के लिए शायद तैयार न थी। बात तू-तू, मैं-मैं की ओर बढ़ने लगी। पर कहते हैं, किसी तरह अन्त में बीच-बचाव का कोई रास्ता निकल आया...।

स्मृति और तिस्ता दिन में कम-से-कम हज़ार बार फोन करती हैं...।

वह कैण्टीन की ओर बढ़ता है। वहां महिलाओं वाले केबिन से सात-आठ

लड़कियां चाय पीकर सीढ़ियों से शहजादियों की तरह उतरती हैं, पर एक भी शहजादी...।

चार सौ रुपये महीना वेतन पाने वाली महिला, महंगाई के इस जमाने में चार सौ रुपये की साड़ी कैसे पहन सकती है? एक दिन महिलाओं के बाथरूम के आगे से वह गुजर रहा था। दरवाजा पूरी तरह बन्द होना रह गया था। चलते-चलते उसने देखा, भीतर कूलर के पास जो टूटी टेबल पड़ी है, उस पर एक साथ दो महिलाएं लेटी आराम कर रही हैं...।

मन उचाट हो आता है उसका, कहीं भी मन लगता नहीं। घड़ी की सुई को भी लकवा मार गया है।

आर. आर. की दराज से वह 'क्लब' की कोई मैगजीन निकालता है। कोई सस्ती-सी फिल्मी मैगजीन। एक कोने में खाली मेज के पास कुर्सी खिसकाकर पढ़ने लगता है।

एक मोटी-सी अभिनेत्री के नग्न, अर्द्धनग्न चित्र देखकर उसे अपनी मोटी-सी, उस पिछली पड़ोसिन का खयाल आता है जो जंगपुरा में, उसके सामने वाले मकान में रहती थी। और जो कभी मौका मिलने पर, गर्म दूध का गिलास उसके कमरे में रख जाती थी। जो तीन बच्चों की मां थी और जिसके सिर के आधे बाल सफेद हो गए थे...।

न जाने कितने युगों बाद किसी तरह साढ़े पांच का समय होता है। वह बाथरूम में हाथ-मुंह धोकर, ताजा होकर, बाहर निकलता है।

बस की कतार में खड़ा होकर कुछ टटोलती निगाहों से इधर-उधर देखता है। जिस दिन बस की कतार में कोई लड़की नहीं दीखती, जिस दिन बस के भीतर महिलाओं की सीट पर भी भद्र पुरुष बैठे दीखते हैं, उस दिन वह अपने करमों को ही नहीं कोसता, बल्कि उस आदमी के बारे में भी सोचता है, जिसका मुंह उसने बिस्तरे से उठते समय पहले-पहल देखा था।

होटल की रूखी रोटियां चबाकर, मार्केट के व्यर्थ में दो-तीन चक्कर काटकर, सिगरेट का सुट्टा लगाता हुआ, रेल के कम्पार्टमेण्टनुमा कमरे में घुसता है, जिसका किराया प्रति मास एक सौ सत्तर रुपये से कम नहीं बैठता। उस पर 'अलाटी' का रोब अलग...।

घर से आया ताजा पोस्टकार्ड वह बार-बार उलट-पलटकर देखता है, जिसमें उसकी बूढ़ी विधवा मां ने लिखवाया है कि तीन महीने से उसने कोई भी पत्र क्यों नहीं भेजा? वह रोज डाकिये की प्रतीक्षा करती है...।

वह निश्चय करता है (हमेशा की तरह) इसका उत्तर सुबह उठते ही लिख

देगा कि उसे इन दिनों काम बहुत अधिक रहता है। अतः पत्र भेजने तक का भी समय नही निकल पाता...वह बहुत अच्छी तरह जानता हे कि वह सुबह, जब वह कोई पत्र भेजता है, या कोई पुराना पेंडिग काम करता है, वहुत लम्बे अर्से के बाद ही कभी आ पाती है।

रोशनी गुल करने पर भी उसे नींद नही आती। वह कितने मित्रो से कह चुका हे कि उसे नींद न आने की बीमारी हो गई है, पर कोई सच नहीं मानता। सब कहते हे, यह कोई नई बात नहीं। हर अकेले आदमी के साथ अव तक ससार मे ऐसा ही होता आया है।

करवट पर करवट बदलने मे न जाने कितनी रात वीत जाती हे' जब कुछ नहीं सूझता तो वह झल्लाता हुआ चादर दूर फेक देता है ओर बिना स्विच ऑन किए अंधियारे में ही दीवारों से सिर टकराता हुआ बाथरूम की ओर आखे मूदे निकल पड़ता है।

न जाने कब तक नल के तड़तड़ाने की आवाज आती है।

लौटने पर उसे कुछ हल्कापन-सा महसूस होता है। फिर उसे पता नही चलता, कब वह विस्तरे में घुसता हे और कब उसे नींद आती हे।

